उपनिषदों में संन्यासयोग-समीक्षात्मक अध्ययन

ईश्वर भारद्वाज

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

ग्रन्थ परिचय

आध्यात्मिक ग्रन्थों में उपनिषदों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्हें ज्ञानराशि कहा गया है। यही परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हेतु मार्गदर्शन करती हैं। योग भी एक मार्ग है।

योग की विभिन्न विधियों का वर्णन उपनिषदों में प्राप्त होता है जैसे—भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, राजयोग आदि। किन्तु संन्यासयोग जैसी महत्त्वपूर्ण विधि की उपेक्षा ही हुई है। इस ग्रन्थ में संन्यासयोग का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

संन्यासयोग क्या है? इस विषय में ग्रन्थकार ने शास्त्र-सम्मत मत प्रतिपादित किया है कि कर्म करते हुए, भोग भोगते हुए और जीवन को भरपूर जीते हुए किसी प्रकार की एषणाओं से आवद्ध न होना ही संन्यासयोग है। इसमें वर्णाश्रम बाधक नहीं हैं। हाँ, वैराग्य और अभ्यास आवश्यक हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में संन्यासयोग के अधिकारी-अनधिकारी, दीक्षाविधि, कर्तव्याकर्तव्य, भावना, भेद-प्रभेद, उपादेयता तथा संन्यासयोग की सिद्धि के उपायों की औपनिषदिक परि-प्रेक्ष्य में समीक्षा की गई है।

आज संन्यास तथा योग—दोनों पर प्रश्नचिह्न लगाए जा रहे हैं। ऐसी परिस्थितियों में डॉ० ईश्वर भारद्वाज द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थ संन्यास एवं योग के विषय में उत्पन्न भ्रान्तियों का निराकरण करेगा तथा योगधारा में अवगाहन के इच्छुक साधकों को उचित मार्गदर्शन प्रदान करेगा।

ISBN 81-7054-167-0

Rs. 250.00

उपनिषदों में संन्यासयोग
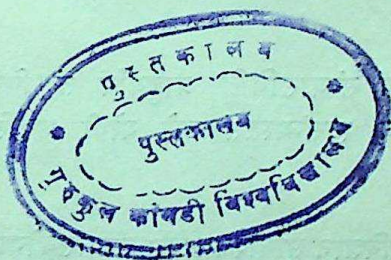
(समीक्षात्मक अध्ययन)

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥
गीता—6/2

वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥
मुण्डकोपनिषद्—3/1/6

उपनिषदों में संन्यासयोग

[समीक्षात्मक अध्ययन]
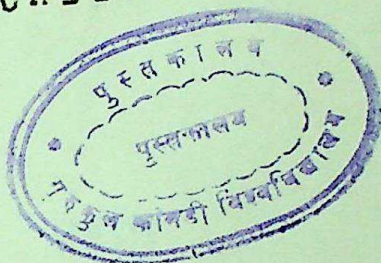
डा० ईश्वर भारद्वाज

अध्यक्ष, योग विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार, उ० प्र०—249404

क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी
नई दिल्ली

यू० जी० सी० प्रकाशन योजना के अन्तर्गत गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त वित्तीय सहायता से प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1994

प्रकाशक :

बी० के० तनेजा
क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी
28 शॉपिंग सेन्टर, करमपुरा,
नई दिल्ली-110015

मूल्य : 250.00

मुद्रक :

प्रम प्रिंटर्स द्वारा गौतम आर्ट प्रेस,
शाहदरा, दिल्ली-110032

समर्पण

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ।।
—मनु०—6/45

उक्त कथन को अपने जीवन में धारण करके जिन्होंने समाज
के कल्याण में एक-एक क्षण को होम दिया है ।
ऐसे संन्यासयोगी परमश्रद्धेय गुरुवर **स्वामी**
ओमानन्द सरस्वती जी के चरण-कमलों
में सादर सर्मपित—

—डा० ईश्वर भारद्वाज

आत्म-निवेदन

यद्यपि प्रभुभक्ति एवं सांसारिकता के प्रति औदासीन्य की भावना मुझे पारिवारिक संस्कारों से ही प्राप्त हुई थी किन्तु जब से गुरुकुल में आगमन हुआ, यह और भी अधिक दृढ़ होती गई। यहीं रहकर योगाभ्यास में रुचि हुई जो शनैः-शनैः दर्शनशास्त्र में बद्धमूल हो गई। साहित्य जैसे सरस विषय को छोड़कर दार्शनिक समस्याओं में आनन्द आने लगा। जब एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की तो दर्शनशास्त्र में ही शोध करने का विचार दृढ़ हुआ।

गीता का अध्ययन करते समय मेरा मन भगवान् कृष्ण के इस वाक्य पर आकर सोचने को विवश हुआ :

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव।
न ह्यसंन्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन॥

अर्थात् जिसे अन्य लोग संन्यास कहते हैं, वह वस्तुतः कर्मत्याग नहीं है अपितु वह तो एक योग है। वस्तुतः वाक्य विचारणीय था। संन्यास तो सर्वकर्मपरित्याग को कहते हैं, जबकि योग में कर्मपरित्याग नहीं है। योग तो कर्म-कौशल है। अतः संन्यासयोग को शोध का विषय बनाने का विचार किया।

गीता के विषय में कहा जाता है :

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
वत्सोऽर्जुनः सुधीर्भोक्ता दुग्धंगीतामृतं महत्॥

अतः हमने विचार किया कि गीतामृत का मूल उपनिषद है तो उपनिषदों में ही संन्यासयोग का उत्स खोजना चाहिए। इस सम्बन्ध में डा० जयदेव वेदालंकार जी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग तथा डा० विजयपाल शास्त्री जी ने रीडर दर्शनशास्त्र विभाग से विचार-विमर्श किया। तदुपरान्त शोध हेतु उक्त विषय लेना सुनिश्चित हुआ।

विभिन्न उपनिषदों का आलोडन-विलोडन करने के पश्चात् उपनिषदों में निहित संन्यासयोग के विषय में अनेक तथ्य प्राप्त हुए। 'वेदान्त विज्ञान

सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः', 'परीक्ष्यलोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन', 'तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ताविद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्त', 'प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञान संन्यासलक्षणम्' आदि वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि संन्यासयोग से श्रेष्ठ निःश्रेयस का अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः इस शोध-प्रबंध में संन्यासयोग के स्वरूप, अधिकारी-अनधिकारी, दीक्षा, कर्तव्याकर्तव्य, भावना, भेद-प्रभेद, सिद्धि के उपाय एवं उपादेयता आदि के विवेचन का उपक्रम किया गया है।

सर्वप्रथम मैं परमपिता परमात्मा को धन्यवाद अर्पित करता हूँ, जिनकी असीम अनुकम्पा से यह कार्य निर्विघ्न पूर्ण हुआ है।

मेरे गुरुदेव डा० जयदेव वेदालंकार जी, प्रोफेसर दर्शनशास्त्र विभाग व डीन प्राच्य विद्या संकाय इस शोध-प्रबंध के निर्देशक हैं। जब-जब मैं किसी भी दार्शनिक समस्या को लेकर उनके सम्मुख उपस्थित हुआ तो उन्होंने सहज प्रतिभा से तत्क्षण उसका समाधान करके मेरा मार्ग प्रशस्त किया। इस कार्य में यदि उनका पुत्रवत् स्नेह न मिला होता तो निश्चित रूप से यह शोध-प्रबन्ध अभी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाता। अतः उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि आजीवन उनका ऋणी रहूँगा।

श्रद्धेय गुरुवर डा० विजयपाल शास्त्री जी ने मुझे मूल उपनिषदों का अध्यापन कराया तथा संन्यासयोग की सैद्धान्तिक समस्याओं के विषय में आवश्यकतानुसार दिशा-निर्देश किया। उनका सहयोग पाकर ही शोध-प्रबन्ध का इस रूप में प्रस्तुतीकरण सम्भव हो सका है। अतः उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करके स्वयं को धन्य समझता हूँ। विभागीय प्राध्यापकगण डा० त्रिलोकचन्द्र जी तथा डा० उमरावसिंह बिष्ट जी के सहयोग के लिए उनका धन्यवाद करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

श्रद्धेय डा० विष्णुदत्त राकेश डी० लिट्० ने ग्रन्थ की भूमिका लिखकर महती कृपा की है। उन्होंने ग्रन्थ का आद्योपान्त पारायण किया तथा अपनी सम्मति दी। उनका सदैव मुझ पर वरदहस्त रहा है। उनके प्रति आभार व्यक्त करना औपचारिकता होगी। अतः उनके प्रति नतमस्तक होकर कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के मान्य कुलपति डा० धर्मपाल जी व कुलसचिव डा० जयदेव वेदालंकार का मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने यू० जी० सी० प्रकाशन योजना के अन्तर्गत वित्तीय सहायता प्रदान कर प्रकाशनार्थ उत्साहित किया।

वेद, संस्कृत व हिन्दी के विद्वान् गुरुजनों ने भी यथासमय अपना सहयोग प्रदान किया। पुस्तकालयाध्यक्ष डा० जगदीश विद्यालंकार एवं उनके कर्मचारियों

द्वारा पुस्तकें उपलब्ध कराई गईं। अतः उनका आभार प्रकट करना मेरा कर्तव्य है।

क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी के प्रबन्धक श्री बी० के० तनेजा तथा उनके सहयोगी श्री आर० डी० पाण्डेय ने जिस तत्परता एवं लगन से ग्रन्थ-प्रकाशन में रुचि दिखाई, वे निस्सन्देह धन्यवाद के पात्र हैं। उनके प्रयास के बिना यह ग्रन्थ प्रकाश में न आ पाता।

सावधानी रखते हुए भी त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक है। उनके लिए स्वयं को दोषी मानते हुए क्षमायाचना करता हूँ :

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

विदुषां वशंवद

मकर संक्रान्ति
14 जनवरी, 1994

—डा० ईश्वर भारद्वाज

भूमिका

संन्यास मनुष्य की जीवनयात्रा का अन्तिम उत्कृष्ट पड़ाव है। स्व की समग्र भूमि से उठकर प्राणिमात्र की सेवा के लिए समर्पित हो जाना इसका प्रमुख लक्ष्य है। समस्त सामाजिक, पारिवारिक और वैयक्तिक सीमाओं से मुक्त होकर, अनृण होकर विश्वनागरिक बनने की स्थिति का नाम संन्यास है। इसीलिए इस दशा में पहुँचा व्यक्ति समस्त विधि-निषेधों से ऊपर हो जाता है। उसके लिए कोई दायित्व शेष नहीं रह जाता, शास्त्रीय शब्दों में कहें तो वह निरग्नि हो जाता है। निरग्नि हुआ तो फिर अनिकेत हुआ, अनिकेत हुआ तो देश की सीमाओं से उठा, देश की सीमाएँ छोड़ीं तो विश्व का नागरिक बना, उस आध्यात्मिक विश्व का जहाँ मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी, कीट-पतंग को भी समान रूप से जीवित रहने और फलने-फूलने का अधिकार है। इस उदात्त मनःस्थिति की प्रशंसा विश्वात्मा भगवान ने भी की है। श्री कृष्ण उद्धव को उपदेश करते हुए कहते हैं कि जब व्यक्ति संन्यास लेने लगता है, तब देवता लोग स्त्री-पुत्रादि, बंधु-बांधवों का रूप धारण करके उसके संन्यास-ग्रहण में विघ्न डालते हैं तथा सोचने लगते हैं कि अरे, यह तो हम लोगों की अवहेलना कर, हम लोगों को लाँघ कर परमात्मा को प्राप्त होने जा रहा है।

विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादि रूपिणः
विघ्नान् कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात् परम्।

संन्यास मन और आचरण की परम उदात्तता का आश्रम है। वह चाहे तो कमण्डलु, दण्ड, चीवर आदि बाह्य चिह्नों को धारण करे और चाहे तो उनके चिह्नों को छोड़कर वेद-शास्त्र के विधि-निषेधों से परे होकर स्वच्छन्द विचरे :

सलिंगानाश्रमांस्त्यक्तवा चरेदविधिगोचरः।

संन्यासी का मुख्य धर्म है शान्ति और अहिंसा :

भिक्षोधर्मः शमोऽहिंसा।

'विश्वनागरिक' होने के लिए इन दोनों गुणों का होना परमावश्यक है। संन्यास क्रम से भी लिया जा सकता है, अर्थात्, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और फिर संन्यास अथवा ब्रह्मचर्य या गृहस्थ से सीधा संन्यास। इसके विपरीत जिस आश्रम और जिस स्थिति-अवस्था में प्रबल वैराग्य उत्पन्न हो जाए उसी में संन्यास ले लेने का भी विधान है :

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद्वा गृहाद्वा।

ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष जन-कल्याण की कामना करते हुए अटनशील हो जाते हैं, इसी से उन्हें परिव्राजक कहा जाता है। श्रुति का कथन है :

भद्रमिच्छन्तऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे

संन्यासी सबकी भद्र कामना करता है, सुख-समृद्धि चाहता है तथा स्वयं तप की दीक्षा प्राप्त करता है। यहाँ तप का अर्थ है समस्त कामनाओं और उनके हेतुक काम्य कर्मों का त्याग तथा ब्रह्म चिन्तन और वेदानुसंधान। 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' में तप का अर्थ स्वाध्यायशीलता तथा ब्रह्मानुसन्धान के साथ विधि-कैंकर्य का परित्याग भी है। मुण्डकोपनिषद् में 'वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यास-योगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' इसीलिए कहा गया है। आचार्य शंकर कर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा से प्राप्त निःश्रेयस् की साधना को ही सर्वोपरि लक्ष्य मानते हैं :

'संन्यासपूर्वकादात्मज्ञाननिष्ठारूपाद् धर्माद् भवति।'

उनका यह भी मानना है कि संन्यास प्राप्ति की एक अनिवार्य अर्हता है, ब्राह्मणवृत्ति की दृढ़ता। मुण्डक और नारद परिव्राजकोपनिषद् उनके कथन का समर्थन करते हैं। ब्राह्मणत्व एक संस्कार है, उदात्ततम मानसिकता है, उसके अभाव में संन्यास ढोंग के समान है। अतः आचार्यपाद 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्', 'ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' जैसी श्रुतियाँ उद्धृत करते चलते हैं। ब्राह्मण इसी विराट् विचारधारा और मानसिकता का उपलक्षण है और इसीलिए संन्यासयोग को अति दुर्गम माना गया है। उसका आचरण और क्रियाकलाप तो महद् उद्देश्य को प्रकट करता हो पर चाहे उसके पास संन्यास का चिह्न हो या न हो, वह संन्यासी है क्योंकि आत्मानुसंधान और लोकहित ही उसका लक्ष्य होना चाहिए। नारद जी ने युधिष्ठिर को यतिधर्म का उपदेश करते हुए कहा था :

अव्यक्त लिंगो व्यक्तार्थो, मनीषीप्युन्मत्त बालवत्।

इस कथन से स्पष्ट है कि निष्क्रियता का नाम संन्यास नहीं है अपितु निष्काम कर्म सम्पादन का पूरा अवकाश यहीं मिलता है। अतः संन्यास भार नहीं, बैठे-

निठल्लों की संस्था नहीं, जैसा कि आज समझ लिया गया है अपितु यह तो उन विश्वात्म दृष्टि सम्पन्न मनीषियों या त्यागियों की संस्था है जो प्राणिमात्र की सेवा और कल्याण के लिए सब प्रकार की असमानताओं को तोड़कर ब्रह्मवृत्ति के एक-सूत्र में प्राणिसूत्र को बाँधने का उपदेश देते हैं। कर्तापन से मुक्ति के लिए बालवत् आचरण करते हैं और प्रतिदान की भावना से मुक्त रहने के लिए उन्मत्त जैसा व्यवहार करते हैं। कर्तापन और भोक्तापन का सर्वथा अभाव उनमें दृष्टिगोचर होता है। वैदिकसाहित्य, पुराणसाहित्य तथा संतसाहित्य में संन्यास को चतुर्थाश्रम मानकर सर्वोपरि स्थान दिया गया है। संन्यासोपनिषद्, नारदपरिव्राजकोपनिषद्, परमहंसपरिव्राजक उपनिषद्, सिद्धान्तलेश संग्रह, मुण्डक, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, बृहज्जाबालोपनिषद्, परमहंसोपनिषद्, भिक्षु उपनिषद्, शिवपुराण, भागवतपुराण, महाभारत तथा धर्मशास्त्रों में संन्यास की विधि, स्वरूप, चिह्न, चर्या तथा महत्ता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

उपनिषदों और पुराणों की सामग्री के आलोक में संन्यासयोग पर अभी तक कोई शोध स्तरीय ग्रन्थ नहीं लिखा गया। अतः उपलब्ध सामग्री का परीक्षण और व्यवस्थित सम्प्रेषण नहीं हो सका। प्रसन्नता का विषय है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के योग-प्राध्यापक डा० ईश्वर भारद्वाज ने 'उपनिषदों में संन्यास-योग' नाम से शोध सवलित ग्रन्थ लिखकर इस अभाव की सुन्दर और प्रामाणिक पूर्ति की है। संन्यासयोग का स्वरूप, संवर्तक आदि संन्यासियों की परम्परा, संन्यास-अधिकार निर्णय, दीक्षा-विधि, संन्यासी के कर्त्तव्याकर्त्तव्य, संन्यास चिह्न, भावना निर्णय, संन्यास-भेद, उपादेयता तथा संन्यासयोग की सिद्धि के उपायों का जैसा तात्त्विक, व्यवस्थित और प्रामाणिक विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। सर्वकर्म परित्याग पर आचार्य शंकर, सुरेश्वराचार्य तथा प्रमुख वैष्णवाचार्यों के मतों का विवेचन संक्षेप में किन्तु बहुत सुन्दर ढंग से किया गया है। डा० भारद्वाज ने विवेचन में अपने आपको मताग्रह से बचाया है और एक सच्चे शोधार्थी की तरह विषय का अनाविल और तटस्थ प्रतिपादन किया है। आचार्यशंकर, विवेकानन्द, अरविन्द तथा दयानन्द जैसे योगी-संन्यासियों के विचारों को यथास्थान उद्धृत करते हुए उन्होंने भारतीय मनीषा की कीर्ति-पताका को आधुनिक चिन्तन के शिखर पर सफलता के साथ गाड़ दिया है। मुझे इस ग्रंथ को पढ़कर प्रसन्नता हुई। मैं इस उत्तम रचना के लिए उन्हें साधुवाद देता हूँ। आज के युग में जब ब्राह्मण भी निर्वेदच्युत हो रहे हों, संन्यास को छद्म का आवरण समझा जा रहा हो तथा भोग-लिप्सा की आपाधापी में वर्णाश्रम व्यवस्था पर प्रश्नसूचक चिह्न लगाया जा रहा हो तब संन्यासयोग की चर्चा करना निःसंदेह एक उदात्त मानसिकता की देन कहा जा सकता है। डा० भारद्वाज की ब्राह्मणवृत्ति ही इस सत्कार्य में मूल कारण बनी, ऐसा मेरा विश्वास है। क्योंकि

श्रुति कहती है—नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। वह गृहस्थ होते हुए भी गार्हस्थ्य रूप प्रमाद से मुक्त हैं—न च प्रमादात्तपसोवाप्य लिंगात्।

आशा है, संन्यासयोग का परिचय प्राप्त करने वालों का यह ग्रंथ समुचित मार्गदर्शन करेगा तथा डा० भारद्वाज इस क्षेत्र में आगे भी अनवरत अध्ययन-अनुसन्धान का कार्य करते रहेंगे।

शुभकामनाओं के साथ—

—**डा० विष्णुदत्त राकेश**
डीन, मानविकी संकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार, उ० प्र०

विषयानुक्रमणिका

1

विषय प्रवेश

उपनिषदें चिरन्तन ऋषियों की महामेधा से प्रसूत ज्ञान की वह दिव्य राशि हैं, जो काल से अनवच्छिन्न हैं। काल की पुराणता जिसे जीर्ण नहीं कर सकती। अन्य वस्तुओं को काल परिवर्तित कर सकता है किन्तु उपनिषदों में जो सिद्धान्त ऋषियों ने प्रतिपादित किए हैं, उनमें परिवर्तन नहीं हो सकता। वे सिद्धान्त सार्वभौम, सार्वकालिक और सर्वजनहितकारी हैं। अध्यात्म-विद्या केवल साधारण ज्ञान नहीं है, बल्कि एक महाविज्ञान है, मानव मस्तिष्क की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

उपनिषद् शब्द का निर्वचन

उपनिषद् शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु में 'क्विप्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। 'सद्' धातु विशरण, गति और अवसादन—इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है—'षदलृ (सद्) विशरणगत्यव-सादनेषु'।

आचार्य शंकर ने इन तीन अर्थों में उपनिषद् शब्द का निर्वचन अपने कठोपनिषद् भाष्य में किया है। विशरण का अर्थ है—विनाश करना। ये उपनिषदें अविद्यादि संसार बीज का विनाश करती हैं, इसलिए उपनिषदें कही जाती हैं। उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या परब्रह्म का गरम (प्राप्ति) कराती है, इसलिए उपनिषद् नाम सार्थक होता है। ये उपनिषदें मनुष्य के गर्भवास, जन्म, जरा आदि उपद्रवों का अवसादन अर्थात् समाप्ति करती हैं, इसलिए उपनिषद् कहलाती हैं।[1] इस प्रकार उपनिषद् शब्द का अर्थ मुख्य वृत्ति से ग्रहण करते पर ब्रह्मविद्या है।

गौण वृत्ति से अर्थ करने पर ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थों को भी उपनिषद् कहा जाता है।

उपनिषद् शब्द का अर्थ रहस्य भी है।[2] यह अर्थ अमरकोषकार को मान्य है। इसलिए उपनिषदों में 'इत्युपनिषद्', 'इति रहस्यम्' आदि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। उपनिषद् शब्द से यह ध्वनित होता है कि यह एक गोपनीय विद्या है, जिसका प्रवचन अनधिकारी को नहीं करना चाहिए। राग-द्वेष विवर्जित, सत्यनिष्ठ, असूया-रहित, जितेन्द्रिय और गुरु के पास स्वेच्छा से आए हुए शिष्य को ही इसका प्रवचन करना चाहिए।

यास्क ने आलंकारिक भाषा में विद्या के मुख से उसकी अभिलाषा इस प्रकार व्यक्त की है—एक बार विद्या ब्राह्मण के पास गई और बोली कि मेरी रक्षा करो। मैं तेरी निधि हूँ। तू मुझे असूयक, अनृजु तथा असंयत इन्द्रियों वाले पुरुष को मत दे। इससे मैं वीर्यवती बन जाऊँगी और तेरी भी प्रतिष्ठा बढ़ेगी।[3]

उपनिषदों की परिगणना प्रस्थानत्रयी में की जाती है।[4] उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और गीता—ये तीन महान् ग्रन्थ प्रस्थान कहलाते हैं। उपनिषद् श्रुति-प्रस्थान है, ब्रह्मसूत्र तर्क प्रस्थान है व गीता स्मृति प्रस्थान है। वस्तुत: ये तीनों ग्रन्थ ब्रह्मविद्या के ही अंग हैं। इसमें ब्रह्मविद्या प्रकृष्ट रूप में स्थित है, अत: प्रस्थान कहलाते हैं।

उपनिषदों को वेदान्त नाम से भी कहा जाता है।[5] वस्तुत: उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का पारिभाषिक नाम वेदान्त है अर्थात् उपनिषदें उद्गमक और वेदान्त उद्गत हैं। किन्तु उद्गमक और उद्गत में घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण दोनों को समान अर्थ में प्रयुक्त कर दिया जाता है। जैसे 'चरक' आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य का नाम है किन्तु उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ को भी 'चरक' कहा जाता है।

उपनिषदों को वेदान्त नाम प्रदान करने में आचार्यों का एक विशेष प्रयोजन था। वेदान्त ज्ञान की चरम सीमा को कहते हैं। क्योंकि यह विद्या परब्रह्म का ज्ञान कराकर आनन्दात्मक मोक्ष प्रदान करती है।[6] 'सा विद्या या विमुक्तये' विद्या की इस परिभाषा का भी यही रहस्य है।

वेदान्त वह ज्ञान है जिसके आगे और कोई ज्ञान नहीं हो सकता। वेदों में अमित ज्ञानराशि है तो उपनिषदों में ज्ञान की प्रकृष्ट सीमा है। अन्य शास्त्र वेदान्त के समक्ष उसी प्रकार निस्तेज हो जाते हैं जिस प्रकार अरण्य में सिंह की घोर गर्जना के समक्ष जम्बुकों का स्वर पीका पड़ जाता है।[7]

'अन्त' शब्द के अनेक अर्थ हैं। जैसे प्रान्त, निकट, नाश और स्वरूप।[8] इसमें अन्त शब्द का अर्थ 'स्वरूप' ग्रहण करके वेदान्त शब्द का निर्वचन इस प्रकार होता है—ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप जिस शास्त्र में वर्णित है, वह शास्त्र

वेदान्त कहलाता है।

इस निर्वचन के अनुसार यह बात सिद्ध होती है कि यह शास्त्र विकास, परिपूर्णता और मुक्ति का साधन है। एकाग्रता अनधिकृत चेष्टा और परतन्त्रता की दिव्य औषधि है। आधुनिक वैज्ञानिक विज्ञान का विश्लेषण करके त्वरित गति विमानों पर आरूढ़ होकर अन्तरिक्ष की ऊँचाइयों को भले ही छू लें किन्तु वे ब्रह्म की परिपूर्णता तक पहुँचने में कदापि समर्थ नहीं हो सकते। यह गौरव तो उपनिषदों के आविष्कर्ता भारतीय महर्षियों को ही प्राप्त था।

उपनिषदों की संख्या

उपनिषदों की संख्या के विषय में मतक्य नहीं है। किसी विद्वान् को 200 उपनिषद्[9] मान्य हैं तो किसी को 108 ही।[10] उपनिषद् संग्रह में 188 उपनिषदों को संग्रहीत किया गया है।[11] मुक्तिकोपनिषद् में भी 108 उपनिषदों के नाम गिनाए गए हैं।[12] अडयार लाइब्रेरी मद्रास के संग्रह में 108 के अतिरिक्त 71 उपनिषदों को और जोड़कर संख्या 179 कर दी गई है[13] तथा इनके अतिरिक्त अन्य कुछ अप्रकाशित भी माने जाते हैं।[14] बिलबलकर और रानाडे ने दो-तीन सौ के मध्य इनकी संख्या बताई है।[15]

यद्यपि उपनिषदों की संख्या के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है तथापि यह तो स्वीकरणीय है कि 'उपनिषद्' नाम से अनेक रचनाएँ प्राप्त होती हैं। उनमें से तो कुछ महत्वहीन कही जा सकती हैं।[16] किन्तु अधिकांश में तत्व ज्ञान का ही प्रतिपादन किया गया है। इससे उपनिषदों की महत्ता ही लक्षित होती है। इसी महत्व के कारण परवर्ती काल के विद्वानों ने अपने मत के प्रतिपादन हेतु कोई रचना करके उसे उपनिषद् नाम से प्रकाशित कर दिया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। यही नहीं वेद-विरुद्ध मतानुयायियों ने भी अपने मत का उत्स उपनिषदों से ही प्रदर्शित कर दिया।[17]

उपनिषदों की विषय वस्तु

उपनिषदों की विषय वस्तु मुख्य रूप से तो आध्यात्मिक एवं दार्शनिक है किन्तु इसमें नीति, व्यवहार और सांसारिक कर्तव्यों की उपेक्षा नहीं की गई है। जो बात महाभारत के विषय में कही जाती है कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्कवचित्' अर्थात् जो इसमें है, उसी का विस्तार बाहर है और जो इसमें नहीं कहा गया, वह कहीं नहीं कहा गया। यही बात उपनिषदों के विषय में भी कही जा

सकती है। उपनिषद् तपः पूत, ऋषियों के अन्तःकरण से निःसृत लौकिक व दिव्य ज्ञान की राशि हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में जितना भी तथ्य है, वह सभी यहाँ एकत्र मिल जाता है। व्यावहारिक व सांसारिक जीवन को भी सुखद व उत्तम बनाने के लिए विपुल ज्ञानराशि का समावेश उपनिषदों में प्राप्त होता है। यहाँ संक्षेप में उपनिषदों में वर्णित विषय वस्तु का उल्लेख करना समीचीन होगा।

1. तत्व-मीमांसा

दर्शनशास्त्र के तीन स्तम्भ कहे गए हैं—तत्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा और आचार मीमांसा। इनमें तत्व मीमांसा प्रधान स्तम्भ है। संसार में जो भी कुछ दृश्य व अदृश्य तत्व समुदाय हैं, उन सबका संकलन उपनिषदों में मिलता है। न्यायदर्शन के षोडश तत्व, सांख्यों के 25 तत्व तथा मीमांसकों के आठ पदार्थ सभी यहाँ पर मिलते हैं। प्रायः प्रत्येक दार्शनिक ने अपने तत्व-मीमांसीय सिद्धान्तों का ग्रहण उपनिषदों से ही किया है। यस ग्रहीताओं की बुद्धि का कौशल है कि वे इसमें से क्या ग्रहण करते हैं। आचार्य शंकर ने 'एकोदेवः सर्व भूतेषु गूढ़ः'।[18] को आधार मानकर अद्वैतवाद के दर्शन किए। आचार्य रामानुज, निम्बार्क मध्व आदि वैष्णव दार्शनिकों ने 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा'[19] इस वाक्य का आश्रय लेकर उपनिषदों को द्वैतवादी सिद्ध किया तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उन्हें त्रैतवादपरक प्रतिपादित किया।[20] इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त दार्शनिकों ने अपनी तत्व मीमांसीय सामग्री का उपनिषदों से ही ग्रहण किया है।

2. ज्ञान मीमांसा

दर्शनजगत् में ज्ञान मीमांसा व प्रमाण मीमांसा एक ही वस्तु मानी जाती है। जब ज्ञान में करणार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय लगाया जाता है तो ज्ञान का अर्थ ज्ञानसाधन प्रमाण हो जाता है तथा जब स्वार्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय लगाया जाता है तो ज्ञान का अर्थ 'जानने योग्य परम तत्व' लिया जाता है जो कि परमात्मा का स्वरूप है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' में ज्ञान का दूसरा अर्थ भी अभिप्रेत है।

दर्शनों में प्रमाणों की संख्या एक से प्रारम्भ करके दस तक जा पहुँची है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिहय, युक्ति और चेष्टा इन सभी को प्रमाण कहा जाता है। उपनिषदों में इन सभी का यथास्थान वर्णन प्राप्त होता है। मुख्य रूप से उपनिषदों में आगम प्रमाण को ही अधिक महत्व दिया गया है। वेद ही सर्वोपरि प्रमाण हैं। जिनका स्वतः प्रामाण्य उपनिषदों को मान्य है। प्रत्यक्षादि आगम प्रमाण से ज्ञात सिद्धान्तों को ही दृढ़ करते हैं।

3. आचार मीमांसा

मोक्षमार्ग के उपायों का विवेचन करना आचार मीमांसा कहलाता है। मोक्ष के अनेक साधन उपनिषदों में बताए गए हैं—ज्ञान, कर्म, भक्ति, क्रियायोग, अष्टांग-योग, राज योग आदि अनेक आचार साधक को मोक्षमार्ग की ओर ले जाते हैं और दुखों से निवृत करते हैं। 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति'[21] इस वाक्य में कुछ दार्शनिक ज्ञान मार्ग को ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य मानते हैं तथा अन्य दार्शनिक 'तमेतं ब्राह्मणा वेदानुवचनेन विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'[22] इत्यादि मन्त्र को प्रमाण मानकर कर्म को ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार सभी आचार-संहिताएँ उपनिषदों से ही प्रसूत हुई हैं। यही हमारा मन्तव्य है।

4. देवताओं का स्वरूप

देवताओं का स्वरूप विवेचन भी उपनिषदों में वर्णित है। देवों के विषय में भी विभिन्न मत दर्शनों में फैले हैं। कोई विग्रहधारी, कोई मन्त्रात्मक और कोई रहस्यात्मक मानते हैं। उपनिषदों में भी इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का वर्णन आया है। किन्तु उपनिषदों का अपना मत यह है कि यह सब देव परमात्मा के ही नाम हैं तथा उसके ही रुप हैं।[23]

5. परा-अपरा विद्या

विद्या का अर्थ ज्ञान है। उपनिषदों में ज्ञान को दो भागों में बाँटा गया है। एक वह ज्ञान जो सांसारिक सुखों से लेकर सत्यलोकादि दिव्य सुखों की प्राप्ति कराता है। ऋग्वेदादि का ज्ञान ऐसा ही ज्ञान है। इसे उपनिषदों में अपरा विद्या कहा गया है।[24] परा विद्या उसे कहते हैं जिसके द्वारा उस अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति की जाती है।[25]

6. व्यवहार और नीति

उपनिषदों में व्यावहारिक और नैतिक सिद्धान्तों का भी मनोहारी वर्णन पाया जाता है। जिससे सामाजिक पुरुषों का दैनिक जीवन सुखमय बनता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रजापति ने देव, असुरों और मनुष्यों को जो दम, दान, दया का उपदेश दिया था, वह निश्चित रूप से व्यावहारिक ज्ञान था।[26] इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर सामाजिक व्यवहारोपयोगी तत्वों पर विचार किया गया है। विद्या और अविद्या तथा सम्भूति और विनाश दोनों की उपासना करने पर ही व्यक्ति लोक-सुख तथा लोकोत्तर-सुख की प्राप्ति कर सकता है।[27] क्योंकि केवल विद्या अथवा केवल अविद्या तो अन्धकार में ले जाने वाली है।[28] छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि जो व्यक्ति तप, दान, दया, आर्जव, अहिंसा और सत्य वचन में

जीवन व्यतीत करता है, उसका जीवन वास्तव में उपकारी का जीवन है।[29] 'सत्यम् वद्'[30] का उपदेश करते हुए अनृतवादी के कुल, समाज व देश के नष्ट होने की चेतावनी भी दी गई है।[31] प्रश्नोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि शुभ कर्मों का करने वाला शुभ फल तथा अशुभ कर्मों वाला अशुभ फल प्राप्त करता है।[32] अशुभ कर्म जैसे चोरी, मद्यपान, गुरु-स्त्री से सम्भोग करने वाला, ब्रह्मज्ञानी को मारने वाला अधोलोकों को प्राप्त करते हैं।[33] किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उपनिषदों में कर्म की अपेक्षा की गई है। उपनिषद् कर्म करने की प्रेरणा सतत् प्रदान करते हैं।[34]

7. कर्म स्वातन्त्र्य

भारतीय धर्म, दर्शन और जीवन में कर्म के सिद्धान्तों को एक अचल सिद्धान्त माना जाता है। 'जैसी करनी वैसी भरनी' इस तथ्य को भारत का ग्रामीण मनुष्य भी जानता है। कर्मों का फल अवश्य मिलता है। जीवात्मा कर्म करने में स्वतंत्र है। वह चाहे तो उत्तम कर्मों से जीवन को उत्तम बना ले अथवा अशुभ कर्मों से दु:खमय बना ले। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि यह पुरुष काममय है। वह जैसी कामना करता है, वैसा ही संकल्प करता है। जैसा संकल्प करता है, उसी के अनुसार कर्म करता है। तथा जैसा कर्म करता है, वैसा ही वह हो जाता है।[35]

8. गमनागमन का सिद्धान्त

उपनिषदों का एक विशिष्ट मत यह है कि उनमें लोकान्तरगमन और मर्त्य लोक में आगमन का मार्ग दर्शाया गया है। यह विवेचन किसी धर्मशास्त्र या दर्शनशास्त्र में नहीं बताया गया। मनुष्य का जीवात्मा इस देह से निकल कर कहाँ-कहाँ होता हुआ किस लोक में पहुँचता है तथा वहाँ से किस मार्ग पर लौटता है ? इसका अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन उपनिषदों में किया गया है। उपनिषदों में पुण्यकर्मियों के दो मार्ग बताए हैं—देवयान और पितृयान। देवयान को अर्चिमार्ग भी कहते हैं तथा पितृयान को धूमयान भी कहा जाता है। इन दोनों मार्गों के विवेचन का अभिप्राय: यही है कि मनुष्य अपने कर्मों के बल पर इनमें से किसी भी मार्ग पर जा सकता है।

9. आत्मा की अपरोक्षानुभूति

आत्मज्ञान की बातें तो प्राय: सभी दर्शनों में की जाती हैं किन्तु आत्मा की अपरोक्षानुभूति की बात कोई नहीं करता। यह विषय केवल उपनिषदों में ही मिलता है। कठोपनिषद् में नाचिकेतोपाख्यान इसका उदाहरण है। उपनिषदों में पूर्ण आत्मज्ञान से नि:श्रेयस अथवा स्वराज्य प्राप्ति बताई गई है। जब आत्मा अपने

अन्दर इस प्रकार लीन हो जाता है जिस प्रकार एक कामी प्रिय स्त्री से आलिंगित होकर सब कुछ भूल जाता है तब यह पुरुष स्वराज्य है की प्राप्ति कर लेता है। इस स्वराज्य की दशा का नाम उपनिषदों में आत्मरति, आत्मक्रीड़, आत्ममिथुन और आत्मानन्द शब्दों से कहा गया है। वह आत्मा के स्वरूप को जानकर उसी में क्रीड़ा, प्रेम, संयोग और आनन्द की उपलब्धि करता है। ऐसा अनुभव करने के पश्चात् वह पाप से लिप्त नहीं होता।[36]

इस प्रकार उपनिषदों में विविध विषयों का विवेचन प्राप्त होता है।

'योग' शब्द व्युत्पत्ति

व्याकरण शास्त्र में योग से सम्बन्धित दो धातुएं प्राप्त होती हैं—युज समाधौ व युजिर् योगे। विभिन्न ग्रन्थों में उपर्युक्त दोनों धातुओं को योग के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। रुधादिगण की 'युजिर् योगे' धातु मिलन, संयोग अथवा जोड़ के अर्थ में तथा 'युज् समाधौ' दिवादिगण की धातु समाधि के अर्थ में ली जाती है। योग का प्रसंगानुरूप अर्थ लिया जाए तो 'युज् समाधौ' धातु ही सार्थक एवं युक्ति-युक्त प्रतीत होती है। क्योंकि योग अध्यात्मशास्त्र है। उसका मुख्य ध्येय समाधि ही है। तत्ववैशारदीकार योग शब्द की व्युत्पत्ति इसी धातु से निष्पन्न मानते हैं—'युज् समाधौ इत्यस्मात् व्युत्पन्नः समाध्यर्थो, न तु युजिर् योगे इत्यस्मात् संयोगार्थ इत्यर्थ'[37]। केवल यही नहीं भाष्यकार व्यास ने 'योगस्समाधि'[38] कह कर इसी धातु से योग शब्द की व्युत्पत्ति स्वीकार की है। समाधि शब्द ही स्वरूपावस्थान का द्योतक है।[39]

'युजिर् योगे' धातु का भी प्रसंगानुरूप यदि यही अर्थ किया जाए कि जीवात्मा व परमात्मा दोनों की अप्रत्यक्षानुभूति ही मिलन या ऐक्य है, तो समीचीन होगा। अद्वैतवादी मतानुसार जो जीव परमात्मा में लीन हो जाना माना गया है, वह उसका तात्पर्य नहीं हैं।

योग की परिभाषाएँ

योगसूत्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों का निरोध करना योग कहा है।[40] चित्त का तात्पर्य है—अन्तःकरण। बाह्यकरण ज्ञानेन्द्रियाँ जब विषयों का ग्रहण करती हैं, मन उस ज्ञान को आत्मा तक पहुँचाता है। आत्मा साक्षी भाव से देखता है। बुद्धि व अहंकार विषय का निश्चय करके उसमें कर्तृत्वभाव लाते हैं। इस सम्पूर्ण क्रिया से चित्त में जो प्रतिबिम्ब बनता है, वही वृत्ति कह-

लाता है। यह चित्त का परिणाम है। चित्त दर्पण के समान है। अत: विषय उसमें आकर प्रतिबिम्बित होता है। अर्थात् चित्त विषयाकार हो जाता है। चित्त को विषयाकार होने से रोकना ही योग है।

उपनिषदों में योग की परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। कठोपनिषद् में कहा गया है कि जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं और मन निश्चल बुद्धि के साथ आ मिलता है, उस अवस्था को 'परम गति' कहते हैं। इन्द्रियों की स्थिर धारणा ही होगा है। जिसकी इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं, वह अप्रमत्त अर्थात् प्रमादहीन हो जाता है। उसमें शुभ संस्कारों की उत्पत्ति और अशुभ संस्कारों का नाश होने लगता है। यही अवस्था योग है।[41]

मैत्रायण्युपनिषद् में कहा गया है कि प्राण, मन व इन्द्रियों का एक हो जाना, एकाग्रावस्था को प्राप्त कर लेना, बाह्य विषयों से विमुख होकर इन्द्रियों का मन में और मन का आत्मा में लग जाना, प्राण का निश्चल हो जाना योग है।[42]

योगशिखोपनिषद् में कहा गया है कि अपान और प्राण की एकता कर लेना, स्वरज रूपी महाशक्ति कुण्डलिनी को स्वरेत रूपी आत्मतत्व के साथ संयुक्त करना, सूर्य अर्थात् पिंगला और चन्द्र अर्थात् इड़ा स्वर का संयोग करना तथा परमात्मा से जीवात्मा का मिलन योग है।[43] परमात्मा व जीवात्मा अलग सत्ता हैं। सर्वशक्तिमान् परमात्मा के साथ अल्पशक्तिमान् जीवात्मा के संयोग का तात्पर्य उसकी अनुभूति से है। यह हठयोग के ग्रन्थों से मेल खाने वाली परिभाषा दी गई है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि कर्मों में कुशलता ही योग है।[44] कर्म इस कुशलता से किया जाए कि कर्म बन्धन न कर सकें। अर्थात् अनासक्त भाव से कर्म करना ही योग है। क्योंकि अनासक्त भाव से किया गया कर्म संस्कार उत्पन्न न करने के कारण भावी जन्मादि का कारण नहीं बनता। कर्मों में कुशलता का अर्थ वशीकरण, जादू, इन्द्रजाल, मारण, उच्चाटन आदि विद्या नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीता में ही अन्यत्र कहा गया है कि आसक्ति त्याग कर समत्व भाव से कार्य करो। सिद्धि और असिद्धि में समता बुद्धि से कार्य करना ही योग है।[45] सुख-दु:ख, जय-पराजय, हानि-लाभ, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों में भी एकरस रहना योग है।

अग्निपुराण में ब्रह्म में चित्त की एकाग्रता को योग कहा गया है।[46] कूर्मपुराण में वृत्तिनिरोध से प्राप्त एकाग्रता को योग मानते हैं।[47] लिंग पुराण में भी चित्तवृत्ति निरोध को ही योग नाम से अभिहित किया गया है।[48] स्कन्दपुराण में जीवात्मा और परमात्मा का अपृथक्भाव योग कहा गया है।[49]

उपाध्याय यशोविजय मोक्ष के साथ युक्त कराने के कारण योग का निर्वचन करते हैं।[50] आचार्य हेमचन्द्र सूरि योग को मोक्ष का कारण स्वीकार करते हैं जो

रत्नत्रय (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन व सम्यक् चरित्र) के रूप में कहा जाता है।[51] तत्वार्दसूत्र में शरीर, वाणी और मन की क्रिया को योग कहा है। अर्थात् तीनों की एकाग्रता योग है।[52]

शारदातिलक, कुलार्णवतन्त्र व गौतमीय तन्त्र में जीव व आत्मा के ऐक्य को योग कहा गया है।[53]

रांगेय राघव ने कहा है—"शिव और शक्ति का मिलन योग है।"[54]

आचार्य रजनीश अन्तः की ओर मुड़ना तथा अपने भीतर से जुड़ना योग मानते हैं।[55]

डा० रेले अपनी अंग्रेजी पुस्तक 'मिस्टीरियस कुण्डलिनी' में चित्त की एकाग्रता के द्वारा अन्तःकरण और शरीर से पृथक् हुए आत्मा का साक्षात्कार करना योग कहते हैं।[56]

उपर्युक्त विभिन्न परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में यदि यह कहा जाए कि स्वयं अन्तःकरण को शुभ कर्मों द्वारा स्वच्छ करके अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके जन्म-मरण के चक्र से छूट जाना ही योग है। पद्धतियों का अन्तर भले ही हो, लक्ष्य सबका एक है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि अभ्यास और वैराग्य को दृढ़ करने के उपरान्त प्रणव रूपी धनुष से आत्मा रूपी शर को ब्रह्म रूपी लक्ष्य पर प्रमादहीन होकर तन्मय कर दो। तभी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकोगे।[57] इस एकाग्रता के अभाव में ब्रह्म-चिन्तन तो दूर सामान्य कार्य भी सम्पादित नहीं हो पाते। अतः चित्त की पाँच अवस्याओं[58] में से चतुर्थावस्था को ही योग के उपयुक्त माना गया है। निदिध्यासन की उपयोगिता उपनिषदों में स्वीकार की गई है।[59] चित्त की वृत्तियों के निरोध हेतु ही अष्टांग योग, क्रिया-योग व अभ्यास वैराग्य को साधन माना गया है।

योग की विभिन्न पद्धतियाँ

आज योग की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं किन्तु इन पद्धतियों के मूल में यह भाव अन्तर्निहित है कि किसी भी मार्ग का अनुसरण करके आत्मकल्याण करना परम लक्ष्य होना चाहिए। लोक में प्रचलित मत-मतान्तरों व दार्शनिक-सम्प्रदायों में विभिन्नता होने के कारण सबने अपना अलग-अलग मार्ग चुन लिया है तथा प्रकारान्तर से एक सम्प्रदाय उस साधना पद्धति के लिए तैयार कर दिया। यह सर्वविदित है कि लोक में सबकी रुचि एक जैसी नहीं होती। अतः जो व्यक्ति या साधक जिस साधना पद्धति को सरलता से ग्रहण कर सके, वही अपनाना श्रेयस्कर होगा। यही विचार इन साधना पद्धतियों के मूल में निहित प्रतीत होती है।

विभिन्न पद्धतियों के विषय में विचार करते हुए हम देखते हैं कि कुछ लोग

योग के दो भेद स्वीकार करते हैं—ज्ञानयोग व कर्मयोग[60] तथा कुछ चार मानते हैं—मन्त्र, लय, हठ, राज[61]। इन चारों के सम्मिलित रूप को महायोग कहा गया है।[62] किन्तु इनके अतिरिक्त कितनी ही अन्य पद्धतियाँ प्रचलित हो गई हैं तथा होती जा रही हैं। कुछ का नामोल्लेख किया जा रहा है—

आर्ष योग, ध्यान योग, राजयोग, अष्टांगयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, हठयोग, संन्यासयोग, पूर्णयोग, समन्वययोग, मन्त्रयोग, लययोग, सिद्धयोग, जपयोग, शब्दयोग, सुरतशब्दयोग, प्रणवयोग, विवेकयोग, तन्त्रयोग, स्वरयोग, भृगुयोग, शिवयोग, हंसयोग, पाशुपत्योग, ब्रह्मयोग, नाम-संकीर्तनयोग, अस्पर्शयोग, पुरुषोत्तमयोग, क्रियायोग, अविकम्पयोग, मृत्युंजययोग, अनासक्तयोग, समाधियोग, प्रेमयोग, अध्यात्मयोग, विज्ञानयोग, मानसयोग, इच्छायोग, बौद्धयोग, जैनयोग, कुण्डलिनीयोग, सांख्ययोग, मोक्षयोग, प्रकृति पुरुषयोग, अनन्ययोग, विरहयोग, भावयोग, अभावयोग, महायोग, अभ्यासयोग, ऋजुयोग, तारकयोग, संकीर्तनयोग, सुरतयोग, पातिव्रतयोग आदि अन्य योग की विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित हैं। गीता के सभी अध्यायों का नाम योग दिया गया है। सभी आस्तिक दर्शन किसी-न-किसी योग का ही प्रतिपादन करते हैं। कपिल का सांख्ययोग, कणाद का धर्मयोग, जैमिनी का कर्मयोग, वात्स्यायन का परमाणुयोग, व्यास का ब्रह्मयोग प्रसिद्ध हैं।

किन्तु ये सभी पद्धतियाँ परस्पर सहायक हैं, पृथक् नहीं। सभी का एक ही उद्देश्य है।[63] सभी का उद्देश्य लक्ष्य प्राप्ति करना है।[64]

उपनिषदों में प्राप्त समस्त योग पद्धतियों पर विचार करने का उपक्रम किया जाए तो अत्यन्त विस्तार होने के कारण अपने लक्ष्य से भटकने का भय है। अतः हंस की रीति से संक्षिप्तीकरण के द्वारा प्रतिपाद्य विषय का प्रस्तुतीकरण ही समीचीन होगा।

विभिन्न योगों का स्वरूप व महत्व

उपर्युक्त विभिन्न योगों को अध्ययन व मनन की सुविधा की दृष्टि से चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग व संन्यासयोग। यहाँ इनके स्वरूप व महत्व पर विचार करना उपयुक्त होगा :

1. कर्मयोग का स्वरूप व महत्व

कर्मयोग से हमारा अभिप्राय उस योग-पद्धति से है, जिसके अभ्यास के लिए साधक को किसी भी प्रकार की वाचिक या कायिक चेष्टा करनी अपेक्षित होती

है। इस दृष्टि से कर्मयोग में क्रियायोग, अष्टांगयोग, तप, स्वाध्याय, जप, प्रणवोपासना, रिक्थ तथा दहरोपासना आदि समस्त क्रियाएँ समाविष्ट हो जाती हैं। यह योग प्रकार गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी सहज भाव से अनुष्ठेय है।

2. ज्ञानयोग का स्वरूप व महत्व

ज्ञानयोग ज्ञान-सम्पादन की मानसिक क्रियाओं से सम्बन्ध रखता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति और उससे उद्भुत समस्त स्थूल व सूक्ष्म पदार्थों के साथ साथ आत्मा व परमात्मा का ज्ञान जिस विधि से होता है, वह विधि ज्ञानयोग कहलाती है। इस विधि के निम्नलिखित चार बहिरंग साधन हैं—विवेक, वैराग्य, षट् सम्पति (शम, दम, तितक्षा, उपरति, श्रद्धा व समाधान) तथा मुमुक्षुत्व।

इनके अतिरिक्त तीन अन्तरंग साधनों—श्रवण, मनन व निदिध्यासन को अपनाकर ही साक्षात्कार सम्भव है। ज्ञानयोग के अन्तर्गत उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त सत्संग, गुरुसेवा, वाद, शास्त्रार्थ आदि क्रियाएँ भी समाविष्ट हो जाती हैं।

3. भक्तियोग का स्वरूप व महत्व

कर्मयोग व ज्ञानयोग के कथंचित् भिन्न भक्तियोग हैं। ईश्वर-प्राविधान इसका मुख्य आधार है। इसमें जप, तप, ध्यान, ज्ञान आदि की आवश्यकता नहीं होती। इसमें तो अविचलित ईश्वर-विश्वास, पूर्ण समर्पण भाव, अटूट श्रद्धा और अपरिमित प्रेम की आवश्यकता होती है। परमेश्वर की इच्छा को बलीयसी मानकर उस पर सब कुछ छोड़कर निश्चिन्त हो जाना ही भक्तियोग है। वैष्णवाचार्य रामानुज ने शरणागति या paraप्रपत्ति को भक्तियोग का प्रधान तत्व स्वीकार किया है। यामुनाचार्य ने आलवन्दार स्तोत्र में भक्तियोग का अत्यन्त सुन्दर चित्र अंकित किया है :

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्म वेदी,
न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनोऽनन्य गतिः शरण्यं
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

स्वामी विवेकानन्द ने सच्चे व निष्कपट भाव से ईश्वर की आराधना को भक्ति कहा है।[65] नारद जी ने भक्तिसूत्र में ईश्वर के प्रति परमप्रेम को भक्ति कहा है।[66] शाण्डिल्य सूत्र में भी यही भाव अभिव्यक्त किया गया है।[67]

भक्ति के नौ प्रकार कहे गए हैं—विष्णु के विषय में श्रवण, उसका गुणकथन, विष्णु का स्मरण, विष्णुपद सेवन, उसकी अर्चना, वन्दना, स्वयं को उसका दास

समझना, सखा समझना तथा उसके प्रति पूर्ण समर्पण करके उसकी इच्छानुसार जीवनयापन करना।[68] इनमें आत्मनिवेदन ही शरणागति या पराप्रपत्ति है तथा यही भक्ति का उत्तम प्रकार है।

जिस पर प्रभु की कृपा होती है, उसी को प्रभु साक्षात्कार होता है। साधक परमेश्वर का वरण नहीं करता अपितु परमेश्वर साधक का वरण करता है। वह वरण भी उसी का करता है, जो उसे प्रिय होता है। भक्त के अतिरिक्त उसे कौन प्रिय होता है ? यही भक्ति योग का अभिप्राय है। श्रीमद्भागवतपुराण में भगवान ने स्पष्ट कह दिया है कि मैं योग, सांख्य, धर्म, तप, त्याग, स्वाध्याय आदि साधनों से इतनी शीघ्रता से प्रसन्न नहीं होता, जितनी शीघ्रता से भक्ति से होता हूँ।[69] तुलसीदास तथा कबीरदास जैसे उच्चकोटि के सन्त भक्तियोग के ही साधक थे। परमप्रेम रूपा भक्ति की कामना तुलसीदास ने की थी[70] तथा कबीर ने भी हरि की इच्छा में निज इच्छा को लीन कर दिया था।[71]

4. संन्यासयोग का स्वरूप व महत्व

संन्यासयोग पूर्वोक्त सभी प्रकार के योगों से भिन्न है। अन्य योग जहाँ किसी-न-किसी क्रिया में प्रवृत्त करते हैं, वहाँ संन्यासयोग निवृत्ति को ही प्रमुखता देता है। सभी प्रकार की अनियमितताओं से निकलकर संन्यासयोग में साधक को स्वातंत्र्य की अनुभूति होती है। यहाँ तक कि संध्यावदन, अग्निहोत्रादि नित्यकर्मों की अनिवार्यता भी इसमें समाप्त हो जाती है। यद्यपि संन्यासयोग में भावनाओं का बन्धन रहता है किन्तु वह बन्धन अन्य बन्धनों को काटने वाला है। भौतिक नियमों के बन्धन को श्लथ करके संन्यासयोगी निज-निर्मित मानसिक भावनाओं से ही स्वयं को बाँधता है 'नमे', 'नायम्', 'त्वमेव सर्वम्', 'सर्व नश्वरम्' आदि की भावना इसमें प्रधान होती है।

उपर्युक्त चारों योगों के स्वरूप पर विचार करने के उपरान्त विभिन्न योगों में संन्यासयोग की उपादेयता पर विचार करना युक्तिसंगत होगा।

विभिन्न योगों में संन्यासयोग का स्थान

प्रवृत्तिमार्ग व निवृत्तिमार्ग में निवृत्तिमार्ग ही श्रेष्ठ है। अमरता की दिशा में निवृत्तिमार्ग ही ले जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि जिस वित्तादि से अमरता प्राप्त नहीं हो सकती, मैं उसे लेकर क्या करूँगी ?[72] यही तो नचिकेता ने यमराज को कहा था कि जीर्ण न होने वाली अमृतावस्था को प्राप्त करके जीर्ण होने वाली मरणावस्था को कोई निम्नकोटि का व्यक्ति ही

प्राप्त करना चाहेगा।[73] मनुष्य धनादि ऐश्वर्यों से क्या कभी तृप्त हो सकता है ?[74] ये सुख साधन तो नश्वर हैं तथा इन्द्रियों के तेज को क्षीण करने वाले हैं।[75] अत: इन सबकी मुझे आवश्यकता नहीं है। मैं तो उस अमृत को ही जानना चाहता हूँ। मुझे इसके अतिरिक्त कुछ और नहीं चाहिए।[76] उपर्युक्त उद्धरणों से यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि श्रेयमार्ग ही श्रेष्ठ है। अतः निवृत्ति रूप संन्यासयोग ही नि:श्रेयस का चरम लक्ष्य और पूर्ण उपाय है।

शंका

यहाँ यह शंका हो सकती है कि यदि संन्यासयोग ही सब योगों में श्रेष्ठ है तो भगवान् ने गीता में संन्यासयोग से कर्मयोग को श्रेष्ठ क्यों कहा ?[77]

समाधान

इसका समाधान यह है कि भगवान् के इस कथन का अभिप्राय यह है कि अकर्मण्य होने से तो कर्म करना ही उचित है। वहाँ कर्मयोग का अर्थ प्रवृत्तिमार्ग नहीं है अपितु जिस कर्मयोग की बात कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं, वह वस्तुत: निष्काम कर्म में अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए है। यह कर्मयोग तो वस्तुतः संन्यासयोग ही है। कर्म करते हुए कर्मफल की ओर से निरभिलाष होना ही तो संन्यासयोग है।

संन्यास के साथ जब 'योग' शब्द जुड़ गया है तो यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि किसी-न-किसी प्रकार का कर्म तो अवश्य ही करना पड़ेगा। बिना कर्म किए तो एक पल भी जीवधारी नहीं रह सकता। वह तो अवश होकर प्रत्येक दशा में करणीय है।[78] अतः संन्यासयोगी भी कर्म करता है किन्तु वह कुशल कर्म करता है, अकुशल नहीं। कर्मों में कौशल का नाम ही तो योग है।[79]

कर्मों में कुशलता यही है कि वह कर्म अपने कर्ता को बाँध न लें। यदि कर्म ने कर्ता को अपने पाश में बाँध कर अवश कर दिया तो यह कर्मों में कौशल कहाँ रहा ? यह तो महान् अकौशल है, प्रमाद है। कर्ता कर्म का स्वामी है। उसे प्रत्येक दशा में स्वामी ही रहना चाहिए। यदि कर्म कर्ता का स्वामी बन बैठे तो वह कर्ता की अकुशलता ही है। औषधि रोग का निवारण करती है। यदि वह स्वयं रोग बन बैठे तो यह औषधि तथा चिकित्सक दोनों का अकौशल ही कहलाएगा। कर्मों का कौशल भी यही है कि वह कर्ता को सांसारिक बंधनों से मुक्त कराए। यदि वह स्वयं बन्धक बन जाए तो यह उसका अकौशल है। संन्यासयोगी ऐसे ही कर्मों का कुशल कर्ता होता है। उसके कर्म उसे बंधन में नहीं डालते अपितु बंधन को काटते हैं। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर भगवान् ने संन्यास से कर्मयोग को विशिष्ट बताया है। इसमें संन्यासयोग की हीनता नहीं समझनी चाहिए।

जहाँ पिछली पंक्तियों में योग के वर्गीकरण में हमने कर्मयोग को संन्यासयोग से पृथक् रखा है, वहाँ कर्मयोग से तात्पर्य क्रिया योग से है। वह तो वस्तुतः संन्यासयोग से पृथक् योग है क्योंकि उस कर्मयोग में सकाम कर्मों का विधान है, निष्काम कर्मों का नहीं। जबकि संन्यासयोगी के कर्म फलकामना से नहीं किए जाते। निष्काम कर्म के बिना तो संन्यासयोग सिद्ध हो ही नहीं सकता। अतः कर्मयोग तो संन्यासयोग का सहायक है। भगवान् ने स्वयं कहा है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ।।[80]

तथा

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोतियः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।[81]

क्रियायोग में निरत सकाम कर्मयोगी कर्मफल की अभिलाषा से मुक्त नहीं होता। अतः उसके पापलिप्त होने की सम्भावना बनी रहती है। भागवत् में प्रवृत्ति और निवृत्ति में से संन्यासरूप निवृत्तिमार्ग को ही अमरता का हेतु प्रतिपादित किया गया है :

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।
आवर्तेत प्रवृत्तेन निवृत्तेना श्नुतेऽमृतम् ।।[82]

संयासविषयक विभिन्न योगियों के विचार

1. आचार्य शंकर

आचार्य शंकर ज्ञाननिष्ठ संन्यासी थे। उनका स्पष्ट मत था कि मोक्ष की प्राप्ति का एकमात्र साधन सर्वकर्मसंन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा ही है। कर्मनिष्ठा तो अविद्वानों का विषय है।[83] ईशावास्योपनिषद् में आपात रूप से देखने पर कर्म समुच्चित ज्ञान से मुक्ति प्रतीत होती है। किन्तु वहाँ भी आचार्य ने स्पष्ट कहा है कि अविद्या अर्थात् कर्म का अधिकारी अन्य है और विद्या अर्थात् ज्ञान का अधिकारी अन्य है।[84]

यद्यपि आचार्य शकर ने वैदिक धर्म के दोनों पक्षों—प्रवृत्तिमार्ग व निवृत्तिमार्ग को निःश्रेयस का हेतु माना है किन्तु आगे चलकर उन्होंने संन्यास रूप निवृत्तिमार्ग को ही निःश्रेयस प्राप्ति का साधन स्वीकार किया है।[85] प्रवृत्तिमार्ग मोक्ष में उपयोगी नहीं है। प्रवृत्ति की परिणति निवृत्ति में ही होती है। निवृत्ति में पर्यवसित होकर ही प्रवृत्तिमार्ग मोक्ष में सहायक हैं, साक्षात् नहीं।

आचार्य शंकर ने गीताभाष्य में कर्मयोग की अपेक्षा संन्यासयोग को ही श्रेष्ठ स्वीकार किया है। यद्यपि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्म करने के लिए प्रेरित किया था। अर्जुन ने उनका आदेश मानकर युद्ध भी किया किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि गीता का लक्ष्य कर्मयोग की स्थापना करना है। आचार्य शंकर का स्पष्ट कथन है कि गीता का प्रयोजन कर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा से निःश्रेयस की प्राप्ति बताना है।[86]

जिज्ञासा हो सकती है कि यदि कर्मनिष्ठा का निःश्रेयस में तनिक भी उपयोग नहीं है तो भगवान् ने अर्जुन को कर्म का उपदेश ही क्यों दिया ? जबकि अर्जुन कर्म से सर्वथा विरत होकर राज्य की इच्छा न करते हुए भिक्षावृत्ति से जीवन बिताना चाहता था।[87] तो इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि अर्जुन संन्यासयोग का अधिकारी नहीं था। ब्राह्मण ही संन्यासयोग का अधिकारी है। अर्जुन क्षत्रिय था। इसलिए भगवान् ने उसे संन्यासयोग की सम्पति नहीं दी अपितु कर्म करने का ही उपदेश दिया। अर्जुन एक साधारण मोहग्रस्त पुरुष था। उसे आत्मा और अनात्मा का ज्ञान नहीं था। अतः उसके लिए कर्मयोग का उपदेश उचित ही था।

आचार्य शंकर की दृष्टि में जैसे कर्मयोग निःश्रेयस का साधन नहीं है, वैसे ही ज्ञान-कर्म-समुच्चय भी मोक्ष में उपयोगी नहीं है। कर्म और ज्ञान सर्वथा भिन्न दिशा में जाने वाले दो मार्ग हैं। इनका गंतव्य एक नहीं हो सकता। कर्म अभ्युदय का हेतु है और ज्ञान निःश्रेयस का कारण है। निष्कर्ष यह है कि आचार्य शंकर पूर्णतया सर्वकर्मपरित्याग रूप संन्यासयोग के ही पक्षपाती हैं।

2. विज्ञान भिक्षु

पातंजल योग दर्शन के अन्वेषणपरायण मूर्धन्य विद्वानों में आचार्य विज्ञानभिक्षु का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इन्होंने उपनिषदों पर भी भाष्य लिखा था, ऐसा इनके ग्रन्थों से पता चलता है। किन्तु सम्प्रति प्राप्त न होने के कारण कर्म संन्यास विषयक इनका मत स्पष्टतया परिलक्षित नहीं होता। योगसूत्र पर व्यासभाष्य की टीका योगवार्तिक, योग सार संग्रह सांख्य दर्शन पर सांख्य प्रवचन भाष्य, सांख्यसार तथा ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानामृत भाष्य आदि ग्रन्थों के आधार पर इनके मंतव्य पर विचार किया जाएगा।

जिस ग्रन्थकार ने सांख्य और योग को अपनी व्याख्या का विषय बना लिया, उसका एक निश्चित मत यह हो सकता है कि वह कर्म के स्थान पर ज्ञान को ही अधिमान देता है। योगदर्शन का सिद्धान्त है कि संसार के उच्छेद व निःश्रेयस का एकमात्र साधन अविप्लवा विवेक ख्याति है।[88] अविप्लवा का अर्थ है जिसमें मिथ्या ज्ञान का लेश भी न हो। मिथ्याज्ञान युक्त विवेक ख्याति लक्ष्य से विप्लव कर सकती है।[89]

यह तो पूर्वतः सिद्ध है कि मिथ्याज्ञान अनित्य में नित्यबुद्धि और नित्य में अनित्यबुद्धिरूप विपर्यय को कहते हैं। कर्म सर्वथा अनित्य पदार्थ है क्योंकि वह आत्मभिन्न है। आत्मा ही एक नित्य तत्व है। इसलिए उपनिषदों का आदेश है कि ब्राह्मण कर्मचित् पदार्थों की परीक्षा करके निर्वेद प्राप्त कर ले क्योंकि अकृत मोक्ष कृत कर्मों से लभ्य नहीं हैं।[90]

अविप्लव विवेकख्याति रूप हानोपाय की पुष्टि करने वाले वचनों से विज्ञानभिक्षु का मत सरलता से अनुमित किया जा सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि विज्ञानभिक्षु मोक्ष के लिए ज्ञानमार्ग को उपादेय मानते हैं, कर्ममार्ग को नहीं। योगदर्शन के अनुसार कैवल्य या मोक्ष का अर्थ है—गुणों का प्रतिप्रसव अथवा चैतन्य का स्वरूप प्रतिष्ठान।[91]

यह समस्त दृश्यमान् चराचर जगत् और समस्त कर्मसमूह सत्वादि गुणों का ही योजनाबद्ध विकास है। अविद्यादि क्लेशों की उत्पति भी इन्हीं से होती है। अतः जब तक ये त्रिगुण अपने भोग और अपवर्ग रूप कर्तव्य करके कृतार्थ नहीं हो जाते, तब तक इनका प्रवर्तन सतत् होता रहता है। जब ये निज भोगा-पवर्गरूप पुरुषार्थ को सम्पन्न करके कृतार्थ हो जाते हैं, तब ये अपने में ही लीन हो जाते हैं। यही पुरुष का कैवल्य होता है क्योंकि उस समय पुरुष गुणों से सर्वथा रहित होकर स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है।[92]

निष्कर्ष यह है कि कर्ममार्ग सृष्टि में प्रवृत्त करता है तथा ज्ञानमार्ग इससे निवृत्त करता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार समस्त योग ग्रन्थों और समस्त उपनिषदों का प्रतिपाद्य यही कर्मसंन्यास या ज्ञानमार्ग है।[93]

3. वाचस्पति मिश्र

सांख्ययोग और ब्रह्मसूत्र पर टीका करने वाले विद्वानों में आचार्य वाचस्पति मिश्र का नाम मूर्धन्य स्थान पर है। वाचस्पति मिश्र केवल विद्वान् ही नहीं उत्कृष्ट कोटि के साधक भी थे। उन्हें साधना की विभिन्न भूमियाँ प्राप्त थीं।

आचार्य शंकर ने जिस कर्मसंन्यास की पद्धति को स्थापित किया था, मिश्र ने उसी पद्धति को अपनी रचनाओं में परिपुष्ट किया है। ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य पर लिखी हुई प्रौढ़तम टीका भामती भी आचार्य शंकर के प्रति उनके उत्कट अनुराग को प्रकट करती है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र में पूर्व मीमांसा के कर्ममार्ग और त्रयीधर्म का खण्डन करके निःश्रेयस के लिए तत्वज्ञान को ही उपयोगी बताया है। इसी मत को मिश्र ने सांख्य तत्व कौमुदी, ब्रह्मसिद्धि और भामती में पुष्ट किया है।

कर्ममार्ग के प्रति मिश्र के उपेक्षा के भाव इसी से सिद्ध होते हैं कि उन्होंने षड्दर्शनों में केवल पूर्वमीमांसा पर ही भाष्य नहीं लिखा क्योंकि पूर्वमीमांसक

अभ्युदय के लिए कममार्ग को ही उपादेय मानते हैं।[94]

कर्ममार्ग निःश्रेयस के लिए कितना अनुपयोगी है और कर्मसंन्यास कितना उपयोगी? इसकी पुष्टि मार्कण्डेयपुराण में होती है। वहाँ कहा गया है कि हे तात! मैं दुःखों से सम्पृक्त तथा अहिंसादि धर्म से भरपूर पूर्वमीमांसकों के त्रयीधर्म को छोड़कर वन में जा रहा हूँ क्योंकि पूर्वमीमांसकों का त्रयीधर्म 'किम्पाक' पल के सदृश निस्सार है।[95]

संन्यासविषयक वाचस्पति के मत को उद्धृत करते हुए यह कहा जाता है कि वे कर्मसंन्यास को मोक्ष के लिए क्यों नहीं मानते। उनका तर्क यह है कि उन्होंने सांख्यतत्व कौमुदी में संन्यास को नवधा तुष्टि में से एक प्रकार की तुष्टि स्वीकार किया है। तुष्टि एक प्रकार का विपर्यय ज्ञान है। ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका में कहा है कि चार प्रकार की आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं—प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य।[96] वाचस्पति मिश्र ने उपादान का अर्थ प्रव्रज्या (संन्यास) किया है और कहा है कि जो लोग वह समझ लेते हैं कि प्रव्रज्या से ही मोक्ष हो जाएगा फिर हम अन्य कर्मानुष्ठान क्यों करें? यह समझकर संतुष्ट हो जाना मिथ्याज्ञान है।[97]

इस मत को उपन्यस्त करके समालोचक यह मान बैठते हैं कि मिश्र की आस्था संन्यास पर नहीं थी। किन्तु यह मानना उचित प्रतीत नहीं होता। यदि उन्हें संन्यास-मार्ग अभिमत नहीं होता तो वे वे सांख्य तत्व कौमुदी में कर्म की अपेक्षा विवेकख्याति को प्रतिपाद्य न बनाते।[98] तथा भामती में आचार्य शंकर-मत की पुष्टि न करते। सांख्यतत्व कौमदी में मिश्र ने जो प्रव्रज्या को तुष्टी के अन्तर्गत मानकर उसकी उपेक्षा की है, उसका अर्थ कुछ दूसरा ही है। वहाँ प्रव्रज्या अर्थ अकर्मण्यता है। अकर्मण्यता वास्तव में उपादेय नहीं है। संन्यास का अर्थ कर्महीन हो जाना नहीं है अपितु कर्म को योगस्थ होकर करना ही संन्यास है। सांख्य और योग को गीता में इसीलिए अपृथक् कहा गया है।[99] इन दोनों का लक्ष्य एक ही है, जबकि आपात रूप से सांख्यबुद्धि और योग बुद्धि पृथक्-पृथक् होती है। तथा ये दोनों लक्ष्य प्राप्ति के दो समन्वित प्रयास हैं। इसीलिए तो कृष्ण ने इन दोनों का समन्वय करते हुए सांख्यबुद्धि और योगबुद्धि को कर्मबन्ध के प्रहाण का उपाय कहा है।[100] जो लोग संन्यास का अर्थ अकर्मण्यता का लेते हैं, उनके लिए गीता का यह वचन विशेष ध्यातव्य है कि लोग जिसे संन्यास कहते हैं, उसी को तू कर्मयोग समझ क्योंकि संकल्पों को त्यागने वाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता।[101] अग्निहोत्र और विभिन्न क्रियाओं को छोड़ देने वाला ही संन्यासी नहीं कहलाता। संन्यासी तो वह है जो कर्मफल को न चाहता हुआ निरन्तर योग्य कर्म करता रहता है। वही योगी है।[102] इसीलिए वाचस्पति मिश्र मोक्ष के लिए ज्ञानयोग को उपादेय मानते हैं और ज्ञानयोग के लिए कुशल कर्मानुष्ठान रूप संन्यासयोग की स्थापना करते है। सांख्य तत्व कौमुदी में उन्होंने अकर्मण्यता रूप प्रव्रज्या का ही निराकरण किया

है।

4. स्वामी दयानन्द

स्वामी दयानन्द उच्चकोटि के संन्यासयोगी थे। उनका सम्पूर्ण जीवन आदर्श संन्यासी का जीवन है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त उन्होंने वेदानुकूल करणीय कर्मों का विधान और वेदविरुद्ध पाखण्डादि का खण्डन करके मनुष्यों को निज कर्तव्यपालन करते हुए कार्यरत रहने का उपदेश दिया। उन्होंने कर्म के साथ ज्ञान की अनिवार्यता सिद्ध करते हुए कहा कि अज्ञानी पुरुष वैसे ही दुर्दशा को प्राप्त होते हैं जैसे अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धे[103] तथा वेदज्ञान प्राप्त करके उस पर आचरण करने वाले शुद्धान्तःकरण संन्यासयोगी ही मृत्यु के दुःख से छूटकर मुक्तिसुख को प्राप्त करते हैं।[104] अतः जितेन्द्रिय पुरुष लौकिक भोगों को कर्म से संचित हुए देखकर विरक्ति को प्राप्त होकर वेदवित् और परमेश्वर को जानने वाले गुरु के पास जाकर विज्ञान प्राप्त करे जिससे सन्देह निवृत्तिहोकर मोक्ष की प्राप्ति हो सके। उनकी मान्यता है कि लोक में रहकर कर्म किए बिना रहा तो नहीं जाता किन्तु अनासक्त भाव से किया गया कर्म बन्धनकारक न होने से करणीय हैं।[105] अतः संन्यासी जब लोक में रहकर जीवनयापन करता है, उनके द्वारा प्रदत्त पदार्थों का शरीर रक्षार्थ सेवन करता है तो इसके बदले उसको सत्योपदेश करके सुमार्ग पर चलने को प्रेरित करे। यदि वह ऐसा न करके केवल निज कल्याणार्थ ही जुटा रहता है तो वह उन सद्गृहस्थियों का ऋणी रहता है, जिनके द्वारा उन्हें शरीर रक्षणार्थ भोजनादि की प्राप्ति होती है।[106] किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि न लेना चाहिए कि उन कार्यों में ही लिप्प रहकर वे अपने लक्ष्य को विस्मृत कर बैठें। ज्ञान साधना के साथ-साथ अल्प मात्रा में कर्म भी करणीय हैं। जहाँ-जहाँ अविद्या अन्धकार का साम्राज्य है, उसको दूर करके विद्या का प्रकाश करना भी संन्यासी का कर्त्तव्य है क्योंकि अन्य आश्रमी को विद्या का प्रकाश इतना का अवसर प्राप्त नहीं होता जितना संन्यासी को।[107]

उन्होंने संन्यास की परिभाषा करते हुए कहा है "जो ब्रह्म और उसकी आज्ञा में उपविष्ट अर्थात् स्थित और जिससे दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाए वह संन्यास, वह उत्तम, उत्तम स्वभाव जिसमें हो, वह संन्यासी कहाता है। इसमें सुकर्म का कर्ता और दुष्टकर्मों का विनाश करने वाला संन्यासी कहाता है।"[108]

स्वामी जी की मान्यता है कि जो सत्पुरुष ब्रह्मचर्य, धर्मानुष्ठान, श्रद्धा, यज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जान के मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं वे ही ब्रह्म-लोक अर्थात् संन्यासियों के प्राप्ति स्थान को प्राप्त होने के लिए संन्यास लेते हैं।[109] ऐसे ही लोग त्रिविध एषणाओं से सर्वथा मुक्त होकर भिक्षाचरण करते हैं।[110] उनके मतानुसार एक स्थान पर वास करने से संन्यासी को उस स्थान तथा निवासियों

से मोह हो जाता है, अतः उसे यायावर होना चाहिए। किन्तु यदि आवश्यकता समझे तो एक स्थान पर रह कर भी समाज कल्याण हेतु कार्य करना चाहिए।[111]

स्वामी जी कहते हैं कि "जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं और जो आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्तमान जन्म में परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते-कराते हैं, वे ही धर्मात्मा जन संन्यासी और महात्मा हैं।[112]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी जी ने आचार्य शंकर की भाँति ज्ञान को प्रधानता देते हुए अकर्मण्य जीवन की कामना नहीं की। वे सम्पूर्ण जीवन पर-हितार्थ लोकोपकार की भावना से सत्योपदेश करते रहे। यद्यपि इस कारण उन्हें अनेक बार कष्टों का सामना करना पड़ा, फिर भी उन्होंने भूलकर भी किसी का अपकार नहीं किया। यही कारण था कि उन्होंने विष देने वाले जगन्नाथ रसोइये को भी स्वयं पैसे देकर भगा दिया। उसका जीवन तप और त्याग का जीवन है। ऐसे संन्यासयोगी के जीवन से सदैव प्रेरणा प्राप्त होती है।

5. स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द विद्वत् संन्यासी थे। उनका जीवन त्याग और प्रेम का संवलित रूप है। उन्होंने अपने जीवन का अपर्ण समाज को कर दिया था, जिससे प्रेम और उपकार उनके हृदय से उमड़ पड़े। ऐसे आत्म त्यागी संन्यासयोगी विरले ही होते हैं।

स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में संन्यास का एकमात्र उद्देश्य परोपकार है। उन्होंने स्वयं ब्रह्मचर्य से संन्यास ग्रहण करके अपने जीवन को परोपकार में लगाया। राम कृष्ण परमहंस के प्रेम को समाज के उन दीन-हीन दुःखियों में बाँट दिया जो समाज से उपेक्षित थे। जिन्हें समाज से दुत्कार और फटकार के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला। उन्होंने पाश्चात्य देशों की यात्रा पर जाते हुए अपने मठ के सहयोगियों को सम्बोधित करते हुए कहा था कि तुम लोगों में से जो संन्यासी हैं, उन्हें सदैव दूसरों के प्रति भलाई करते रहने का यत्न करना चाहिए, क्योंकि संन्यास का यही अर्थ है।[113]

उनका त्यागमय जीवन संसार से भागने के लिए नहीं था। उन्होंने सांसारिक जीवन जीते हुए मत्यु भय पर विजय प्राप्त करने का सन्देश दिया। 'नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्'—अर्थात् मृत्यु और जीवन के प्रति औदासीन्य उनका लक्ष्य नहीं रहा। उनका त्याग भी प्रेममय रहा। संन्यासी और सांसारिक लोगों में अन्तर भी प्रेम का है। उनका कथन है कि त्याग का अर्थ है—मृत्यु के प्रति प्रेम। सांसारिक लोग जीवन से प्रेम करते हैं परन्तु संन्यासी के लिए प्रेम

करने को मृत्यु है।[114] उन्होंने सदा आत्म-त्याग अर्थात् स्वार्थपरता का त्याग करने को कहा। यहाँ तक कि खाना, पीना, सोना, उठना बैठना आदि सभी आत्मत्याग की ओर लगाने का आदेश दिया।[115]

उन्होंने संन्यासियों के लिए त्याग को अनिवार्य बताया किन्तु त्याग का अर्थ उन्होंने किया स्वार्थ का सम्पूर्ण अभाव। केवल बाह्य दृष्टि से विषयों से उपरत होना ही संन्यास नहीं है अपितु स्वार्थ की भावना का त्याग होना चाहिए।[116] संसारी लोग संन्यासियों के कृत्यों से प्रभावित होकर अपने जीवन का निर्माण करें न कि संन्यासी संसारी लोगों के प्रभाव में आएँ।[117]

संन्यासाश्रम और गृहस्थाश्रम के भेद को प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है कि संन्यासी का उत्तरदायित्व सम्पूर्ण समाज का निर्माण करना है, उसका अपना सब कुछ है और कुछ भी नहीं है। किन्तु गृहस्थ तो 'स्व' तक ही सीमित रहता है। उन्होंने एक श्लोक को उद्धृत करते हुए कहा कि पर्वत व राई, सूर्य व जुगनू तथा सागर व सरिता में जितना अन्तर है, उतना ही विशाल अन्तर संन्यासी और गृहस्थ में होता है।[118]

साधना हेतु एकान्तवास की आवश्यकता उन्होंने नहीं मानी। उनकी साधना परोपकार है। उनका स्पष्ट मत है कि हम एक गुफा में बैठकर ध्यान करें और वहीं मर जाएँ, यह मुक्तिलाभ के लिए गलत सिद्धान्त है। यदि वह अन्य भाइयों की मुक्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता तो उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।[119]

विवेकानन्द ने संन्यासाश्रम में आने वाली कठिनाइयों का अनुभव किया। उन्होंने गृहस्थों के सम्पर्क से आने वाले दोषों का भी अवलोकन किया। अतः स्पष्ट रूप से निर्देश दिया कि संन्यासी जब तक सर्वोच्च पद पर नहीं पहुँच जाए, तब तक उसे गृहस्थों द्वारा छुए या उपयोग में लाए भोजन, बिछावन आदि से बचना चाहिए। उनके प्रति घृणा की भावना से नहीं वरन् अपने को बचाने के लिए।[120] यद्यपि उन्होंने प्रेम के उच्चादर्श को स्थापित किया जब तक संन्यासी में त्याग भावना दृढ़ नहीं हो जाती तब तक आशक्त होने का भय रहता है। अतः जनसम्पर्क न करने का निर्देश दिया है।

भिक्षाचर्या के लिए उन्होने कठोर नियम नहीं बनाए। उस समय बंगाल में भिक्षाचर्या प्राप्त करने में भी कठिनाई आती थी। यदि संन्यासी भिक्षाचर्या में ही लगा रहेगा तो वह निज लक्ष्य से विमुख हो जाएगा। अतः मोटी-मोटी आवश्यकताओं के लिए प्रबन्ध करके निश्चित होकर अपनी समस्त शक्ति ध्येय की प्राप्ति के लिए लगाना उन्होंने नियम विरुद्ध नहीं माना। हाँ, साधनों को अधिक महत्व देने का विरोध किया, जिससे आशक्ति का भाव उत्पन्न हो।[121]

इस प्रकार त्याग और प्रेम के समन्वित रूप को विवेकानन्द ने स्वीकार

किया है। निज स्वार्थों से ऊपर उठकर जनसेवा को अंगीकार करके उन्होंने प्रभु को सेवा के माध्यम से जन-जन में देखा है। कर्म करते हुए, सेवा द्वारा जन-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होकर ही प्रभु की प्राप्ति सम्भव है—यही उनका संदेश है।

6. श्री अरविन्द

श्री अरविन्द ने जिस साधना पद्धति का आश्रय लिया, वह संन्यास से विलक्षण है। उन्होंने संन्यास ग्रहण की आवश्यकता पर बल नहीं दिया। उनका स्पष्ट मत है कि जगत् या जीवन से कुछ भी सरोकार न रखना अथवा इन्द्रियों को मार डालना या उनकी क्रिया को पूर्ण रूप से दबा देना उनके योग का अंग नहीं है।[122] वे अपने पूर्णयोग को प्राचीन योग पद्धतियों से नया स्वीकार करते हैं क्योंकि इसका लक्ष्य संसार से विदा हो जाना और स्वर्ग में जीवन बिताना या निर्वाण प्राप्त करना नहीं, बल्कि जीवन और सत्ता का परिवर्तन करना।[123] इसी कारण उन्होंने संन्यासग्रहण करके संसार से भाग जाना उचित नहीं समझा।[124]

इसका यह अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिए कि श्री अरविन्द ने कामनाओं के त्याग को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने संन्यासाश्रम ग्रहण करके वेश-धारण करने की उपयोगिता से इन्कार किया है किन्तु वैराग्य की भावना, सर्वेषणा-साहित्य व औदासीन्य की उपयोगिता का स्वीकार किया है।[125]

श्री अरविन्द ने जिस पद्धति को स्वीकार किया है, संन्यासयोग के अनुरूप है। संन्यासयोग की साधना में मुख्य तत्त्व विरक्ति है। आसक्ति हमें इस संसार में बाँधती है, जिसके फलस्वरूप हम स्वार्थपरता के तमसावृत मार्ग पर चल पड़ते हैं। आसक्ति पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् भोग कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं जिससे अपनी इच्छाशक्ति के बल पर परमार्थ पथ पर अग्रसर हुआ जा सकता है। इसी को अरविन्द ने पूर्णयोग की साधना के लिए अनिवार्य बताया है।[126] इस पूर्णयोग की साधना में उन्होंने प्राचीन योग पद्धतियों—ज्ञान, भक्ति व कर्म का समन्वित रूप स्वीकार किया है।[127]

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री अरविन्द संन्यासाश्रम के प्रचलित स्वरूप को साधना के लिए अनिवार्य नहीं मानते किन्तु संन्यासयोग के मूल तत्व वैराग्य को साधना के लिए अनिवार्य रूप में स्वीकार करते हैं।

विभिन्न संन्यासयोगियों का परिचय

1. संवर्तक

संवर्तक एक महान तपस्वी व उत्कृष्ट संन्यासयोगी हुए हैं। जाबालोपनिषद् में

परमहंसो की गणना करते हुए सर्वप्रथम संवर्तक का नाम गिनाया है ।[128] महाभारत आदिपर्व में इनके अंगिरस् कुलोत्पन्न होने का उल्लेख प्राप्त होता है । तथा इनके दो भाइयों का भी नामोल्लेख मिलता है—बृहस्पति व उतथ्य ।[129] महाभामत अनुशासन पर्व में संवर्तक के सात भाइयोंका नाम मिलता है—बृहस्पति, उतथ्य, पयस्य, शांति, घोर, विरुप, सुधन्वन ।[130]

संवर्तक नाम ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है ।[131] ऐतरेय ब्राह्मण में इन्हें मरुत्त आविक्षित राजा का पुरोहित बताया गया है ।[132] योगवसिष्ठमें इनका अन्य नाम वीतहत्य भी बताया गया है ।[133]

ये दिगम्बर होकर श्मशान में तमस्या करते थे । महाभारत में मरुत्त राजा के यज्ञ हेतु इनके द्वारा हिमालय के मुन्जवान् पर्वत से शंकर की कृपा से विपुल सुवर्ण-राशि प्राप्त करने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[134] इनके उग्र तप के कारण इनकी तप-स्थली को संवर्तवापी कहा जाता है ।[135]

इनका तप और त्याग का जीवन मनुष्य मात्र के लिए अनुकरणीय है । इन्होंने अपने स्वार्थ हेतु कुछ नहीं किया । आसक्ति से दूर अवधूत होकर श्मशान में रह कर ही जीवन व्यतीत कर दिया । परव वैराग्यवान् संन्यासयोगी के रूप में उनके जीवन से प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए ।

2. आरुणि

आरुणि उद्दालक नाम के दो व्यक्तियों का उल्लेख वैदिक वांङमय में मिलता है । एक आरुणि धौम्य ऋषि के शिष्य थे, जिन्हे धौम्य ने खेत का पानी रोकने के लिए भेजा था । जब पानी न रुका तो आरुणि स्वयं लेट गया । ऋषि धौम्य जब आरुणि की खोज करते हुए वहाँ पहुँचे, तब आरुणि को देखकर गद्‌गद हो उठे । उन्होंने तभी आरुणि का नाम उद्दालक रख दिया । उद्दालक का अर्थ है—खेत की मेंड को तोड़कर उठने वाला ।[136]

इस आरुणि का पूरा नाम आरुणि पांचाल्य है । पांचाल्य शब्द से प्रकट होता है कि वह पंजाब प्रान्त का निवासी था । कुशिक की कन्या से उसका विवाह हुआ था जिससे श्वेतकेतु और नचिकेता दो पुत्र तथा एक पुत्री सुजाता उत्पन्न हुई । अष्टावक्र सुजाता का ही पुत्र था । यद्यपि यह आरुणि पांचाल्य भी एक उत्कृष्ट आचार्य था किन्तु संन्यासयोगियों में इसकी गणना नहीं की जाती ।[137]

हमने यहाँ जिन आरुणि उद्दालक का संन्यासयोगियों में परिगणन किया है, वे अध्यात्म विद्या के एक प्रसिद्ध आचार्य तथा निःश्रेयस मार्ग के अनुगामी थे । इनके पिता का नाम अरुण औपवेशी गौतम था तथा ये उन्हीं के शिष्य थे । श्वेतकेतु इन्हीं का पुत्र था ।[138] छान्दोग्य की कथा के अनुसार ये आरुणि उद्दालक पतंजल काप्य के घर रहकर उनसे अध्यातम विद्या का अध्ययन करते थे । पतंजल काप्य

मद्र देश के निवासी थे। इन्हीं आरुणि ने जनक की सभा में याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछे थे जिनका समुचित उत्तर देकर इन्हें चुप कर दिया था।[139]

छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक दोनों उपनिषदों में इनकी चर्चा आई है। इससे सिद्ध होता है कि आरुणि उद्दालक अत्यन्त विद्वान् और श्रेष्ठ संन्यासयोगी थे। बड़े-बड़े ज्ञानी लोग भी अध्यात्म विद्या की प्राप्ति के लिए इनके पास आते थे। इन्द्रद्युम्न, सत्ययज्ञ, जन तथा बुडिल इनके पास संन्यासयोग की शिक्षा लेने गए थे।[140] इनकी कुल परम्परा थी कि इनके कुल में कोई अब्रह्मण्य नहीं होता था। सभी ब्रह्मनिष्ठ संन्यासयोगी और निःश्रेयस-पथ के अनुगामी होते थे। इसीलिए श्वेतकेतु को अध्यात्म विद्या का अभिमान हो गया था तो इन्होंने यत्नपूर्वक उसे विनय की शिक्षा प्रदान की।[141] यद्यपि आरुणि उद्दालक गृहस्थी थे, तथापि सर्व-श्रेष्ठ संन्यासयोगी थे।[142]

3. श्वेतकेतु

श्वेतकेतु एक तत्व ज्ञानी आचार्य थे जिनका गौरवपूर्ण उल्लेख शतपथ ब्राह्मण,[143] छान्दोग्योपनिषद्,[144] तथा बृहदारण्यकोपनिषद्[145] आदि में किया है। इन्हें आरुणि का पुत्र तथा गौतम का वंशज माना जाता है। ये अरुण ऋषि के पौत्र थे। इसीलिए इन्हें आरुणेय उद्दालक कहा जाता है।[146] अपने पिता की भाँति ये भी कुछ पांचाल देश के निवासी थे। ये बाल्यकाल से ही आध्यात्म विद्या के अनुरागी थे। इसलिए अन्य ब्राह्मणों के साथ यात्रा करते हुए जनक के पास पहुंचे। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इन्होंने कभी भी विदेह प्रान्त में वास नहीं किया। इसका मुख्य कारण यही है कि वीतराग संन्यासी होने के कारण जन सम्मर्द से दूर रहना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता था। जनक की सभा में प्रतिद्वन्द्विता का वातावरण इन्हें अनुकूल नहीं आया। यद्यपि इन्हें पहले ब्रह्मविद्या का अभिमान था किन्तु पिता की शिक्षा के प्रभाव से ये विनम्र हुए। इसलिए पंचाल के राजा प्रवाहण के पास ये विद्यार्जन हेतु भी गए।[147]

कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार ये यज्ञ संस्था के आचार्य थे। इन्होंने यज्ञ कार्यों में भौतिक द्रव्यों और क्रियाओं की अपेक्षा ज्ञान की प्रमुखता सिद्ध की तथा अर्थोपार्जन को गौण बताया। उस समय प्रायः बड़े-बड़े यज्ञों का आयोजन अर्थ, ग्राम, राज्य तथा सुख की कामना करने वाले लोग ही करते थे। श्वेतकेतु ने इस परम्परा का उच्छेद किया और उन्होंने पुरोहित के लिए यह नियम बनाया कि वह ज्ञान से प्रेम करे तथा भौतिक सुखों का अधिक लोभ न करे।[148]

4. हारीतक

वैदिक साहित्य में हारीत अथवा हारीतक नाम के अनेक संन्यासियों का उल्लेख मिलता है। इन्हें आंगिरस कुलोत्पन्न तत्वज्ञानी ब्राह्मण कहा जाता है, जिन्होंने संन्यासमार्ग का प्रवर्तन किया था। इनका यह तत्व ज्ञान 'हारीत गीता' नाम से प्रसिद्ध है। भीष्म ने इसी गीता का कथन युधिष्ठिर को किया था।[149] यही हारीतक शरशय्या पर लेटे हुए भीष्म से मिलने आया करते थे।[150]

स्कन्दपुराण के अनुसार एक अन्य हारीतक का नाम भी मिलता है जिन्होंने 'लघु हारीत स्मृति' तथा 'वृद्ध हारीत स्मृति' नामक दो ग्रन्थों की रचना की।[151]

ये एक श्रेष्ठ संन्यासयोगी थे। कादम्बरी में भी विंध्याटवी-वर्णन में इनका उल्लेख प्राप्त होता है। ये ब्रह्मचारी व ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण थे जो दृढ़तापूर्वक आजीवन संन्यासयोगी का जीवन व्यतीत करते रहे।

5. वामदेव

वामदेव नाम के अनेक व्यक्ति वेद, दर्शन और लौकिक साहित्य में सुने जाते हैं। एक वामदेव ऋषि थे जिनका वर्णन स्कन्दपुराण,[152] ब्रह्माण्ड पुराण[153] और मनुस्मृति[154] में प्राप्त होता है। एक वामदेव राजा का उल्लेख महाभारत में प्राप्त होता है।[155] जिसके अनुसार ये मोदापुर नाम के स्थान के राजा थे। जिन्हें अर्जुन ने उत्तर दिग्विजय के समय जीत लिया था।

वामदेव एक शिव का अवतार भी हुए हैं, जो मनु व शतरूपा के सात पुत्रों में से एक थे।[156] एक वामदेव गौतम नाम के आचार्य वैदिक साहित्य में सुने जाते हैं। ये वैदिक सूक्तों के द्रष्टा, उच्चकोटि के ऋषि व महान् योगी थे। हमें यहाँ इन्हीं वामदेव का उल्लेख करना अभीष्ट है। ऋग्वेद में इनका उल्लेख एक सिद्ध पुरुष के रूप में हुआ है, जिन्हें माता के गर्भ में ही आत्मानुभूति प्राप्त हुई थी।[157] इन्हें ही ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल का प्रणेता कहा जाता है।

वैदिक ग्रन्थों में वामदेव को गौतम ऋषि का पुत्र माना गया है। इसीलिए इन्हें वामदेव गौतम कहा जाता है।[158] ऋग्वेद में ही इनके जन्म के सम्बन्ध में एक कथा है। इन्हें अपने पूर्वजन्मों का वृत्तान्त ज्ञात था और यह ज्ञान इन्हें माता के गर्भ से ही हो गया था। तब इन्होंने सोचा कि अन्य साधारण पुरुषों की तरह मेरा जन्म न हो, यह सोचकर इन्होंने माँ के उदर को फाड़कर बाहर आना चाहा। इनकी माता को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने अदिति का ध्यान किया। अदिति अपने पुत्र इन्द्र के साथ वहाँ प्रकट हुई। जब वामदेव की गर्भ के अन्दर से ही इन्द्र से वार्ता हुई।[159]

आत्मानुभूति प्राप्त होने पर वामदेव ने कहा था कि मैंने ही सूर्य को प्रकाश प्रदान किया था और मनु मेरा ही रूप था।[160] यद्यपि वैदिक विद्वान् वेद में इतिहास को नहीं मानते और हमारा दृष्टिकोण भी यही है। यदि इसे रूपक भी माना जाए तो भी यह वामदेव एक संन्यासयोगी के रूप में ही वैदिक साहित्य में चर्चित हुए हैं। ऐतरेयोपनिषद् के अनुसार वामदेव को जन्म के समय लोहे की कारागार में रखा गया जिन्हें तोड़कर ये श्येन पक्षी की भाँति पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए।[161] इस कथा को भी रूपक माना जाता है। फिर भी हमारा अभिमत सिद्ध हो जाता है कि संन्यासयोगी को वामदेववत् ही होना चाहिए जो विषयों की कठिन कारा को तोड़कर वैराग्य की ओर अग्रसर होता रहे।[162]

6. जड़भरत

प्राचीन भारतीय साहित्य में जड़भरत का नाम महान् योगी के रूप में प्राप्त होता है। भागवतपुराण[163] में कथा के रूप में इस महान् राजर्षि के तीन जन्मों का वृत्तान्त देकर पूर्ण विरक्ति के लिए एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है। राजा नाभि के पुत्र ऋषभदेव ने इन्द्र की कन्या जयन्ती से सौ पुत्र प्राप्त किए थे। उनमें ज्येष्ठ पुत्र भरत था।

ऋषभदेव ने अपनी मृत्यु से पूर्व भरत को राज्यभार सौंप दिया। भरत ने विश्वरूप की कन्या पंचजनी से विवाह किया था तथा अनेक वर्षों तक राज्यसुख का भोग किया। तत्पश्चात् तप के लिए पुलहाश्रम में चला गया।[164] पुलहाश्रम जाकर भरत ने सूर्यमन्त्र का अखण्ड जप किया। उग्रतपश्चर्या के फलस्वरूप इसने दिव्य शक्तियों को प्राप्त किया। एक दिन उसने गर्भवती हरिणी को गंडकी नदी पर पानी पीते देखा। तभी सिंह गर्जना सुनकर उसका गर्भपात हो गया और हरिणी भाग गई। भरत ने उस शावक का पालन-पोषण किया। उस शावक के प्रति भरत का स्नेह इतना बढ़ गया कि वह नित्य कर्म और तपश्चर्या से भी उदासीन हो गया। शरीरपात के समय भी उसे यही चिन्ता थी कि मेरे बाद शावक का क्या होगा ? इसी कारण उसे आगामी जन्म में मृगयोनि प्राप्त हुई।[165]

पूर्वकृत तपस्या के फलस्वरूप मृगयोनि में भी भरत को पूर्वजन्मों का ज्ञान रहा। इसलिए वह अपने पूर्व तपस्यास्थल पुलहाश्रम में ही आकर रहने लगा। वह वहीं शाल वृक्ष की छाया में बैठकर तप करने लगा। मृत्यु निकट जानकर स्वयं ही गंडकी नदी में प्रविष्ट होकर शरीर त्याग दिया।

मृगयोनि के पश्चात् भरत ने अंगिराकुल के एक ब्राह्मण की दूसरी पत्नी के गर्भ से जन्म लिया। पूर्वजन्मों का ज्ञान होने के कारण वह निःश्रेयस के प्रति ही अनुरक्त था। निष्ठुर उदासीन, निस्पृह और अकर्मण्य होकर रहने लगा। इसी कारण उसे जड़ कहा जाने लगा। पिता ने उपनयनादि संस्कार भी किए किन्तु यह

उदासीन ही बना रहा। इसी दुःख में उसके माता-पिता मर गए। भाइयों ने मूर्ख समझ कर सम्बन्ध तोड़ लिये। यह कभी वेगारी करता, कभी मजदूरी। कभी भिक्षा से पेट भरता तो कभी उन्मत्तवत् घूमता रहता। एक बार इसे दस्युराज पकड़कर बलि के लिए ले गए किन्तु देवी ने इसे पहचान कर संरक्षण किया।[166]

एक दिन सिन्धु सौवीर देश का राजा रहुगण ब्रह्मज्ञान का उपदेश सुनने कपिलाश्रम जा रहा था। इक्षुमती नदी के पास उसे पालकी के लिए कहार की आवश्यकता पड़ी तो जबरन जड़भरत को लगा लिया। यह भी विना आनाकानी किए पालकी ले चला। वह धीरे-धीरे चल रहा था तो राजा को झटके लगने लगे। रहुगण ने कहा कि "तुम हृष्ट-पुष्ट होकर भी कार्य ठीक क्यों नहीं कर रहे?" जड़भरत ने कहा कि "मजबूती देह की नहीं आत्मा की होनी चाहिए। मेरी आत्मा इतनी मजबूत नहीं है।" यह सुनते ही रहुगण ने समझ लिया कि यह कोई महापुरुष है। वह पालकी से नीचे उतर कर जड़भरत के पैरों में गिर गया। जड़-भरत ने उसे उपदेश दिया तथा जंगल में चला गया[167]

जड़भरत का जीवन इतना महान् व त्यागमय था कि भागवत में कहा गया हैं—"यदि कोई व्यक्ति जड़भरत का अनुकरण करने की बात सोचता है तो उसका प्रयास उस मक्खी के समान है, जो गरुड़ की बराबरी करना चाहती है।"[168] वास्तव में जड़भरत जैसे संन्यासयोगी के जीवन से प्रेरणा प्राप्त होती है।

7. दत्तात्रेय

अवधूत दत्तात्रेय महान् संन्यासयोगी हुए हैं। ये अत्रिमुनि और अनसूया के पुत्र थे। पतिव्रता शिरोमणि अनसूया ने यह वर माँगा कि मेरे गर्भ से ब्रह्मा, विष्णु व शंकर जन्म ग्रहण करें। इसी कारण स्वयं विष्णु ने दत्तात्रेय के रूप में अवतार ग्रहण किया। ये बचपन से ही विरक्त होकर साधना में रत हो गए। जम्भासुर से परास्त देवताओं ने इनके आशीर्वाद से ही विजय प्राप्त की।

भागवतपुराण में राजा यदु के आख्यान में दत्तात्रेय के चौबीस गुरुओं का उल्लेख प्राप्त होता है, वे हैं—पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, आकाश, चन्द्र, सूर्य, कबूतर, अजगर, सागर, पतंग, मधुमक्खी, हाथी, मधुहारी, हरिण, मछली, पिंगला वेश्या, गिद्ध, बालक, कुमारी कन्या, वाण बनाने वाला साँप, मकड़ी और तितली।[169] उनका विचार था कि केवल मनुष्य शरीरधारी ही गुरु नहीं हो सकते अपितु शिक्षा प्राप्ति का कोई भी माध्यम गुरु रूप से वरेण्य है। इसी कारण उन्होंने कीट पतंग को भी गुरु माना।

उनका विचार था कि जिससे शोक, मोह, क्रोध, राग, कायरता, श्रम आदि

की प्राप्ति हो, ऐसे धन और जीवन की इच्छा बिलकुल न करे। अजगर की भाँति सन्तोष ग्रहण करने से चित्त प्रसन्न रहता है। मधुमक्खी मधुसंचय करती है किन्तु दूसरे उसका उपयोग करते हैं।[170] अतः संचय कष्टप्रद होने से त्याज्य है। अतः मनुष्य को चाहिए कि नाना भोग सामग्रियों से चित्तवृत्ति को हटाकर सुख-दुःख, हानि-लाभ, सुविधा-असुविधा, सरस-नीरस आदि का भेद भुलाकर स्वयं को इन समस्त भावनाओं से उच्च श्रेणी में स्थित कर दे, तभी वह मोक्ष-रूपी सच्चे सुख का उपभोग कर सकेगा।[171]

8. याज्ञवल्क्य

महर्षि याज्ञवल्क्य अपने समय के सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवित्, शास्त्रवेत्ता और महान् संन्यासयोगी ब्राह्मण थे। वृहदारण्यकोपनिषद् के अध्ययन से याज्ञवल्क्य की दार्शनिक महत्ता एवं सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है। इनकी वाणी में एक ऐसा लोकोत्तर प्रभाव था कि प्रतिवादी अपने प्रश्नों का समुचित उत्तर पाकर प्रसन्न होते थे। राजा जनक के यज्ञ मण्डप में उपस्थित कुरु पंचाल देश के अनेक ब्रह्मज्ञानियों को याज्ञवल्क्य ने परास्त किया था।[172]

याज्ञवल्क्य ने अपने साधना मार्ग में अपनी पत्नी मैत्रेयी को भी दीक्षित किया था। दीक्षा के समय याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो ब्रह्मज्ञान प्रदान किया वह बेजोड़ है। उन्होंने कहा—"हे मैत्रेयी ! धन, सन्तान, भौतिक ऐश्वर्य मनुष्य का पामार्थिक श्रेय करने वाले नहीं हैं। ये सब नश्वर है और मनुष्य के निःश्रेयस के प्रतिबन्धक हैं।[173] यह उपदेश देकर याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को संन्यास मार्ग में दीक्षित कर लिया। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार समस्त स्पर्श त्वचा में केन्द्रीभूत होते हैं—अथवा सारे विचार मन में समा जाते हैं, वैसे ही संसार की सब चीजें आत्मा में केन्द्रीभूत होती हैं।[174]

याज्ञवल्क्य अद्वैत मत मानने वाले थे। अमरता की प्राप्ति के लिए उन्होंने कहा था कि आत्मा के श्रवण, मनन व निदिध्यासन से ही उस तत्व का व्यापक ज्ञान सम्भव है तथा इसी के अनुभव से अमरत्व प्राप्त हो सकता है।[175]

ऐसे बेजोड़ ब्रह्मज्ञ होते हुए भी उन्हें अहंकार छू तक नहीं गया था। जनक ने अपनी सभा में घोषणा की कि जो स्वयं [illegible] में घम[illegible] मझता हो, वह स्वर्णमण्डित सींगों वाली सहस्र गौएँ ले जाए। [illegible] भी विद्वान् तैयार न हुआ तो याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य को गाय हाँककर ले जाने का आदेश दिया और कहा कि ब्रह्मज्ञानी को तो मैं प्रणाम करता हूँ किन्तु गायों की आना मुझे हैं।[176] इससे स्पष्ट होता है कि धन-सम्पत्ति व ऐहिक ऐश्वर्य के मध्य रहकर भी संन्यासयोगी और ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य अनाकृष्ट व अस्पष्ट थे। मैत्रेयी व कात्यायनी उनकी पत्नियाँ थीं। गृहस्थाश्रम में रह कर ही उन्होंने संन्यासयोगी का

जीवन व्यतीत किया। बाद में मैत्रेयी के साथ ही वे अरण्य में रहने लगे। ऐसे उत्तम संन्यासयोगी का जीवन आदर्श जीवन है।

9. जनक

राजर्षि जनक का नाम भारतीय साहित्यवेत्ता के लिए अपरिचित नहीं है। वे मूलतः राजा होते हुए भी स्वभाव, चरित्र और विचारों से पूर्ण संन्यासयोगी थे। उनका विदेह नाम उनके इसी वैराग्य भाव और संन्यासयोग की ओर इंगित करता है। जो देह में रहते हुए भी देहाभिमान से रहित हो, उसे विदेह कहते हैं। इसी प्रकार को राजा होते हुए ऋषिवत् आचरण करे, उसे राजर्षि कहते हैं। राजा जनक राजर्षि थे, विदेह थे और थे उत्कृष्ट संन्यासयोगी। संन्यासयोग का आचरण किसी आयु, काल, स्थान, आश्रम आदि की अपेक्षा नहीं करता। वैराग्य भाव दृढ़ होने पर अनासक्त भाव का आना ही तो संन्यासयोग है।

राजर्षि जनक अपने समय के प्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता थे। याज्ञवल्क्य, वामदेव, अष्टावक्र आदि अनेक विद्वान् इनकी सभा में एकत्र होकर शास्त्र चर्चा किया करते थे। शुकदेव जी भी इन्हीं के पास ब्रह्मविद्या के अध्ययन हेतु गए थे। जनक के दरबार में विद्वानों का समादर होता था।

यद्यपि वे राजा थे, अथाह धन-सम्पत्ति के स्वामी, अनेक पत्नियों के पति थे किन्तु राजमद उन्हें स्पर्श नहीं कर पाया। वासना, लोभ, परिग्रह से भी दूर थे। इसी कारण वे कहते थे कि 'मिथिलाया प्रदाह्यायां न मे किंचन दह्यते'। अतः ऐसे संन्यासयोगी का जीवन अनुकरणीय रहेगा।[177]

10. शुकदेव

शुकदेव जाबालि मुनि की कन्या चेटिका या पिंगला के गर्भ से उत्पन्न भगवान् वेदव्यास की सन्तान थे। इनके जन्म के विषय में प्रचलित है कि ये बारह वर्ष गर्भ में रहे और वेद, वेदांग, धर्मशास्त्र, मोक्ष शास्त्रादि का गर्भ में ही श्रवण करके अभ्यास कर लिया। व्यास जी के आश्रम में यदि पाठ में कोई भूल हो जाती तो ये गर्भ से ही डाँट देते थे। गर्भ के बढ़ने से होने वाली पीड़ा के कारण माता खिन्न थी। व्यास जी ने गर्भस्थ बालक से पूछा—"तुम कौन हो?" बालक ने कहा—"चौरासी लाख योनियों में भ्रमण के पश्चात् कैसे बता सकता हूँ कि मैं कौन हूँ?" व्यास जी ने गर्भ से बाहर आने को कहा तो उन्होंने कहा—"संसार में घूमते-घूमते मुझे विरक्ति हो गई है। बाहर आते ही माया के स्पर्श से वैराग्य नष्ट हो जाएगा।" व्यास जी के द्वारा सांसारिकता से दूर रखने का आश्वासन देने पर वे गर्भ से बाहर आए और वन को चल पड़े। पिता द्वारा आश्रम धर्म निर्वाह करने का उपदेश देने पर कहा—"यदि ब्रह्मचर्य से मोक्ष होता तो नपुंसकों को सदा

प्राप्त होता रहता, गृहस्थाश्रम में मोक्ष होता तो संसार ही मुक्त हो जाता। वानप्रस्थ से मोक्ष होता तो अरण्यवासी मृगों को सर्वप्रथम मिलता और यदि संन्यास से मोक्ष मिलता तो दरिद्र सभी मुक्त हो जाते। यदि पुत्र से मोक्ष मिलता तो शूकर-कुक्कुर आदि को अवश्य प्राप्त होता। किन्तु ऐसा नहीं है। अतः मुझे सांसारिक प्रपंच में पड़ने में कोई लाभ नहीं दृष्टिगत होता।" यह कह कर वे वन को चले गये।[178] बाद में व्यास जी ने उन्हें बुलाकर उपदेश दिया। इन्होंने देवगुरु बृहस्पति को गुरु बनाकर उनसे वेद, वेदांग, इतिहास आदि का अध्ययन किया। फिर योगशास्त्रों का अध्ययन करके विदेह जनक से साधना सीखी तथा हिमालय में जाकर कठोर साधना में प्रवृत्त हो गए। ये जन्मना संन्यासी थे। आज भी इन्हें जीवनमुक्त और चिरंजीवी कहा जाता है। स्वामी चरणदास ने अपने ग्रन्थ भक्तिसागर में इन्हें अपना गुरु स्वीकार किया। है। कहा जाता है कि इन्होंने स्वामी चरणदास को योग की शिक्षा प्रदान की थी। इन्होंने ही राजा परीक्षित को शापकाल में श्रीमद्भागवत् पुराण की पवित्र कथा सुनाई थी। संन्यासयोगियों में इनका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

11. दाशरथि भरत

दशरथ के पुत्र भरत को भी संन्यासयोगी कहा जाता है। कैकेयी के पुत्र भरत ने जिस आदर्श को प्रस्तुत किया है, वह स्पृहणीय है। ऐसे ही महान् चरित्रों से इस पृथ्वी को वसुन्धरा कहा जाता है।

दाशरथि भरत को अनायास अयोध्या का साम्राज्य प्राप्त हो गया किन्तु एक पल भी सोचे बिना उसका त्याग कर दिया। यही नहीं चौदह वर्ष तक भाई की धरोहर की रक्षा की। राज्य के स्वामी होकर तपस्वी का जीवन जीना तथा राज-मद् से सर्वथा रहित होना अत्यन्त कठिन होता है। उन्होंने अपने कर्त्तव्य का निर्वाह भी साधुवृत्ति से किया। किसी प्रकार का भी विकार उनके हृदय में नहीं आया। जिस प्रकार तलवार की धार पर चलकर अक्षत रह पाना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार सर्वैश्वर्ययुक्त होने पर भी काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, परिग्रह आदि से मुक्त रह पाना सम्भव नही है। किन्तु भरत ने यह सम्भव करके दिखा दिया है। ऐस सन्यासयोगी पर भारतवर्ष को गर्व है।

12. आचार्य शंकर

अर्वाचीन संन्यासयोगियों में आचार्य शंकर का नाम प्रमुख है। वेदान्त में संन्यास-धर्म और संन्यासयोग की स्थापना आचार्य शंकर ने ही की है। यद्यपि प्रस्थान-त्रयी में संन्यास का उल्लेख निःश्रेयस के प्रमुख उपाय के रूप में अनकेशः हुआ है किन्तु संन्यासयोग का युक्तियुक्त प्रतिपादन आचार्य शंकर ने ही किया

है। केवल प्रतिपादन ही नहीं, व्यवहार में अपने जीवन में उसका पालन भी किया है।

जिस समय भारतवर्ष वेद विरोधी साम्प्रदायिक तत्वों से आक्रान्त हो रहा था तथा वैदिक मर्यादाएँ कर्मकांड तक ही सीमित होकर रह गई थीं, उस समय त्रिशूल-पाणि शंकर के वरदान से आचार्य शंकर का आविर्भाव हुआ। केरल प्रान्त के कालड़ी ग्राम में एक वेदज्ञ ब्राह्मण शिव गुरु व उनकी पत्नी विशिष्टा के घर शंकर ने आठवीं शती में जन्म लिया। सात वर्ष की आयु में शंकर ने वेदों का सांगोपांग अध्ययन किया। आठ वर्ष की आयु में आचार्य गौडपाद के शिष्य गोविन्द भगवत्पाद से संन्यासदीक्षा ग्रहण की। बारह वर्ष की आयु तक ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् आदि ग्रन्थों का पारायण किया। उसके पश्चात् वाराणसी चले गये। फिर बदरिकाश्रम जाकर चार वर्ष रहे। वहीं उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र आदि पर भाष्य रचना की तथा विवेक-चूड़ामणि आदि स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन किया। इसके अनन्तर बारह वर्ष तक पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण सम्पूर्ण भारत में भ्रमण कर नास्तिक मत का खण्डन किया तथा वैदिक मत की स्थापना की। चारों दिशाओं में चार मठ की स्थापना करके भारतवर्ष में एकता का सूत्रपात किया । 32 वर्ष की अल्पायु में ही देहत्याग कर परमधाम सिधार गए।

आचार्य शंकर आजीवन संन्यासी रहे। संन्यासयोग का पूर्ण पालन उनके जीवन में परिलक्षित होता है। स्त्रियों को उन्होंने साधना पथ में बाधक माना है। इसीलिए उन्हें नरक का द्वार कहा है। स्त्रियों को बन्धनपाश तथा भोग समुद्र में डुबाने वाली कहा है। क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुष को भी कामकलित करने वाली नारी ही है।

वैराग्य की मूर्ति आचार्य शंकर ने अपने जीवन को आदर्श संन्यासयोगी के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने संसार का उपकार करते हुए जो कर्म सम्पादित किए, वे उनके लिए बन्धनकारक नहीं हुए। ऐसे कुशल कर्मों के कर्ता आचार्य शंकर ने संन्यासयोग का व्यावहारिक पक्ष अत्यन्त सुन्दर रूप में जगत् के सम्मुख रखा। ऐसे महान् चरितनायकों पर भारत को गर्व है।

13. स्वामी दयानन्द

आधुनिक संन्यासयोगियों के गणना प्रसंग में सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द का नाम उपस्थित होता है। स्वामी दयानन्द बाल्यकाल से ही वीतराग होकर गृह त्याग करके चल पड़े। सच्चे शिव की खोज में उस बालक मूलशंकर ने न जाने कितने कष्ट झेले ? भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि की चिन्ता किए बिना वह धुन का पक्का बालक निरन्तर चलता ही रहा। स्वामी पूर्णानन्द से हरिद्वार में संन्यास लेकर

स्वामी दयानन्द सरस्वती के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

गुजरात के मौरवी प्रान्त के टंकारा नामक स्थान में जन्में इस संन्यासयोगी ने अपने चरित्र से विश्व को आश्चर्यचकित कर दिया। वेद की प्रचलित व्याख्याओं से हटकर वेद की एक नई व्याख्या की तथा वेदज्ञान को चारों वर्णों व स्त्रियों के लिए सुलभ कर दिया। स्त्रियों को समान अधिकार, शूद्रों का उन्नयन आदि सामाजिक चेतना के कार्य उन्हीं की देन है। वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था के पक्षधर स्वामी दयानन्द ने सामाजिक पुनर्निर्माण का कार्य करके समाज को एक नई दिशा दी। उनका स्पष्ट मत था कि सब ईश्वर की सन्तान हैं। अत: सबको समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए। कर्मानुसार वर्णव्यवस्था को उन्हीं के द्वारा पुर्नस्थापित किया गया।

स्वामी दयानन्द उन संन्यासियों में थे जिन्होंने वसुधा को कुटुम्ब बनाकर भी सदा एकाकी विचरण करना श्रेयस्कर समझा। वे नि:स्वार्थ भाव से अपने कर्तव्य पथ पर बढ़ते रहे।

उनके जीवन से मृत्यु का भय समाप्त हो चुका था। वे अभय थे। यही कारण था कि तात्कालिक अंग्रेज सरकार के सम्मुख उनके शासन की शीघ्रातिशीघ्र भारत भूमि से समाप्त होने की अपनी इच्छा को प्रकट कर देते थे। उन्हें अनेक बार विष दिया गया किन्तु वें भयभीत नहीं हुए तथा अपने कल्याणमार्ग को नहीं छोड़ा। वे 'नाभिनन्देत मरणं नाभिनदेत जीवितम्' के सिद्धान्त पर अडिग थे।

उनका व्यक्तित्व, साहस व बल अत्यन्त उत्कृष्ट था। उनके सम्मुख आकार दुरात्मा का साहस टूट जाता था। उनका ब्रह्मचर्य का तेज अप्रतिम था। प्रतिपक्षियों का धैर्य समाप्त हो जाता था तथा वे इनके अनुयायी बन जाते थे। कर्मयोगी स्वामी दयानन्द का चरित्र उन श्रेष्ठ संन्यासयोगियों की श्रेणी में आता है, जिन्होंने निज कर्त्तव्य का निष्काम भाव से सम्पादन किया तथा कुशल कर्म करके परमधाम को चले गए। ऐसे वीतराग महापुरुषों से ही यह पृथ्वी रत्नगर्भा और वसुन्धरा कहलाती है।

14. स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द का जन्म कलकत्ता में सन् 1863 में प्रसिद्ध दत्त परिवार में हुआ। उनका जन्म नाम नरेन्द्र दत्त था। पिता श्री विश्वनाथ दत्त तथा माता भुवनेश्वरी कलकत्ता के प्रसिद्ध वकील दुर्गाचरण दत्त की वंश परम्परा में थे, जिन्होंने पच्चीस वर्ष की आयु में ही संन्यास ग्रहण कर लिया था। नरेन्द्र का बचपन विविध क्रियाकलापों में शान्तिपूर्वक बीता। 18 वर्ष की आयु में उनका परिचय परमहंस रामकृष्ण देव से हुआ जो उनके जीवन के प्रेरणास्रोत बन

गए !

रामकृष्ण देव माँ जगदम्बा के भक्त थे। उन्होंने नरेन्द्र में अद्भुत प्रतिभा के दर्शन किए। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के द्वारा भी नरेन्द्र को आशीर्वाद प्राप्त होता रहता था। रामकृष्ण देव ने उनमें शक्तिपात किया और नरेन्द्र का जीवन साधना पथ पर पूर्णरूपेण अग्रसर हो गया। फलस्वरूप उन्होंने रामकृष्ण देव से संन्यास ग्रहण किया और स्वामी विवेकानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। सन् 1886 में गुरु रामकृष्ण देव के देहत्याग करने के पश्चात् वे भारत भ्रमण के लिए परिव्राजक वेश में निकल पड़े।

शिकागो में धार्मिक महासम्मेलन में भाग लेने के लिए गए तथा वहाँ हिन्दू धर्म का ध्वज फहराया। उन्होंने अमेरिका व इंग्लैण्ड में धर्मप्रचार किया। भारत भूमि पर लौटने के पश्चात् समाज की दुर्गति से दुःखी होकर सामाजिक परिष्कार हेतु कार्यरत हो गए। उन्होंने शूद्र और उपेक्षित वर्ग के उत्थान हेतु सेवाश्रमों की स्थापना की। रामकृष्ण मिशन की स्थापना के पीछे भी उनका 'बहुजन सुखाय बहुजन हिताय' आदर्श काम कर रहा था। उन्होंने वेदान्त-मत का प्रचार किया।

स्वामी जी का विचार था कि हम सब समान हैं। उन्होंने स्वयं अपने हाथों से अनेक शूद्रों को गंगा स्नान कराके यज्ञोपवीत प्रदान किया तथा गायत्री जप करने का निर्देश दिया। उन्होंने सत्यकर्त्तव्य करने की प्रेरणा देकर कर्म पर आधारित वर्णव्यवस्था की पुष्टि की। ब्रह्मचारियों व संन्यासियों के आदर्शों का उल्लेख करके वे अपने शिष्यों को उत्साहित करते रहते थे। उन्होंने सन् 1902 में देहत्याग कर दिया।

उनका निःस्वार्थ सेवी एवं त्यागमय जीवन संसार के समक्ष आदर्श बनकर आज भी प्रेरणा प्रदान कर रहा है। न केवल आध्यात्मिक बल्कि भौतिक दृष्टि से भी भारत भूमि को उत्कृष्टता एवं गौरव प्रदान करने के लिए उन्होंने अनवरत प्रयास किया। उन्हीं के आदर्शों को पूर्ण करने के उद्देश्य से उनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन आज भी सेवारत है। "मनुष्य मात्र में प्रेम व स्नेह भाव, केवल अपने लिए नहीं, सभी भाइयों के कल्याण के लिए होना चाहिए, तभी हम उन्नति पथ पर अग्रसर होंगे।" ऐसे उन्नत विचारक स्वामी विवेकानन्द जैसे आदर्श संन्यासयोगी का चरित्र हमें निरन्तर संन्यासयोग की साधना की ओर अग्रसर करने में प्रेरणा प्रदान करता है।[179]

15. श्यामाचरण लाहिड़ी

श्यामाचरण लाहिड़ी का जन्म 30 सितम्बर, 1828 ई० को बंगाल के नदिया जिले के घुरणी ग्राम में श्री गौरमोहन लाहिड़ी व श्रीमती मुक्तकाशी देवी के घर

हुआ। उनका बाल्यकाल वहीं बीता किन्तु बाद में परिवार वाराणसी आ गया।

श्यामाचरण स्वभाव से परोपकारी, विनम्र और साहसी युवक थे। सन् 1846 में श्री देवनारायण सान्याल की कन्या काशीमणि के साथ इनका विवाह हो गया। उनके दो पुत्र व दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। 1851 में वे सैनिक इंजीनियरिंग विभाग में एकाउन्टेंट पद पर नियुक्त हो गए। उन्होंने अपने दायित्व को पूर्णरूपेण निर्वाह करते हुए अनासक्त भाव से जीवनयापन किया।

?3 वर्ष की आयु में उनकी अनायास ही हिमालय के अंचल रानीखेत में बाबाजी से भेंट हुई तथा बाबाजी ने उन्हें 'क्रियायोग' की दीक्षा दी। बाबाजी ने विभिन्न घटनाओं द्वारा अपने शिष्यों को प्रभु विश्वासी तथा गुरुभक्त बनाया। एक बार एक व्यक्ति ने कहा कि मुझे शिष्य ग्रहण कर लो अन्यथा मैं पर्वत से नीचे कूद कर प्राण त्याग कर दूँगा। बाबाजी ने कहा कूद जाओ। अभी तुम शिष्य के रूप में स्वीकार करने योग्य नहीं हो। वह कूद गया। बाबा ने उसे पुनः जीवित करके शिष्य स्वीकार किया। ऐसे ही एक शिष्य के कंधे पर जलती लकड़ी रखकर उसके कर्मफल भोग को नष्ट किया। ऐसे गुरु के शिष्य थे लाहिड़ी महाशय।[180]

रानीखेत में बाबा जी से भेंट की भी एक कहानी है। तब लाहिड़ी महाशय दानापुर में ही सेवारत थे। अचानक 1861 में एक दिन मैनेजर ने बुलाया और कहा कि प्रधान कार्यालय से तार आया है। तुम्हारा स्थानान्तरण रानीखेत हो गया है। वे रानीखेत पहुँचे। एक दिन उन्हें ऐसा लगा कि कोई उनका नाम लेकर पुकार रहा है। वे उधर ही पर्वत पर चढ़कर चले गए। ऊपर एक समतल स्थान पर प्रस्तरखण्ड पर एक युवक को बैठे देखा। उन्होंने बताया कि मैंने ही तुम्हें बुलाया है। गुफा में विश्राम करो। गुफा में जाने पर कम्बल, कमण्डलु देखें तो बाबा ने पूछा कि इन्हें पहचाना ? सिर पर हाथ रखते ही स्मृति जाग उठी और लाहिड़ी महाशय को अपने पूर्वजन्म के साधनास्थल की स्मृति हो आई। उसके पश्चात् बाबाजी ने उन्हें क्रियायोग की दीक्षा दी।

वे गृहस्थ में रह कर भी अनासक्त थे। पारिवारिक बन्धनों और भारी सांसारिक कर्त्तव्यों से दबे लोगों को उनके समान ही गृहस्थ जीवन जीने वाले लाहिड़ी महाशय के जीवन से प्रेरणा प्राप्त होती थी कि यौगिक उपलब्धियाँ गृहस्थों के लिए दुष्प्राप्य नहीं हैं। उनके लिए संसार का परित्याग अनिवार्य नहीं है। मुक्ति का आधार तो आन्तरिक वैराग्य है, न कि बाह्य त्याग। इसीलिए बाबाजी ने आदेश किया कि जो ईश्वरलाभ के लिए सब कुछ त्याग करने का संकल्प करता है, वही ध्यान के विज्ञान द्वारा अन्तिम रहस्य को अनावृत करने के योग्य है। अतः योग्य साधक को ही क्रिया कुंजी प्रदान करनी चाहिए। लाहिड़ी ने बाबाजी के अदेश का पालन करते हुए शेष जीवन बिताया।

सन् 1895 में लाहिड़ी महाशय ने शरीर त्याग दिया। उनका जीवन

सचमुच एक उत्कृष्ट संन्यासयोगी का आदर्श रूप था।

विभिन्न दर्शनों में संन्यास की चर्चा

प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों मार्ग अनन्त काल से अभ्युदय और निःश्रेयस के साधनरूप में मनीषियों के द्वारा परिभाषित और आचरित किए जाते रहे हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) इन षड्दर्शनों में किसी-न-किसी रूप में संन्यास की चर्चा हुई है। उपनिषदों में जिस श्रेयस् और प्रेयस् की चर्चा हुई है, उसी को विभिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है। प्रेयस् आपात रमणीय होता है और श्रेयस् नित्य भूतिकारक है। नित्य सुख की अभिलाषा में विचारशील ऋषि और मुनि आपात रमणीय प्रेयस् की अपेक्षा श्रेयस् के आचरण पर जोर देते रहे हैं। श्रेयस् की प्राप्ति निष्कामकर्मरूप संन्यासयोग से ही सम्भव है। सकाम कर्म प्रेयस् की प्राप्ति कराते हैं। यह सर्वदर्शन मान्य तथ्य है।

1. न्याय दर्शन

न्याय के अनुसार अनर्थ की परम्परा मिथ्या ज्ञान से प्रारम्भ होती है किन्तु इस अनर्थ के हेतुभूत मिथ्याज्ञान का ज्ञान पुरुष को सीधे नहीं होता अपितु दुःखभोग से होता है। मिथ्याज्ञान संसाररूपी वृक्ष का बीज है, जिस पर दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख ये अनिष्टकारक फल लगते हैं। दुःख परिहार ही मानव जीवन का लक्ष्य है। न्याय का मत है कि परमश्रेय सुख की प्राप्ति में नहीं अपितु दुःख की निवृत्ति में है। यदि सुख की प्राप्ति के लिए कर्म करने में समय लगाया जाएगा तो उसके साथ दुःख भी स्वतः आ जाएगा क्योंकि सुख सदैव दुःख मिश्रित है। इसलिए संसार को दुःखमय बताया गया है, यद्यपि वह यदा-कदा सुखमय प्रतीत होता है। इस प्रतीति का कारण मिथ्या ज्ञान ही है।

दुःख का कारण जन्म है। दुःख भोग के लिए ही हम नाना योनियों को धारण करते हैं। जन्म प्रवृत्ति का परिणाम है। प्रवृत्ति चाहे शुभ कर्मों में हो या अशुभ कर्मों में, वह जीव को संसाररूपी पाश में जकड़ती ही है। शुभ कर्म करने पर देवादि उत्तम योनियों में जन्म लेंगे तथा अशुभ कर्म करने पर मनुष्य, पशु, पक्षी आदि निम्न योनियों को धारण करेंगे। इस प्रकार सब प्रकार की प्रवृत्ति संसार-श्रृंखला में बाँधने वाली ही होती है। अतः सभी प्रकार की प्रवृत्ति त्याज्य है। क्योंकि जीवन आत्मा का एक रोग है, इसे छोड़ने पर ही वह स्वास्थ्य लाभ कर पाएगा।

प्रवृत्ति दोषवशात् होती है। राग-द्वेष और मोह में प्रमुख दोष हैं, जो जीव को

शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। क्रोध, ईर्ष्या, दुर्भावना, घृणा और निष्ठुरता आदि दोष द्वेष के अन्तर्गत आते हैं। राग के अन्तर्गत वासना, लोभ, तृष्णा, स्पृहा आदि हैं और मिथ्या-बोध, संशय, अहंकार और प्रमाद आदि दोष मोह के अन्तर्गत आते हैं। इनमें मोह सबसे अधिक प्रबल दोष है। क्योंकि इसी से राग और द्वेष पुष्ट होते हैं।[181]

उक्त दोषों की उत्पत्ति मिथ्याज्ञान से होती है। मिथ्याज्ञान का अर्थ है आत्मा का सुःख-दुःख के स्वरूप को ठीक तरह न समझना। इसी को योग में विपर्यय कहा गया है, जिसका स्वरूप अतद्रूप में प्रतिष्ठित होता है।[182]

अनर्थ की इस परम्परा का नाश मानव जीवन का लक्ष्य है, जिसका प्रारम्भ मिथ्याज्ञान से होता है और समाप्ति दुःख में होती है। सबसे पहले मिथ्याज्ञान ही दूर करने योग्य है। मिथ्याज्ञान नहीं होगा तो दोष भी नहीं होंगे। दोषों के नष्ट होने पर प्रवृत्ति का कोई आधार नहीं रह जाएगा। प्रवृत्ति के अभाव में जन्म की भी सम्भावना नहीं रहेगी। जन्म के दूर होने का अर्थ है, दुःखों का सदा-सदा के लिए अन्त हो जाना।

न्याय के प्रवृत्ति और निवृत्ति विषयक सिद्धान्त का सार इस सूत्र में छिपा हुआ है :

> 'दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्या ज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्त-रायायादपवर्ग:'।[183]
>
> मिथ्याज्ञान से प्रारम्भ करके दुःख पर्यन्त सभी कुछ हेय है।[184]

न्याय का मत है कि मनुष्य जब तक कर्म करने में व्यापृत रहता है, तब तक राग और द्वेष दोनों का उस पर शासन रहता है। उस अवस्था में वह परम श्रेय की प्राप्ति नहीं कर सकता। द्वेष प्रत्येक अवस्था में द्वेष ही रहता है, चाहे वह दुःख के प्रति ही क्यों न हो। इसी प्रकार सुख के प्रति राग भी राग ही है। राग-द्वेष किसी भी दशा में श्रेयस्कर नहीं है। राग-द्वेष से प्रार्थक्य का भाव जागरित होता है जो हमें परमश्रेय से दूर रखता है। जब जीवन इन राग-द्वेष के दोषों पर विजय पा लेता है, तब उसकी प्रवृत्ति पुनर्जन्म का कारण नहीं होती।[185]

जिस राग-द्वेष पुरुष देह धारण करते हुए भी कर्म कर सकता है और कर्मों के बन्धन से दूर रह सकता है। जब तक हममें पृथकत्व का भाव है, तब तक हम कार्य करते हुए चाहे इन्द्र पद को क्यों न प्राप्त कर लें, फिर भी संसार चक्र से बँधे ही रहेंगे क्योंकि इन्द्रपद भी तो विनाशशील है। उसकी अवधि बीतने पर फिर जन्म धारण करना पड़ेगा। अतः पृथकत्व भाव से सर्वथा मुक्त होकर ही परम श्रेय की उपलब्धि सम्भव है। गुण और अवगुण दोनों का निश्शेषीकरण आवश्यक है, जिससे पुनरावर्तन की सम्भावना ही न हो सके।[186]

न्याय के मतानुसार तत्वज्ञान से ही कर्मबन्धन से मुक्ति होती है। यह तत्वज्ञान केवल ग्रन्थों से प्राप्त नहीं होता अपितु स्वाध्याय और चिन्तन के साथ-साथ यौगिक क्रियाएँ भी आवश्यक हैं।[187] उद्योतकर ने स्वाध्याय, दार्शनिक विवेचन और ध्यान का आदेश दिया है।[188]

कभी-कभी सांसारिक सुखों से दूर रहने, समस्त इच्छाओं को त्याग देने तथा अरण्य में जाकर सब प्रकार के भौतिक कर्मों की आहुति देने का भी आदेश न्याय में दिया गया है। शान्ति तथा सुख के लिए भक्ति को भी उपादेय बताया गया है।[189]

2. वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन में कर्त्तव्य कर्मों को धर्म की संज्ञा दी गई है। धर्म से सांसारिक वैभव व निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति हो सकती है। सांसारिक वैभव यज्ञीय कर्म-काण्ड का परिणाम है किन्तु निःश्रेयस तत्वज्ञान से होता है। तत्वज्ञान भी धर्म ही हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि वैशेषिक के अनुसार ज्ञान और कर्म दोनों का समावेश धर्म में होता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि वैशेषिक मत में धर्म का अर्थ केवल सदाचार नहीं है। धर्म वह तत्व है जो मनुष्य की आत्मा में रहता है, बाह्य कर्मों में नहीं। धर्म अतीन्द्रिय है। इसका क्षय भोग से होता है। मोक्ष के लिए धर्म का क्षय होना परमावश्यक है। कोई भी सुख चिरस्थाई नहीं होता, चाहे वह ब्रह्मा का ही सुख क्यों न हो। धर्म से अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति होती अवश्य है।[190] किन्तु निःश्रेयस से पहले धर्म का क्षय अवश्य हो जाना चाहिए। अन्यथा यह संसार-चक्र में ही घूमता रहेगा।

धर्म के इसी स्वरूप को दृष्टि में रखकर वैशेषिक दर्शन के आचार्यों ने संन्यास का स्वरूप निर्धारित किया है। किसी भी कर्म से धर्म का संचय यह सोचकर करना चाहिए कि यह ससार में बाँधने वाली एक रज्जु है। उपनिषद् में भी कर्मों को अदृढ प्लव कहा गया है।[191] अतः लोकोपकार की दृष्टि से कर्म-संग्रह भले ही किया जाए, कभी भी आत्मसुख के लिए इनका संग्रह नहीं करना चाहिए। जब तक हम शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान अपनी उन्नति को दृष्टि में रखकर करते हैं, तब तक निःश्रेयस पद हमसे दूर ही रहेगा।

संन्यासी के कर्मों का निर्धारण करते हुए आचार्य श्रीधर कहते हैं कि सार्व-भौम उपकार का व्रत लेने वाला पुरुष ही वास्तविक संन्यासी है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश किए बिना भी पुरुष संन्यास धारण कर सकता है और गृहस्थ में रहकर भी संन्यासी कहला सकता है।[192]

वैशेषिक मत में संन्यासी वह नहीं है जिसने संसार और सांसारिक व्यवहारों

का सर्वथा त्याग कर दिया है अपितु वास्तविक संन्यासी वह है जिसने सार्वभौम उपकार का व्रत ले लिया है।[193]

कर्म दो प्रकार के हैं—स्वेच्छाकृत और अनैच्छिक। इन्द्रियों के जो सहज कर्म हैं, जो हमारी इच्छाओं के बिना भी किए जाते हैं, वे अनैच्छिक कर्म हैं। जो कर्म किसी दृश्य परिणाम की इच्छा से किए जाते हैं, वे स्वेच्छाकृत-कर्म हैं। इनमें स्वेच्छाकृत-कर्म ही बन्धन के कारण हैं। संन्यासी को इनका त्याग कर देना चाहिए। मोक्ष आत्म संयम से प्राप्य है और यह आत्मसंयम स्वेच्छाकृत कर्मों का त्याग करते हुए, केवल सहज कर्मों का ही आचरण करते हुए योगाभ्यास द्वारा ही सम्भव है।[194]

स्वेच्छाकृत कर्मों में हिंसा होती है और हिंसा से बड़ा कोई अधर्म नहीं होता। अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है और यह धर्म संन्यासी के द्वारा ही आचरणीय हो सकता है।

3. सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन पूर्णतया ज्ञानमार्ग का अवलम्बन करता है और कर्मकाण्ड को निःश्रेयस के लिए सर्वथा अनुपयोगी स्वीकार करता है। कर्ममार्ग परमश्रेय के लिए अनुपयोगी ही नहीं प्रत्युत महान् अनर्थ का भी जन्मदाता है। कर्म त्याग ही मोक्ष का निरापद पथ है। इस कर्मत्याग का पक्ष स्वीकार करते हुए सांख्य को आनुश्रविक क्रियाकलापों से भी कटु अरुचि हो गई है। वैदिक कर्मकाण्ड में भी अशुद्धि, क्षयित्व और अतिशय नाम के घोर दोष सांख्य की दृष्टि में सम्भावित हैं।[195] केवल ज्ञान से ही मुक्ति होती है। यह ज्ञान व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष तत्व से सम्बन्ध रखता है।[196] जब पुरुष यह जान लेता है कि यह व्यक्ताव्यक्त प्रपंच मैं नहीं हूँ, यह मेरा नहीं है, अहंभाव भी मिथ्या है, तब वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[197]

सांख्य के अनुसार सभी प्रकार के कर्म बन्धन में डालने वाले होते हैं। चाहे वे पुण्य कर्म हों या दुष्कर्म। दुष्कर्मों से तो अधोगति होती ही है। पुण्य कर्मों से भी परमलक्ष्य दूर ही रहता है। पुण्यकर्मों के परिणामस्वरूप पुरुष देवादि उच्च लोकों में जन्मधारण कर परमैश्वर्य का भोग करता है। जिन कर्मों से जन्मधारण करना पड़े, वे कर्म निःश्रेयस तक नहीं पहुँचा सकते।

अब रही निःस्वार्थ या निष्काम कर्मों की बात। ऐसे कर्म भी साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं कराते अपितु वे परम्परया मोक्ष में सहायक होते हैं। बन्धन का कारण अज्ञान या मिथ्या ज्ञान है। यह मिथ्या ज्ञान अशक्ति तथा अयोग्यता से उत्पन्न होता है। निस्वार्थ कर्म इसी अशक्ति को दूर करने में सहायता करते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि सांख्य दर्शन अकर्मण्यता का उपदेश

करता है। सांख्य दर्शन में जिस सत्वपुरुषान्यता ख्यातिरूप विवेकज्ञान से मोक्ष का अधिगम बताया गया है, वह ज्ञान ध्यानयोग और अनासक्ति भाव से प्राप्त होता है।[198] ध्यानयोग से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप विपर्यय ज्ञान क्षीण हो जाता है। उसी अवस्था में चित्त विवेकज्ञान को धारण करने का सामर्थ्य प्राप्त करता है। ध्यानयोग से चित्त पर पड़े हुए दोष-चिह्न दूर हो जाते हैं।[200] दूसरे शब्दों में यह ध्यानयोग या अनासक्ति भाव संन्यासयोग की ही पुष्टि कर रहा है। इसी बात को भगवान कृष्ण ने योगस्थ कर्म कहा है।[201]

यहाँ पर यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि सांख्यमत में संन्यासयोग या वैराग्य भी साक्षात् विवेकज्ञान प्राप्त नहीं कराता। संन्यासयोग भी चित्त शुद्धि में ही कारण है, मोक्ष में नहीं। वैराग्य से तो पुरुष प्रकृतिलय प्राप्त करता है।[201] प्रकृति के अन्दर विलय हो जाना परम मुक्ति नहीं है। क्योंकि प्रकृतिलीन आत्माएँ मोक्षतुल्य सुख का उपभोग करके पुनः ईश्वर अथवा प्रभुओं के रूप में प्रकट होती हैं। प्रकृतिलीन पुरुष आने वाली सृष्टि में आदि पुरुष बनता है जो सर्वज्ञत्व व सर्वकर्तृत्व आदि ऐश्वर्यों से युक्त होता है।[202] उस दशा में वह पुनः प्रयास करके विवेकज्ञान प्राप्त करता है और अपने शेष विपर्यय ज्ञान को दग्धबीज करके परमपद को प्राप्त करता है। इस प्रकार संन्यासयोग परम्परया मोक्ष का हेतु है।

4. योग दर्शन

महर्षि पतंजलि का योगसूत्र तो निखिल योग साधनाओं और योग पद्धतियों का सांकेतिक रहस्यपूर्ण संग्रह है। उसमें संन्यासयोग भी बीजरूप में निगूढ़ है। योग की कोई भी पद्धति क्यों न हो, चित्त की वृत्तियों का निरोध सर्वत्र अनिवार्य है। धारणा, ध्यान और समाधि प्रत्येक योगविद्या में आवश्यक है। इसीलिए पतंजलि ने किसी विशिष्ट योग का नाम न लेते हुए योग का सर्वमान्य लक्षण किया है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग पदवाच्य है।[203] वृत्तिनिरोध के तारतम्य पर ही योगसिद्धि का तारतम्य अवलम्बित है। जैसे-जैसे वृत्तियाँ निरुद्ध होती जाती हैं, तैसे-तैसे साधक युक्तयुज्जान योगरुढ़ सम्प्रज्ञातयोगी, असम्प्रज्ञातयोगी आदि योग भूमियों में प्रवेश करता जाता है। संन्यासयोग भी वृत्तिनिरोध का ही उपाय है। संन्यासयोग से जो वृत्तिनिरोध होता है, वह केवल आयु के चतुर्थ चरण में ही सम्भव नहीं है बल्कि वह तो जीवन के प्रत्येक चरण में प्रतिदिन और प्रति-क्षण की भावना से ही प्राप्य है।

विचार कर देखें तो संन्यास का उद्गम ही पातंजलयोग सूत्र से ही सिद्ध होता है। यम और नियम का पालन योग साधना का प्राण है। संन्यासयोग का तो वह आत्मा ही समझना चाहिए। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह

इन्हीं का नाम तो संन्यासयोग है। इनके प्रारम्भ में लगा हुआ जो निषेधवाचक 'नकार' है, वह कर्मत्याग का ही तो सूचक है। अहिंसा का अर्थ है—सब प्रकार से सब कालों में सब प्राणियों से द्रोह न करना।[204] यह हिंसा का त्याग हुआ। सत्य का अर्थ है—मिथ्या भाषण का त्याग। अस्तेय का अर्थ है—स्तेय का त्याग। स्त्री संसर्ग का परित्याग ब्रह्मचर्य है और संचय को छोड़ देने का नाम अपरिग्रह है। इसी प्रकार शौचादि नियमों में भी निषेधात्मक त्याग भावना ही प्रधान है। इस त्याग भावना पर ही तो संन्यासयोग का बहुआयामी भवन खड़ा हुआ है।

अब यहाँ प्रतिपक्षी आक्षेप कर सकता है कि एक ओर तो आप कर्म त्याग को संन्यासयोग की आत्मा कह रहे हैं और दूसरी ओर उसे अकर्मण्यता के दोष से भी बचाना चाहते हैं। तो यह कैसे सम्भव है ? संन्यासयोगी के कौन-कौन से कर्म करणीय हैं ? यह आपको बताना चाहिए। तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चित्त एक नदी के सदृश है जो दोनों ओर को बहती है—पाप की ओर भी और पुण्य की ओर भी।[205] जब यह विवेक और मोक्ष की दिशा में बहती है तो इसे पुण्य-दिग्वाहिनी कहा जाता है और जब यह संसार के चक्र में उलझकर अविवेक की ओर बहती है तो इसे पापदिग्वाहिनी कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कोई भी योग अकर्मण्यता का नाम नहीं हुआ। कर्म प्रत्येक योग में अपेक्षित है। संन्यासयोग भी इसका अपवाद नहीं, भले ही वहाँ कर्म त्याग की भावना प्रबल हो। अतः यहाँ महर्षि पतंजलि की दृष्टि से संन्यासयोगी के कर्मों का स्वरूप बताना नितान्त समीचीन होगा।

सभी प्रकार के कर्मों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण और अशुक्ल-अकृष्ण।[206]

श्रद्धा, ज्ञान, परोपकार, दया, दान आदि शुक्ल कर्म हैं जिन्हें धर्मप्रिय जन आचरण में लाते हैं। दुष्टकर्म कृष्णकर्म कहलाते हैं। जैसे परनिन्दा, गुरुद्रोह, विश्वासघात, परस्त्रीगमन, ब्रह्महत्या आदि। वैदिक धर्म जैसे यज्ञादि शुक्ल-कृष्ण कर्म कहलाते हैं क्योंकि एक ओर जहाँ इनसे पुण्यफल सुख प्राप्त होता है, वहीं दूसरी ओर प्राणविध भी उनमें अवश्य होता है। जिसके कारण कर्ता को दुःख भी अनचाहे मिलता है। जिन कर्मों से न पुण्य होता है और न पाप, ऐसे कर्म अशुक्ल-अकृष्ण कहलाते हैं। वीतराग संन्यासियों के कर्म में ही चतुर्थ कोटि के कर्म होते हैं। वे जो कर्म करते हैं, वे यह सोचकर नहीं करते कि मैं पुण्य कर रहा हूँ या पाप कर रहा हूँ और मुझे इसका फल प्राप्त होगा। उसके कर्म तो अनिच्छापूर्वक स्वतः होते रहते हैं। वीतराग संन्यासी से यदि भूल से किसी गुरुजन का अपमान भी हो जाए तो भी वह कर्म कृष्ण नहीं होता, अकृष्ण ही रहता है। यदि अनजाने में किसी का उपकार हो जाए तो भी वह कर्म शुक्ल न होकर अशुक्ल ही होता है

क्योंकि शुक्लता और कृष्णता का सम्बन्ध चित्त से होता है। संन्यासयोगी का चित्त तो लोकबाह्य हो चुका होता है।

5. पूर्व मीमांसा दर्शन

जैमिनीय मत में निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति को वरीयता दी गई है। वैशेषिक के समान जैमिनी भी धर्म को लौकिक एवं अलौकिक अभ्युदय का हेतु मानते हैं किन्तु जैमिनी की धर्म की प्रकल्पना वैशेषिक से भिन्न है। जैमिनी के अनुसार तो वेदों के आदेशात्मक प्रवृत्तिपरक वाक्य ही धर्म है। धर्म का लक्षण है—चोदना।[207] 'चोदना' कहते हैं वेदों के उन वाक्यों को जो किसी क्रिया में प्रवृत्ति कराने वाले हों।[208] जो वाक्य किसी कर्म में न तो प्रवृत्त करते हैं और न निवृत्ति करते हैं, ऐसे वेद वाक्य प्रामाणिक नहीं हैं।[209] क्योंकि वेदवाक्य क्रियार्थक हैं। इस प्रकार प्राचीन पूर्व मीमांसकों का यह मत था कि प्रवंतक वाक्य ही धर्म हैं और ये वाक्य यज्ञादि कर्मों में ही प्रवृत्त करने वाले हैं। अतः यज्ञादि कर्म ही धर्म हैं।[210] इस धर्म से मनुष्य ऐहिक और पालौकिक सुख-सम्पदा को प्राप्त कर सकता है। सुख ही मानव जीवन का लक्ष्य है। यह लक्ष्य कर्म निवृत्ति से अधिगम्य नहीं हो सकता। चोदनापूर्वक पुरुषार्थ ही इसके लिए अपेक्षित है।

विरोधी लोग पूछ सकते हैं कि वेदों के प्रवर्तक वचन 'चोदना' को अपने धर्म का लक्षण कैसे मान लिया? यह तो अन्धश्रद्धा हुई। इसके उत्तर में पूर्व मीमांसकों का कहना है कि वेदों पर अति श्रद्धा और अति विश्वास होना ही चाहिए क्योंकि वेद नित्य अपौरुषेय वचन हैं उनके सत्यत्व में शंका करना भी पाप है। वेद श्रद्धा, भक्ति और तप का ही सर्वप्रथम विधान करते हैं।[211]

उपर्युक्त प्रवृत्ति विषयक सिद्धान्त सभी पूर्व मीमांसकों का हो, ऐसी बात नहीं है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रवृत्ति मार्ग को हानिकारक भी बताया है। उनके अनुसार पवित्रतम कर्म भी जब स्वार्थ भावना से किया जाता है तो वह मोक्ष के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। कर्मकाण्ड हानिकारक इसलिए भी है क्योंकि उसमें मिथ्या विश्वास रहता है। लौगाक्षिभास्कर की मान्यता है कि जब ईश्वर के प्रति समर्पण भाव से कर्तव्य किया जाता है तो वह मोक्ष का कारण बन जाता है।[212]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्राचीन पूर्वमीमांसक ईश्वर के सद्भाव में विश्वास नहीं रखते। उनका कथन है कि ईश्वर को मानने की आवश्यकता क्या है? प्रायः धार्मिक लोग तीन कारणों से ईश्वर को मानते हैं—वेदों के कर्ता के रूप में, जगत की उत्पत्ति और संहार करने के लिए और कर्मफल का दाता होने के कारण। पूर्व मीमांसकों के अनुसार ये तीनों ही हेतु व्यर्थ हैं। वेद नित्य हैं। उनका कर्ता कोई ईश्वर नहीं है। जगत् अनादि और नित्य है, उसका प्रलय नहीं होता और कर्मों का फल देने वाले स्वयं कर्म ही हैं, ईश्वर नहीं। इस प्रकार ईश्वर की सत्ता का

अपलाप किया गया है।

यह मान्यता उत्तरकाल में शिथिल पड़ने लगी। कुमारिल व प्रभाकर के पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने ईश्वर की सत्ता को भी स्पष्टतया स्वीकार किया है। इसी प्रकार प्रवृत्ति मार्ग में भी पर्याप्त बुराइयाँ उन्हें दिखाई दीं। इसीलिए निःश्रेयस के लिए प्रवृत्ति के स्थान पर अनासक्ति और आत्मत्याग को भी उन्होंने आवश्यक बताया है। क्योंकि यज्ञादि कर्मों से प्राप्त किया हुआ स्वर्ग अन्त में है तो नश्वर ही। अनश्वर सुख के लिए निवृत्तिमार्ग ही उपादेय है। इस प्रकार पूर्व मीमांसा दर्शन में भी संन्यासयोग को हेय नहीं बताया गया।

6. वेदान्त दर्शन

वेदान्त दर्शन के जन्मदाता महर्षि व्यास के संन्यास विषयक मत का महत्वपूर्ण स्थान है। उपनिषदों की विपुल ज्ञानराशि को ब्रह्मसूत्र के रूप में संकलिक महर्षि व्यास ने जो अद्भुत लोकोपकारक महनीय कर्म किया है, उसके लिए ज्ञान-पिपासु मानवजाति सदैव उनकी ऋणी रहेगी। निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए व्यास ने ज्ञान को ही उपादेय बताया है। वह ज्ञान वेदान्त के विशेष ज्ञान से सुनिश्चित होता है और वह वेदान्त विज्ञान संन्यासयोग से नितान्त विशुद्ध हुए सत्व में ही प्रतिष्ठित हो सकता है। उपनिषदों का यही साररूप दृष्टिकोण व्यास को अभिमत है।[213]

अपने इस अभिमत को व्यास ने ब्रह्मसूत्र के इस सूत्र में भी अभिव्यक्त किया है—"अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुते"।[214] अर्थात् महर्षि बादरायण का मत है कि संन्यासाश्रम अनुष्ठेय है क्योंकि जैसे ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ विद्यमान् हैं, उन्हीं के समान अन्य श्रुतियाँ संन्यासाश्रम का प्रतिपादन करने वाली भी विद्यमान् हैं। जैसे निम्न श्रुति धर्म के तीन स्कन्धों का प्रतिपादन कर रही है, वैसे ही वह चतुर्थ स्कन्ध संन्यास का भी प्रतिपादन कर रही है :

> त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्म-
> चार्याचार्य कुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य कुलेऽव सादयन्
> सर्व एते पुण्यलोकाभवन्ति ब्रह्म संस्थोऽमृतत्वमेति।[215]

अर्थात् धर्म के तीन स्कन्ध हैं। यज्ञ, अध्ययन और दान—यज्ञ गृहस्थों का प्रथम स्कन्ध है। तप वानप्रस्थियों का द्वितीय स्कन्ध है। ब्रह्मचारी जो अपने देह को आचार्यकुल में अत्यन्त क्षीण कर देता है—वह तीसरा स्कन्ध है। ये तीनों स्कन्धसेवी पुण्य के भागी होते हैं। ब्रह्मसंस्थ अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी अमृतत्व को प्राप्त होता है।

इस प्रकार उक्त श्रुति में गृही, वानप्रस्थी व ब्रह्मचारी के समान संन्यासी बनने का भी उपदेश श्रुति में दिया गया है। यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रारम्भ के स्कन्धत्रय से पुण्य का लाभ होता है, अमृतत्व का नहीं। अमृतत्व ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है, पुण्य नहीं। अतः चतुर्थाश्रम अनिवार्य रूप से सेवनीय है। इतना ही नहीं, अन्य श्रुतिसाम्य है जो चारों आश्रमों का तुल्यरूप से प्रतिपादन करती है। बृहदारण्यक मे संन्यासयोग की पुष्टि करती हुई श्रुति कहती है कि आत्मलोक की इच्छा करते हुए प्रव्राजी पुरुष सब कुछ त्याग करके चले जाते हैं।[216] कारण यह है कि पूर्ववर्ती विद्वान् सन्तान की कामना नहीं करते थे। वे सोचते थे कि सन्तान से हमें क्या लाभ ? हमें तो आत्म-लोक अभीष्ट है। वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा व्युत्थान कर भिक्षा-चर्या करते थे।[217] यह आत्मलोक अगृह्य है, अशीर्य है, असंग है, अव्यथ है। केवल संन्यासयोग से ही लभ्य है।

ब्रह्मसूत्र में ही नहीं अपितु व्यासप्रणीत भागवतपुराण में भी बहुशः संन्यास को ही समादरणीय बताया है। वहाँ स्पष्ट निर्देश है कि कुटुम्ब के संरक्षण और संवर्धन में सुख नहीं है अपितु संन्यास में ही पूर्ण सुख है।[218] न सुख इन्द्र को है, न चक्रवर्ती सम्राट को। सुख तो एकान्तजीवी विरक्त संन्यासी को ही है।[219]

उपर्युक्त षड्दर्शनों के संन्यास विषयक मन्तव्यों को उल्लिखित करने का हमारा इतना ही अभिप्राय है कि यह संन्यासयोग कोई नूतन पद्धति नहीं है अपितु यह तो वह निःश्रेयस का शाश्वत् उपाय है, जिसकी शरण में प्रत्येक ऋषि को आना ही पड़ता है। कोई भी दर्शन प्रवृत्ति की ओर नहीं ले जाता। सभी का लक्ष्य संसार से निवर्तन कराना ही है। प्रवृत्ति का मार्ग अनादि और अनन्त है। इसलिए कुछ आधुनिक दार्शनिक संसार को अनादि और अनन्त कहते हैं। मुक्ति से निवृत्ति का रहस्य भी इसी प्रवृत्ति मार्ग में निहित है। किन्तु प्रवृत्ति की विधि से अनन्त ऐश्वर्य का भोग करते-करते जिनकी बुद्धि थक चुकी है, उनका यही अन्तिम मन्तव्य होता है कि संसार के सुखों-दुखों का कोई अन्त नहीं है। कृत कर्मों से अनिवृत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति सम्भव ही नहीं है। इसीलिए सभी उपनिषद् के 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' इस महा-वाक्य को अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं। इस संन्यासयोग को प्रति-पादित करने का षड्दर्शनों का वचनोपन्यास भिन्न-भिन्न हो सकता है किन्तु संन्यास के निःश्रेयस हेतुत्व का प्रत्याख्यान किसी भी दर्शन ने नहीं किया। इस प्रकरण का यही सार है।

सन्दर्भ

1. अविद्यादेः संसारवीजस्य विशरणाद्धिसनाद्विनाशनात् इत्यनेनार्थयोगेन विद्योपनिषदित्युच्यते—स्वर्गलोक फलप्राप्ति हेतुत्वेन गर्भवासजन्म जराद्युपद्रववृदंस्य लोकान्तरे पौनः पुन्येन प्रवृतस्यावसादयितृत्वेन शैशिल्या पादनेन धात्वर्थयोगादग्नि विद्याप्युपनिषदित्युच्यते।
—कठो० (शां० भा० भूमिका)
2. धर्मे रहस्योपनिषद् स्यात्—अमरकोष
3. विद्या ह वै ब्राह्मणमा जगाम गोपायमा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय मा दा वीर्यवती तथा स्याम्।। निरुक्त—1/1
4. दृष्टव्य, भारतीय दर्शन (बलदेव उपाध्याय), पृ० 36।
5. वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग उपनिषद् कहलाता है। अतएव इसको वेदान्त (वेदों का अन्त) कहना दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।
—भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ० 58
6. वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे। मुण्डको० 3/2/6
7. तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्त केसरीं।। स्फुट
8. अन्तः प्रान्तेऽन्तिके नाशे स्वरूपे च मनोहरे—अमरकोश
9. डॉ० जयदेव वेदालंकार—उपनिषदों का तत्वज्ञान, पृ० 6।
10. डॉ० राधाकृष्णन—इंडियन फिलासफी, पृ० 154।
11. उपनिषद् संग्रह, सं० पं० जगदीश शास्त्री (मोतीलाल बनारसी दास)।
12. मुक्तिकोपनिषद् 30-39।
13. कल्याण योगांक, पृ० 93 (गीताप्रेस गोरखपुर) 1935।
14. वही, पृ० 94।
15. भारतीय तत्वज्ञान का इतिहास, खण्ड-2, पृ० 87 (कल्याण योगांक), पृ० 94।
16. अल्लोपनिषद्।
17. जैन तथा बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शनों के मूल सिद्धान्तों की उपलब्धि उपनिषदों में होती है। भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय, पृ० 39।
18. श्वेताश्वरोपनिषद्— 6/11।
19. वही—1/12।
20. सत्यार्थ प्रकाश।
21. श्वे०—3/8।
22. बृहदा० 4/3/22।

23. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्य: स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहु: ।।
ऋ० 1/164/64

24. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्विदो वदन्ति परा चैवापरा च ।
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदो: थर्ववेद: शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्येतिषमिति । मुण्डको । 1/1/4-5

25. अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते—वही

26. दाम्यत दत्त दयध्वमिति-—बृह० 5/2/3

27. विद्यां चाविद्यां च । ईशोपनिषद्—11
सम्भूति च विनाशं च । वही—14

28. अन्धन्तम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते—ईशो०—9

29. अथ यत्तपोदानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा ।
छान्दो० 3/17/4

30. तैत्तिरीयोपनिषद्—1/11/1

31. समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति । प्रश्नो० 6/1

32. पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्—प्रश्नो—3/7 ।

33. स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्व गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्ममहा च ।
एते पतन्ति चत्वार: पंचमश्चाचरंस्तैरिति ।। छा० 5/10/9

34. कुर्वन्नेवेह कर्माणि—ईशो०—2 .

35. काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतु भैवति तत्कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते—-वृहदा० 4/4/5 ।

36. अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत: आत्मोत्तरत: आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्द: स: स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।
छांदो० 7/25/2

37. योगसूत्र—तत्त्ववैशारदी 1/1

38. वही—व्यासभाष्य 1/1

39. तदा द्रष्टु: स्वरुपेऽवस्थानम्—योगसूत्र 1/3

40 योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:—योगसूत्र 1/2

41. यद पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु: परमां गतिम् ।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्दा भवति योगो हि प्रभवाप्ययो ।। कठो० 2/3/10-11

42. एकत्वं प्राण मनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।
सर्वभाव परित्यागो योग इत्यभिक्षीयते ।। मैत्राय० 6/25
43. योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।
एवं तु द्वन्द्व जालस्य संयोगो योग उच्यते। योगशिखोप० 1/68-69
44. योगः कर्मसु कौशलम्—गीता 2/50
45. समत्वं योग उच्यते—गीता 2/48
46. ब्रह्मप्रकाशकं ज्ञानं योगस्तत्रैक चित्तता।
चित्तवृत्तिनिरोधश्च जीवब्रह्मात्मनोः परः ।। अग्निपुराण 183/1-2
47. मय्येकचित्तता योगो वृत्त्यन्तरनिरोधतः—कूर्मपु०—11
48. योगो निरोधो वृत्तेस्तु चित्तस्य द्विजसत्तमाः लिंगपु०—8
49. जीवात्मपरमार्थोऽयमविभागः परन्तप।
स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव ।। स्कन्द० 29
50. मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते—द्वात्रिंशिका—10/1
51. चतुर्वर्गे अग्रणी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्—योगशास्त्र 1/15
52. कायवाङ् मनः कर्म योगः—तत्वार्थसूत्र—6/1
53. ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः शा० ति० 25, कु० त० 30/09 गौतमीय तन्त्र 22/9।
54. गोरखनाथ और उनका युग, पृ० 128
55. योगदर्शन—रजनीश, पृ० 7
56. Yoga is a self concentration with a view to seeing the soul as it looks when it is a abstracted from mind and matter—Mysterious Kundalini.
57. प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यो शरदत्तन्मयो भवेत ।। मु० 2/4
58. क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।
59. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः बृ० 2/4/5
60. ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधा मताः—त्रिशिखिब्राह्म० 23
61. (क) योगो ही बहुधा ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसो राजयोगकः ।। योगत्त्वोप०—19
(ख) मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः।
चतुर्थो राजयोगः स्यात् स द्विधाभाववर्जितः ।। शिवसंहिता—5/14
62. मन्त्रो हठो लयो राजयोगान्तः भूमिकाः क्रमातः।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ।। योगशिखोप० 1/129-30

63. लये मन्त्रे हठे राज्ञि भक्तौ सांख्ये हरेर्मते ।
मतैक्यमस्ति सर्वेषां ये बुधाः मोक्षमार्गगाः ।। बोधसार
64. कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ ।
—राजयोग (विवेकानन्द)
65. विवेकानन्द साहित्य—चतुर्थखण्ड, पृ० 4
66. सा तस्मिन् परमप्रेमरूपा—नारद भक्तिसूत्र—1/2
67. सा परानुरक्तिरीश्वरे—शाण्डिल्य भक्तिसूत्र — 1/2
68. श्रवणं कीर्तनं विष्णो : स्मरणं पाद सेवनम् ।
अर्चनं बन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।। ना० भ० सूत्र
69. न साधयति मां योगो न साख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपत्यागोयथाभक्तिर्ममोर्जिता ।। भागवत् 11/14/20
70. कामिहि नारि पियारी जिमि, लोभिहिप्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ।। रामचरितमानस
71. ज्यों हरि राखे त्यों रहूँ, जो देवे सो खाऊँ । कबीरदास
72. येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् । बृ० 2/4/3
73. अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन्वर्णरति प्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ।। कठो० 1/1/28
74. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्वा ।
कठो० 1/1/27
75. श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः । वही 1/1/26
76. योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते । वही 1/1/29
77. संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ।। गीता—5/2
78. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। गीता—3/5
79. योग. कर्मसु कौशलम् । गीता 2/48
80. गीता—5/6 ।
81. वही, 5/10 ।
82. भागवत्पुराण—7/15/47 । छान्दो० 7/25/2
83. तथा चोपपादितमविद्वद्विषयं कर्म विद्वद्विषया च सर्वकर्मसंन्यासपूर्विका ज्ञान निष्ठा—गीता (शंकर भाष्य उपोद्घात) ।
84. अन्यत्पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुर्वदन्ति 'विद्यया देवलोको' 'विद्यया तदारोहन्ति' इति श्रुतेः । अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियते 'कर्मणा पितृलोकः'

इति श्रुतेः । ईशो० (शां० भा०)—10 ।

85. द्विविधो हि वेदोक्त धर्मः—प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्ति लक्षणश्च जगतः स्थितिकारणम्—इमं हि द्वि प्रकारं धर्म निःश्रेयसप्रयोजनं परमार्थ तत्वं च वासुदेवाख्यं परं ब्रह्माभिधेयभूतं विशेषतः—विशिष्टप्रयोजन सम्बन्धाभिधेयवत् ।—गीता (शां० भा० उपो०)
86. तस्यास्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्यात्मनो परमलक्षणम् तच्च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकादात्मज्ञाननिष्ठा रुपाद् धर्माद् भवति—गीता (शां०भा० उपो०)
87. एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
 अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।। गीता—1/35
88. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः—यो० सू० 2/26
81. प्लवते मिथ्याज्ञान संस्कारवशात् मिथ्याज्ञानेनान्तराऽभिभूयते—
 यो० वार्तिक—2/26
90. परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।।
 मुण्डको०—1/2/12
91. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यस्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति —योग० सू० 4/34
92. कृतकर्तव्यतया पुरुषार्थशून्यानां गुणानां पुरुषोपकरणानां लिंग शरीरात्मकानां प्रतिप्रसवः स्वकारणेऽत्यन्त लयः स बुद्धेः कैवल्यस् ।—यो० वा० 4/34
93. योगग्रन्थ सहस्राणां सर्वोपनिषदां तथा ।
 सतां च यत्र तात्पर्य सोऽर्थो व्यासेन भाषितम् ।। यो० वा०—4/34
94. कर्मेति मीमांसका—स्पुट
95. तस्माद्या स्याम्यहं तात् दृष्टे इमं दुःख सन्धिम् ।
 त्रयी धर्ममर्धमधुरभाण्डढ्यं किम्पाक पलम् ।। मार्क० पु०—10/37
96. आध्यात्मिकाश्चतस्त्रः प्रकृत्युपादान कालभाग्याख्याः ।
 बाह्या विषयोपरमात् पंच च नवतुष्ट्योऽभिमताः ।। सां० का०—50
97. व्रज्यायास्तु सा भवति तस्मात् प्रव्रज्यामुपाददीथाः ।
 कृतन्ते ध्यानाभ्यासेनायुष्मन् इति उपदेशे या तुष्टि सा उपादानाख्या सलिलमिति—सां० त० कौ०—50 ।
98. व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात् श्रुतिस्मृतीतिहास पुराणेभ्यो व्यक्तादीन् विवेकेन श्रुत्वा शास्त्रयुक्त्या च व्यवस्थाप्य दीर्घकालाद् नैरन्तर्यं सत्कारसेवितात् भावनामयात् विज्ञानादिति—सां० त० कौ०—2
99. सांख्य योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्दि न पण्डिताः ।
 एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।। गीता—5/4

100. यत्सांख्यै: प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति ।। वही—5/5
101. यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन ।। वही 6/2
102. अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य: ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नंचाक्रिय: । गीता—6/1
103. अविद्यायामन्तरे वर्तमाना: स्वयंधीरा: पण्डितम्मन्यमाना: ।
जङ्‌घन्यमाना: परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा: ।। मु० 1/2/8
104. वेदान्त विज्ञान—वही 3/2/6
105. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोतिय: ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्र मिवाम्भसा ।। गीता—5/10
106. जब गृहस्थों से अन्न वस्त्रादि लेते हैं और उनका प्रत्युपकार नहीं करते तो क्या वे महापापी नहीं होंगे ? जैसे आँख से देखना, कान से सुनना, न हो तो आँख और कान का होना व्यर्थ है। वैसे ही जो संन्यासी सत्योपदेश और वेदादि सत्यशास्त्रों का विचार, प्रचार नहीं करते तो वे भी जगत में व्यर्थ भार रूप हैं ।—सत्यार्थ प्रकाश पंचम समुल्लास, पृ० 87
107. वही, पृ० 86 ।
108. (क) सम्यङ्‌ नित्यमास्ते यस्मिन् यद्वा सम्यङ्‌ न्यस्यन्ति दु:खानि कर्माणि येन स: संन्यास:, स प्रशस्तो विद्यते यस्य स संन्यासी ।
स० प्र० पंचम समु०, पृ० 88
(ख) संन्यास संस्थान उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण व पक्षपात छोड़ के विरक्त होकर सब पृथ्वी में परोपकारार्थ विचरे अर्थात् सम्यङ्‌ न्यस्यन्त्य धर्माचरणानि येन वा सम्यङ्‌ नित्यं सत्कर्मस्वास्ते उपविशति स्थिरीभवति येन स, संन्यासो विद्यते यस्य स संन्यासी—संस्कार विधि, संन्यास प्रकरण ।
109. ऋ० भा० भू०, पृ० 285 (संन्यास प्रकरण)
110. ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति । बृ० 3/5/1
111. स० प्र०, पृ० 88 ।
112. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० 90 ।
113. विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृ० 336 ।
114. वही ।
115. वही ।
116. वही, तृतीय खण्ड, पृ० 186 ।

117. विवेकानन्द साहित्य, तृतीय खण्ड, पृ० 185।
118. मेरुसर्षपयोर्यद्यत् सूर्यखद्योतयोरवि।
सरितसागरयोर्यद्यत् तथा भिक्षु गृहस्थयोः ।।—वही, पृ० 187
119. वही, पंचम खण्ड, पृ० 337।
120. विवेकानन्द साहित्य, तृतीय खण्ड, पृ० 187।
121. वही, पृ० 186।
122. श्री अरविन्द : अपने विषय में, पृ० 110।
123. वही, पृ० 120।
124. यह योग संसार से कतराने वाले संन्यास का नहीं वरन् दिव्य जीवन का योग है— वही, पृ० 110।
125. मेरे अन्दर कोई कामनाएँ नहीं हैं, किन्तु मैं बाहर से संन्यासी का-सा जीवन नहीं बिताता। हाँ, केवल एकान्तवास करता हूँ। गीता के अनुसार त्याग अर्थात् कामना और आसक्ति से मुक्ति ही सच्चा संन्यास है। वही, पृ० 289।
126. बाह्य तपस्या आवश्यक नहीं है किन्तु कामना-वासना और आसक्ति पर विजय प्राप्त करना तथा शरीर और उसकी आवश्यकताओं को, उसकी लालसाओं और अंध प्रेरणाओं को संयमित करना आवश्यक है। श्री अरविन्द : अपने विषय में, पृ० 107।
127. इस मार्ग में प्राचीन योग पद्धतियों की सभी मूल बातों का समावेश किया गया है। जैसे ज्ञानमार्ग का मन के द्वारा सद्वस्तु और बाह्यरूप के बीच विवेक करना, हृदयमार्ग का भक्ति, प्रेम और आत्मसमर्पण करना, कर्ममार्ग का अपनी इच्छा शक्ति को स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से हटाकर सत्य की ओर लगाना, अपने अहं से बड़ी दिव्य सद्वस्तु की सेवा में लगाना इत्यादि। वही, पृ० 107।
128. तत्र परमहंसानाम संवर्तकारुणि···जाबालो०—6।
129. त्रयस्तवंगिरसपुत्रा लोके सर्वत्र विश्रुताः।
बृहस्पतिरुतथ्यश्च संवर्तश्च घृतव्रताः ।। महा० आ० प० 66/5
130. महाभारत अनुशासन पर्व—85/30-31।
131. ऋग्वेद —10/172, 8/54/2।
132. ऐतरेय ब्राह्मण—8/21।
133. योग वसिष्ठ—5/82-90।
134. महाभारत—अश्व० 8, मार्क० पु०—126/11-13।
135. महा० वन०—83/28।
136. महाभारत, आदिपर्व—3/20।

137. कठोपनिषद्—दृष्टव्य।
138. छान्दोग्योपनिषद्—6 अध्याय।
139. वही, अध्याय-3।
140. प्राचीनशाल औपमन्यव: सत्ययज्ञः पौलुषिखिन्द्रद्युम्नो भाल्लयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराशिवस्ते ते ह संपादयाँ चकु रुद्दालको वै भगवन्तो यमारुणिः—छा० 5/11/1-2
141. वही—अध्याय-6।
142. प्रा० च० को०।
143. शतपथ ब्राह्मण— 11/2
144. छान्दोग्यो०—5-6 अध्याय
145. बृहदारण्यको०—3/6/1
146. श्वेतकेतुर्हा रुणेय—छा० 6/1/1
147. प्रा० च० को०।
148. शांखायन श्रौतसूत्र—16/27/3
149. महाभारत (शांति पर्व)—269
150. प्र० च० कोश।
151. स्कन्दपुराण
152. वही—3/3/15
153. ब्रह्माण्डपुराण—3/1
154. मनुस्मृति—10/106
155. महाभारत (सभापर्व)—24
156. मत्स्यपुराण—4/27/30
157. ऋग्वेद—4/16/18
158. वही—4/4/11
159. वही—4/25/1
160. ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति—बृहदा० 1/4/10
161. श्येनो जवसा निरदीयमिति गर्भ एवैनच्छयानो वामदेव एवमुवाच।।
ऐतरेयो०—5/5
162. प्रा० च० कोश
163. भागवतपुराण—5/7-15
164. वही—5/7/1
165. भागवत पुराण—5/8
166. वही 5/9/12-18
167. भागवत पुराण—5/10/1-25

168. नानुवर्त्मार्हति नृपोमक्षिकेव गुरुत्मतः। भाग० पु०—5/14/42
169. पृथिवीवायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमारविः।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतंगो मधुकृद् गजः॥
मधुहा हरिणो मीनः पिंगला कुररोऽभर्कः।
कुमारी शर कृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत्॥ भाग० पु० 11/7/33-34
170. मक्षिका इव संगृणन् सहतेन विनश्यति। भाग० पु० 11/8/12
171. प्रा० च० कोश।
172. बृहदा०—3/1-9।
173. वही—2/4-6।
174. वही।
175. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
वही—2/4/5
176. नमो वयं ब्रह्मष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्म इति—बृहदा० 3/1/2
177. प्रा० च० कोश।
178. यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥
श्रीमद्भागवत—1/2/2
179. विवेकानन्द चरित
180. योगी कथामृत
181. न्यायसूत्र 4/1, 3-9
182. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम्—यो० सू० 1/8
183. न्यायसूत्र—1/2
184. यदा कश्चित् पुरुष धौरेय···सर्वमिदं दुःखाययनं···तदा सर्वं हेयत्वेन बुध्यते।—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० 490
185. न्यायसूत्र—4/1/64
186. न्याय सूत्र—4/1, 19-21
187. न्याय भाष्य—4/2, 46
188. न्यायवार्तिक—1/1/2
189. न्यायसार, पृ० 38, 40-41
190. यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः सधर्मः—वै० सूत्र 1/1/2
191. प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा···मु० उ० 1/2/7
192. न्याय कन्दली, पृ० 27
193. सर्वभूतेभ्यो नित्यमभयं दत्वा······प० ध० सं०, पृ० 273
194. वै०सू० 5/2, 16-18

195. दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः—सां० का०—2
196. व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात्—वही
197. एवं तत्वाभ्यासात् नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषात्। सां० का० 64
198. (क) बाधितानुवृत्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः। सां० सूत्र—3/77
 (ख) सकृत् सम्प्रज्ञातयोगेनात्मसाक्षात्कारोत्तरं···पुरुषेऽनुवृत्या भोगो भवतीत्यर्थः। वही (सां० प्र० भा०)
199. (क) रागोपहतिर्ध्यानम्। सां० सू०—3/30
 (ख) ज्ञानप्रतिबन्धको यो विषयोपरागश्चित्तस्य।
 वही (सां० प्र० भा०)
200. योगस्थ कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय। गीता 2/48
201. वैराग्यात् प्रकृतिलयः। सां० का०—45
202. (क) स हि सर्ववित् सर्वकर्ता। सां० सू० 3/56
 (ख) स हि पूर्वसर्गेकारणलीनःसर्गान्तरे सर्ववित्—वही (सां० प्र० भा०)
203. योगश्चित्त वृत्ति निरोधः। यो० सू० 1/2
204. सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। योगसूत्र 2/30 (व्यास भाष्य)
205. चित्त नदी नामोभयतो वाहिनी वहति पापाय, वहति पुण्याय।
 यो० सू० 1/2 (व्यास भाष्य)
206. योग भाष्य--4/7
207. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः—पू० मी०-1/1/2
208. चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः। वही (शांकरभाष्य)
209. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। जै० सू०—1/1/5
210. यागादिरेव धर्मः तल्लक्षण वेद प्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म।
 —अर्थसंग्रहः
211. श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते। ऋ० 10/151/1-5
212. ईश्वरार्पणबुद्धया क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः। अर्थसंग्रहः
213. वेदान्त विज्ञान···मुण्डक 3/2/6।
214. ब्रह्मसूत्र—3/4/19।
215. छान्दो० 2/23/1।
216. एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। बृ० 4-4-22।
217. ते ह स्म पुत्रैषणागाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां चरन्ति। बृ० 4-4-22
218. रे मुम्चाथ कुटुम्बाशां संन्यासे सर्वथा सुखम्—भागवत—1/4/36
219. न चेन्द्रस्य सुखं किंचिन्न सुखं चक्रवर्तिनः।
 सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः।। वही, 1-4-75

2

अधिकारी-विवेचन

संन्यास शब्द की व्युत्पत्ति एवं स्वरूप

संन्यास शब्द का प्रधान अर्थ त्याग करना है । आयु के अन्तिम चरण में गृह, पुत्र, कलत्रादि का परित्याग करके सीमित परिवेश से निकल कर असीमित व्यक्तित्व को स्वीकार करने वाला पुरुष लोक में संन्यासी कहलाता है । काषायवस्त्र, दण्ड, कमण्डलु आदि का धारण तथा जटी अथवा मुण्डी हो जाना तो केवल संन्यास के सूचक चिह्न मात्र हैं । यह संन्यास और संन्यासी का रूढ़िलभ्य अर्थ है किन्तु मोक्ष शास्त्रों में परिनिर्दिष्ट और परिकल्पित जिस संन्यास को मोक्षद्वार के रूप में स्वीकृत किया गया है, उस संन्यास के अर्थ को समझने के लिए उसके व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ का अनुसंधान करना पड़ेगा ।

'संन्यास' शब्द के साथ जब 'योग' शब्द का संयोग हो जाता है तो 'संन्यास-योग' का अर्थ और जटिल और व्यापक हो जाता है । संन्यास दो प्रकार का है—आश्रम संन्यास और भावना संन्यास । संन्यास योग का सम्बन्ध इसी दूसरे संन्यास से है । सर्वकर्म परित्याग, सर्भ वैभव निराकृति परवैराग्य और पूर्ण गुण-वैतृष्ण्य इस संन्यासयोग के अनिवार्य तत्व हैं । यही संन्यास मोक्ष का द्वार है । यही उपनिषदों का प्रतिपाद्य है । अंग्रेजी में इसे Abendonment of worldly ties, A‘seticism, monasticism तथा stoicism आदि शब्दों से कहा जाता है किन्तु भारतीय प्राचीन ऋषियों का जो अभिप्राय संन्यास शब्द में निहित है, उसका पूर्ण उद्घाटन करने में अंग्रेजी के उपर्युक्त शब्द समर्थ नहीं है । किसी भी भाषा के पर्याय शब्द अन्य भाषाओं में नहीं मिलते । यही तो किसी भी भाषा का अन्तर्निहित वैलक्षण्य है ।

अब देखते हैं कि संन्यास शब्द के मूल में कौन-कौन-सी धातुएँ कार्य कर रही हैं :

1. असु क्षेपणे

'सम्' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'असु क्षेपणे' धातु से निर्मित 'आस्' को जोड़कर संन्यास शब्द बनता है। इस धातुलभ्य अर्थ को दृष्टि में रखकर विचार किया जाए तो संन्यास का अर्थ हुआ—सम्यग्रूपेण, निश्शेषरूपेण च सर्वकर्मणां क्षेपणं परित्यागः। अर्थात् अच्छी प्रकार निश्शेष रूप से समस्त कर्मों का क्षेपण अर्थात् परित्याग करना संन्यास है। लोक में प्रायः यही धातुलभ्य अर्थ गृहीत किया जाता है। उपनिषदादि शास्त्रों को भी यही क्षेपणात्मक अर्थ मान्य है। क्योंकि यह तो असंशयित तथ्य है कि संन्यास का ग्रहण करते ही समस्त सांसारिक वैभव, पुत्र-कलत्रादि एवं लोक संग्रही कर्मों का परित्याग तो करना ही पड़ता है। यह तो संन्यास का सर्वप्रथम करणीय अनिवार्य आचार है।

'असु क्षेपणे' धातु से प्राप्त यह अर्थ निस्सन्देह रमणीय है किन्तु संन्यासयोग शब्द से जो व्यापक अर्थ ध्वनित हो रहा है, उसका प्रकाशन केवल इस एक धातु से सम्भव नहीं है। इसके लिए दो अन्य धातुओं का अर्थ भी हमें ग्रहण करना होगा। ये दो धातुएँ हैं—'अस् भुवि' और 'आस् उपवेशने'।

2. अस् भुवि

'अस्' धातु 'होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है। 'सम्' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'अस् भुवि' धातु से भी 'संन्यास' शब्द की व्युत्पति होती है। जिसका अर्थ है सम्यक् रूप से निश्शेष अर्थात् सर्व हो जाना, सब कुछ हो जाना। सब कुछ तो परमेश्वर ही हो सकता है। परमेश्वर्य की प्राप्ति अथवा परमेश्वर हो जाना ही संन्यास का लक्ष्य है। 'सर्व' और 'शर्व' परमेश्वर के वाचक हैं।[1] इसी सर्व शब्द के अर्थ को 'न्यास' शब्द कहा गया है। आचार्य शंकर जीव और ब्रह्म में भेद नहीं मानते। जीव भाव का परित्याग करके ब्रह्मभाव अथवा सर्वभाव को प्राप्त करना ही जीव का लक्ष्य है। यह लक्ष्य संन्यास से ही प्राप्त होता है। यह अर्थ 'अस् भुवि' धातु से ही ध्वनित हो सकता है। इस अर्थ को छोड़कर संन्यास शब्द का अर्थ पूर्ण नहीं हो सकता।

3. आस् उपवेशने

उपर्युक्त दो धातुओं के अतिरिक्त 'आस् उपवेशने' धातु से भी संन्यास शब्द की निष्पति होती है। उपवेशन का अर्थ है—निकट बैठना। इस धातु के सन्दर्भ में संन्यास का अर्थ हुआ—सम्यक् रूप से और सम्पूर्ण रूप से परमेश्वर के निकट

बैठना उसकी शरण में जाना, सर्वतोभाव से निज को परमेश्वर के चरणों में समर्पित कर देना और सर्व देश तथा सर्वकाल में भावनातिशय के कारण परमात्मा के साथ पार्थक्य भावना का परित्याग करके वही हो जाना। यही अर्थ 'आस् उपवेशने' धातु से अभिव्यक्त होता है। इस धातु लभ्य अर्थ के बिना भी संन्यास का अर्थ अपूर्ण ही रहेगा।

स्वामी दयानन्द के अनुसार—सम्यङ् नित्यमास्ते यस्मिन् यद्वा सम्यङ् न्यस्यन्ति दुःखानि कर्माणि येन स संन्यासः अर्थात् ब्रह्म और उसकी आज्ञा में उपविष्ट अर्थात् स्थित और जिससे दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाए वह 'संन्यास' कहा गया है।[2]

उपर्युक्त तीनों धातुओं के अर्थ संन्यास शब्द में अन्तर्निहित हैं। ये तीनों ही अर्थ संन्यासयोग को पूर्ण बनाते हैं। यदि एक को भी निकाल दिया जाएगा तो संन्यासयोग का मर्म व्याहत होगा और जिस लक्ष्य को लेकर इस शोध का उपक्रम किया जा रहा है, वह परिणति को प्राप्त नहीं कर सकेगा।

उपर्युक्त अर्थों का परिशीलन करके यह ध्यातव्य है कि संन्यासाश्रम और संन्यासयोग में पर्याप्त अन्तर है। संन्यासाश्रम उक्त संन्यासयोग का साधन या पूर्वभूमि तो हो सकता है, स्वरूप नहीं हो सकता। संन्यासयोग एक भावना है जो निरन्तर कर्मनिरत रहकर भी कर्मों से विरत होने की एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। यह निज सदन में बैठकर भी सम्पन्न हो सकती है और निर्जन अरण्य में भी। यदि भावना का सम्बन्ध न हो तो निज सदन और निर्जन अरण्य तुल्यरूप से व्यर्थ हैं। लक्ष्य तो मोक्ष है। चाहे वह सदन में प्राप्त हो या अरण्य में। कहा गया है कि जो पुरुष 'मैं और मेरा' इस ममत्वाभिमान से शून्य होकर विषय भोगों से विरत हो चुका है, वह अपने घर में रहता हुआ भी कर्मों से बद्ध नहीं होता।[3]

वस्तुतः यही अवस्था संन्यासयोग है। जब साधक को यह अवस्था और अद्वयभावना प्राप्त होती है तो वह जागते हुए भी सुषुप्त-सा रहता है, देखते हुए भी नेत्रहीन-सा व्यवहार करता है तथा कर्म करता हुआ भी निष्क्रिय ही रहता है। सचमुच आत्मज्ञानी के यही लक्षण हैं।[4]

जनक ऐसे ही आत्मवित् संन्यासयोगी थे। उनका अन्तःपुर मनोरमा रामाओं से भरा हुआ था, अक्षय धनकोष था, चतुरंगिणी सेना से परिवृढ़ सुदृढ़ विशाल राज्य था, सुरपुर में भी दुर्लभ वैभवों से परिपूर्ण राजभवन था, किन्तु राजर्षि जनक उस राजभवन में इस प्रकार रहते थे जैसे कमल जल में रहता है। इसी के लिए गीता में कहा है—जो प्रभु को समर्पित करके अनासक्तभाव से कर्म करता है, वह जल में कमल की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता।[5]

यह उनकी भावना का ही चमत्कार था कि मनोरमा रमणीय कान्ताएँ उनके मन को तनिक भी चलायमान नहीं कर सकती थी। उनकी सडिण्डिम घोषणा थी

कि—'मिथिलायां प्रदाह्यायां न मे किन्चन दह्यते' अर्थात् सम्पूर्ण मिथिला नगरी अग्नि में जलकर भस्मसात हो जाएगी तो भी मेरा कुछ नहीं जलेगा क्योंकि मैं तो चिदानन्दरूप वह परम शिव हूँ जहाँ जन्म मरण कृत भय व्याप्त नहीं होता। यही संन्यासयोग की भावना का वास्तविक स्वरूप है।

इधर मिथिलाधिप जनक ने निज राजभवन को पर्णकुटी बना दिया था और उधर मिथिला की राजकुमारी सीता ने पंचवटी में स्थित पर्णकुटी में मनभावन राजभवन का निर्माण कर लिया था।[6] भावना का प्रकर्ष देखिए कि जानकी के लिए वन प्रदेश एक विशाल साम्राज्य था। श्रीराम वहाँ के राजा थे, देवर लक्ष्मण रक्षा प्रहरी थे, वन्य पशु-पक्षी ऋषि-मुनि-समाज वहाँ की प्रजा थे। स्वयं जानकी वहाँ की साम्राज्ञी थी।

विश्वामित्र चक्रवर्ती सम्राट थे। वशिष्ठ के लोकोत्तर ब्रह्मवर्चस को देखा तो वशिष्ठतुल्य ब्रह्मर्षि बनने की अभिलाषा बलवती हो उठी। घोर तप का संचय किया। देवलोक कम्पित हो उठा। देवों ने विघ्न उपस्थित किए किन्तु उन सब विघ्नों पर विजय प्राप्त कर विश्वामित्र और भी तेजोदीप्त हो गए। वशिष्ठ ने अब भी उनको ब्रह्मर्षि स्वीकार न किया। विश्वामित्र तिलमिला उठे। वे वशिष्ठ को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझते थे और वशिष्ठ के मुख से अपने लिए 'ब्रह्मर्षि' सुनना चाहते थे किन्तु वशिष्ठ जानते थे कि जब तक ईर्ष्या और द्वेष की भावना विश्वामित्र के चित्त में घर किए बैठी है, तब तक वह ब्रह्मर्षि कैसे बन सकते हैं। एक दिन महर्षि वशिष्ठ वृक्ष के नीचे रात्रि में अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे। उसी वृक्ष पर विश्वामित्र छिपकर वशिष्ठ को मारने के लिए अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। विश्वामित्र का मुखमण्डल तप के तेज से सूर्य सदृश दमक रहा था। जब शिष्यों ने ऊपर देखा तो वे गुरुजी से बोले—"गुरुदेव ! रात्रि में सूर्य चमक रहा है। वशिष्ठ ने कहा—"रात्रि में तो विश्वामित्र का मुख ही सूर्य के समान चमक सकता है, वह महान् तपस्वी हैं। यदि वह क्रोध को अपने चित्त से निकाल दें तो वह आज ही ब्रह्मर्षि बन सकता है।" जब विश्वामित्र ने यह सुना तो उनकी आँखों में अश्रु छलछला उठे। उतर कर वशिष्ठ के चरणों में गिर पड़े। वशिष्ठ बोले—"उठो ब्रह्मर्षि! आज तुम्हारा तप पूर्ण हुआ।"

यह प्रभाव है भावना का। सचमुच आज विश्वामित्र सच्चे संन्यासयोगी हुए। आज वशिष्ठ उनके लिए शत्रु नहीं थे। बलिक प्राण-सम प्रिय थे। क्रोध समस्त तप को पल-भर में नष्ट कर देता है।

भर्तृहरि विशाल राज्य के अधिपति थे। पत्नी उनके लिए प्राण-सम प्रियतमा थी किन्तु जब वैराग्य हुआ तो वह राजभवन कण्टक के समान हृदय में चुभने लगा। रानियाँ विषतुल्य भयानक लगने लगी। वे पुकार उठे—"धिक् ताँच तंच मदनं च इमां च मां च।"[7] वे राज्य में रहकर भी संन्यासी हो गए। संसार की

नश्वरता का बोध होने पर सब कुछ निस्सार लगने लगा। यद्यपि कर्म अब भी कर रहे थे किन्तु भोगस्थ होकर नहीं अपितु योगस्थ होकर भगवान् कृष्ण कहते हैं कि—जब आसक्ति को छोड़कर योगस्थ होकर कर्म किया जाता है तो वह कर्म बन्धन का हेतु नहीं होता।[8] वह गृही होकर भी संन्यासी है। कर्मनिरत होना ही संन्यास नहीं है अपितु कर्म की भावना और कर्मफल की भावना से रहित होकर कर्म करना भी संन्यासयोग है। इसी कारण श्रीमद्भागवत् में कहा गया है कि त्याग ही संन्यास है।[9]

ज्ञान प्राप्ति के बाद कर्म समाप्त नहीं होता अपितु वास्तविक कर्म तो पूर्ण ज्ञानी होने के बाद ही प्रारम्भ होता है। इसलिए गीता श्रवण के पश्चात् अर्जुन ने अन्याय के विरुद्ध युद्ध किया। योगेश्वर कृष्ण ने पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में ब्राह्मणों के चरण धोने का कार्य किया। महाभारत युद्ध में अर्जुन का सारथित्व जैसा निम्न-कोटि का कार्य किया। परमज्ञानी कबीर ताना-बाना बुनते थे, सन्त रविदास जूते गाँठते थे। निष्कर्ष यह है कि कर्म-अकर्म से श्रेष्ठ है किन्तु कर्म-कर्मभावना से न किया जाए अपितु अनासक्त भाव से किया जाना चाहिए। 'कर्मज्यायो ह्यकर्मण:'[10] इस गीता वचन का यही रहस्य है।

एक बार एक राजा किसी संन्यासी से बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना आधा राज्य देकर उसे अपने समान राजा बना दिया। वह संन्यासी राज्य पाकर, विधिवत् प्रजा पर शासन करने लगा। राजा ने उससे कहा—"हे आर्य! अब तो आप मेरे समान हो गए। मुझमें और आप में कोई भेद न रहा।" यह सुन-कर संन्यासी बोला—"नहीं राजन्! आप मेरे समान नहीं हुए। मैं तो अभी तक भी संन्यासी हूँ। मैं इसी पल राज्य छोड़ सकता हूँ। यह कहकर संन्यासी ने राज्य का त्याग कर दिया और अपना पूर्व वेष धारण कर लिया। राजा ने कहा—"सच-मुच आर्य! मैं आपके समान नहीं हो सकता। आप महान् हैं।

उपर्युक्त समस्त कथन का सार यही है कि संन्यास एक भावना है जो सर्व देश और सर्व काल में धारण की जा सकती है। गृह और वन का भेद विशेष महत्व नहीं रखता। यही संन्यासयोग उपनिषदों का प्रतिपाद्य है।

संन्यासधर्म और संन्यासयोग : भेदाभेद विवेचन

संन्यासधर्म और संन्यासयोग में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी पर्याप्त स्वरूप भेद है। धर्म में योग निहित है और योग में धर्म समाविष्ट है। इन दोनों को भिन्न नहीं किया जा सकता। संन्यासधर्म का पालन यदि पूर्ण आस्था एवं श्रद्धा से किया जाए तो वह संन्यासयोग हो जाता है। यदि शास्त्रीय अर्थ पद्धति को अंगीकार

करके विश्लेषण किया जाए तो इन दोनों के अर्थों में कोई विशेष पार्थक्य दृष्टिगत नहीं होता। धर्म किसी वस्तु का प्राणसम्मित धारक-तत्व होता है। जैसे—जलाना अग्नि का धर्म है, शोषण करना मरुत् का धर्म है, क्लेदन जल का धर्म है। दाहकता, शोषण व क्लेदन को यदि अग्नि, पवन व जल से पृथक् कर दिया जाए तो इनका कोई अर्थ नहीं रह जाता। इस दृष्टि से यदि संन्यास धर्म के अर्थ पर विचार किया जाए तो हम कहेंगे कि संन्यास निःश्रेयस के पथिक का धर्म है, संन्यासी का धर्म है एवं प्रत्येक मानव का अन्तिम अनिवार्य सत्य धर्म है। संन्यास रूप धारक-तत्व के बिना निःश्रेयस कार्य का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

योग का अर्थ है निदिध्यासन। योग ही संन्यासधर्म का प्राण है क्योंकि संन्यासयोग के बिना संन्यासधर्म किसी भी अवस्था में दृढ़भूमि नहीं हो सकता। संन्यासयोग ही संन्यासधर्मी का पथ है। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, दोनों एक-दूसरे के धारक हैं और दोनों का एक ही लक्ष्य है। यह अर्थ तो शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करने पर प्रकट होता है।

अब किंचित् विचार लौकिक दृष्टि से भी कर लेना उपर्युक्त होगा। लोक में धर्म और योग को पृथक् करके जाना जाना है। धर्म के कुछ बाह्य लिंग हो सकते हैं जिनसे धार्मिक का पता चल जाता है। जैसे—जटाओं से तपस्वी ज्ञान, दण्ड कमण्डलु व काषाय चीर और पादुकाओं से परिव्राट् का ज्ञान, पीतवस्त्र से वानप्रस्थी की पहचान, त्रिपुण्ड से वैष्णव की पहचान, यज्ञोपवीत व शिखा से हिन्दूधर्मी का ज्ञान हो जाता है। दीर्घ श्मश्रु, विशाल पगड़ी, कृपाण, कंघा आदि का धारण सिख धर्म का परिचायक है। इसी प्रकार अन्य धर्म के कुछ बाह्य लिंगों से पता चल जाता है।

इसके विपरीत योग एक आन्तरिक क्रिया है, जिसका ज्ञान बाह्य लिंगों से नहीं होता। योग केवल अन्तःकरण से साध्य है। अन्तःकरण अतीन्द्रिय होता है। सभा के मध्य में हों या निर्जन अरण्य में, कहीं भी बैठकर या खड़े होकर योग साधना मूक भाव से हो सकती है। इसको प्रकट करने की न तो आवश्यकता है और न ही इसका व्यक्तीकरण सम्भव है। योग वाणी का विषय भी नहीं है जिसे शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया जा सके। जिस संन्यासयोग का परिशोधन सम्प्रति इस उपक्रम का विषय है, वह तो समस्त योगसाधनाओं का शीर्षमणि है। उसकी अभिव्यक्ति तो कथमपि लिंगों से सम्भव नहीं है। इसका आचरण तो ब्रह्मचारी, गृहस्थ या अरण्यस्थ, बालक, युवा अथवा वृद्ध सभी के द्वारा राजभवन में या शय्या पर स्थित होकर कहीं भी किया जा सकता है। संन्यासयोगी की सही पहचान कभी नहीं होती। जैसा कि कुल प्रक्रिया के साधकों के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे अन्दर से शाक्त होते हैं, बाहर से शैव दिखाई देते हैं। और सभा के मध्य में

वैष्णवों के समान परिलक्षित होते हैं ।[11]

यही स्थिति संन्यासयोगी की भी है। संन्यासयोगी तो भोजन करते हुए भी स्वाद नहीं जानता, शय्या पर लेटकर भी उसका सुख नहीं भोगता, मार्ग में चलता हुआ भी निज लक्ष्य पर स्थिर रहता है ।[12] राजर्षि जनक राजभवन में रहकर प्रजा का पालन करते थे किन्तु बड़े-बड़े ब्रह्मर्षि उनसे अध्यात्म विद्या की शिक्षा लेते थे। उनकी सडिण्डिम घोषणा थी कि 'मिथिलायां प्रदाह्यायां न मे किञ्चन दह्यते' अर्थात् यदि सम्पूर्ण मिथिला नगरी भी अग्निसात् हो जाए, तब भी मेरा कुछ नहीं जलेगा। यह है संन्यासयोग का वास्तविक स्वरूप। उपनिषदों में राजा प्रवाहण की कथा प्रसिद्ध है। प्रवाहण एक समर्थ राजा थे किन्तु ब्रह्मविद्या में उनकी तुलना आरुणि जैसे ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण भी नहीं कर सकते थे। एक बार आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु के साथ ब्रह्मविद्या के गूढ़ रहस्यों को जानने के लिए प्रवाहण के पास गए थे। जो राजा प्रशासन करते हुए भी ब्रह्मवित् था, वह निश्चित रूप से संन्यासयोगी था। वहाँ राजधर्म में संन्यासयोग समाविष्ट था।

इस प्रकार संन्यासधर्म और संन्यासयोग में स्वरूपगत भेद न होते हुए भी जो यत्किंचित् आपात प्रतीयमान भेद है, वह उक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो गया होगा।

संन्यास का अधिकारी कौन ? चातुर्वर्ण्य या केवल ब्राह्मण

शास्त्र के सन्दर्भ में अधिकार और अनधिकार का प्रश्न निगमागम तत्ववेत्ता विद्वज्जनों के द्वारा बहुश: सूक्ष्मदृष्टि से विचारित किया गया है और विपुल विचार मन्थन के अनन्तर जो तथ्य निर्धारित किए गए हैं, वे गहन चिन्तन और निष्पक्ष मनन की अपेक्षा रखते हैं। अधिकार के प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद दृष्टिगत होता है। फिर भी कुछ तथ्य ऐसे हैं जो सर्वमान्य हैं।

अधिकार का सम्बन्ध योग्यता से है। योग्य ही अधिकारी हुआ करता है। अयोग्य व्यक्ति अनधिकारी माना गया है। अयोग्य के हाथों में गया हुआ अधिकार न तो स्थाई होता है और न ही श्रेयस्कर। लौकिक कार्यों में भी अधिकारी की समीक्षा की जाती है। शास्त्र विषयक अधिकार में तो और भी अधिक सावधानी की आवश्यकता है। शास्त्र सकल जगत् के अनुशासक होते हैं। शास्त्र पर ही लोक और परलोक की मर्यादा स्थापित करने का भार निहित होता है। इसलिए उसके अध्ययन-अध्यापन और उसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों के आचरण पर सबका अधिकार नहीं होता। आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चारों विद्याओं के अध्ययन और अध्यापन का अधिकार ब्राह्मण को ही है, किन्तु उन सभी पर आचरण का अधिकार उसका नहीं है।

त्रयी विद्या के अध्ययन-अध्यापन तथा त्रयीधर्म के पालन का अधिकार ब्राह्मण को दिया गया है क्योंकि वह अनसूयक, ऋजु और संयतेन्द्रिय होता है। उक्त गुणों से मण्डित आचरण वाले ब्राह्मण के पास रहकर ही विद्या वीर्यवती होती है।[13]

आन्वीक्षकी विद्या का अधिकार न्यायाधिकारी का है क्योंकि उसी के लिए उसकी उपयोगिता है। जो परपक्ष का शातन कर स्वपक्ष की स्थापना करना चाहते हैं, उन्हें ही यह विद्या प्राप्त करनी चाहिए।

वार्ता विद्या का अधिकार व्यापारी वर्ग का है तथा दण्डनीति के आचरण का अधिकार केवल क्षत्रिय को है। न ब्राह्मण को है, न वैश्य को। यही कारण था कि अतुलित दिव्य शक्तियों से सम्पन्न ब्रह्मर्षि विश्वामित्र को भी राक्षसों के वध के लिए राम-लक्ष्मण की सहायता लेनी पड़ी थी। यदि वे चाहते तो केवल अपने वचन मात्र से ही राक्षसों को भस्मसात् कर सकते थे किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। क्योंकि दण्ड देना ब्राह्मण का अधिकार नहीं है।

अधिकारी के निर्णय में त्रुटि होने पर कार्यसिद्धि कथमपि सम्भव नहीं। ज्ञान, श्रुत, मन्त्र, जप, देश, श्राद्ध, दान और कुल आदि के विनाश का कारण अधिकारी की अयोग्यता हो होती है। अदृढ़ व्यक्ति का ज्ञान नष्ट हो जाता है, प्रमादी का श्रुत नष्ट हो जाता है। सन्देहशील व्यक्ति की मन्त्रसाधना निष्फल हो जाती है। व्यग्र चित्त पुरुष जप का अधिकारी नहीं होता। अश्रोत्रिय पुरुष को दिया गया दान व्यर्थ जाता है और आचारहीन का वेश नष्ट हो जाता है। इस प्रकार सर्वत्र अधिकारी का कर्त्तव्य ही सिद्धिलाभ करता है। अनधिकारी सर्वत्र परिहरणीय है।[14]

संन्यास के अधिकारी के विषय में निर्णय करने के लिए ऋषियों ने अत्यन्त सावधानी से विचार किया है। इसमें त्रुटि रह जाने पर साधक लक्ष्य तक नहीं पहुँचता। अनधिकारी जब भावावेश में आकर संन्यास ग्रहण कर लेता है तो उसका परिणाम यह होता है कि वह मध्य में ही संन्यास को छोड़कर पुनः गृहस्थों जैसा जीवन बिताने लगता है। ऐसा करने पर अपना अहित तो करता ही है, संन्यास को भी अपयश दिलवाता है। इसलिए संन्यास लेने का वही अधिकारी है, जिसकी भोगेच्छा या तो उत्पन्न ही न हुई हो अथवा पर्याप्त भोग करते-करते मृत हो चुकी हो। यद्यपि भोगेच्छा भोग से शान्त नहीं होती फिर भी उसमें क्षीणता तो आ ही जाती है। परमहंसोपनिषद् में कहा गया है कि जिसने एक बार संन्यास का सूचक काष्ठ दण्ठ धारण कर लिया, यदि वह ज्ञानरहित होकर अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रखता तो वह महारौरव आदि नरकों में गिरता है।[15]

संन्यास की ब्रह्म विद्या में अपेक्षा

ब्रह्मविद्या का जो अधिकारी है, वही संन्यास का भी अधिकारी है। ब्रह्मविद्या का अधिकारी वह साधक है जिसका अन्तःकरण नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित और उपासना कर्मों के आचरण से नितान्त निर्मल हो चुका है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म-विद्या में प्रवेश चाहने वाले पुरुष के लिए नित्यानित्य वस्तु विवेक, इहामुत्रार्थ फल भोग विराग, शमादि षटक सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व इन चार साधनों की अपेक्षा स्वीकार की है।[16] इन्हीं चार साधनों में संन्यास का भी ग्रहण हो जाता है। शम, दम, तितिक्षा, उपरति, समाधान और श्रद्धा—इन छह प्रकार की सम्पत्ति में जो उपरति नाम की सम्पत्ति है, वह संन्यास ही है।[17]

अभिप्राय यह है कि ब्रह्मविद्या का अधिकारी बनने के लिए संन्यास का ग्रहण अत्यन्त अनिवार्य है। सम्बन्ध वार्तिक[18], स्मृति ग्रन्थ[19] तथा विवरण प्रमेय संग्रह[20] आदि ग्रन्थों में सर्वत्र यही बात कही गई है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ब्रह्मविद्या में संन्यास किस रूप से उप-योगी है? इसके उत्तर में ऋषियों ने तीन दृष्टियों से विचार किया है। प्रथम पक्ष तो यह है कि संन्यास चित्त को निर्मल करता है। निर्मल चित्त ही ब्रह्मविद्या में अधिकृत है। यद्यपि चित्तशुद्धि नित्य नैमित्तिक कर्म, प्रायश्चित और उपासना कर्मों से भी होती है किन्तु संन्यास के द्वारा की जाने वाली चित्त शुद्धि कर्मकृत शुद्धि से विलक्षण है। जिस पाप का विनाश कर्म से सम्भव नहीं है, उस पाप का नाश संन्यास से होता है। उक्त पाप नाश के द्वारा ही संन्यास चित्तशुद्धि में सहायक है।[21]

इस प्रकार संन्यास द्वारा चित्तशुद्धि होने पर ही ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती है, यह वेदान्त का सिद्धान्त है। यह कुछ लोगों का मत है। उनका अभिप्रायः यह है कि ब्रह्मविद्या के प्रादुर्भाव में अनेक पाप प्रतिबन्धक होते हैं। उनमें से कुछ का नाश तो यज्ञादि के अनुष्ठान से हो जाता है और शेष पाप संन्यास से निवृत्त हो जाते हैं। गृहस्थजन कर्मों के अवकाश काल में वेदान्त श्रवण भले ही करें किन्तु उन्हें ब्रह्मविद्या की प्राप्ति नहीं होती। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति तो उन्हें दूसरे जन्म में संन्यास लेकर ही होती है। जनकादि गृहस्थों को जो ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हुई है, वह तो पूर्वजन्मों के संस्कारों के फलस्वरूप हुई है।

दूसरा पक्ष यह है कि संन्यासधारण से एक अदृष्ट उत्पन्न होता है। वह अदृष्ट ही साधक को वेदान्तश्रवण का अधिकारी बनाता है।[22]

इसका अभिप्राय यह है कि संन्यास से साधक के चित्त में एक संस्कार उत्पन्न होता है। वह संस्कार उसे देव ब्रह्मणादि योनियों में ले जाता है, जहाँ उसे ब्रह्म-विद्या का उपयोगी परिवेश मिलता है। वहाँ वह वेदान्त श्रवण द्वारा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति करता है।

तीसरा पक्ष यह है कि संन्यास का फल अदृष्ट नहीं अपितु दृष्ट ही है । वह दृष्ट फल है—अनन्यव्यापारता का प्रतिपादन । अर्थात् संन्यास के द्वारा चित्त अनन्य व्यापार होकर विक्षेपाभाव युक्त हो जाता है । निर्विक्षेप होकर वह ब्रह्म-विद्या का अधिकारी बनता है ।

उक्त तीनों पक्षों में इतना तो अव्यभिचरित तथ्य स्पष्ट ही है कि ब्रह्म-विद्या के लिए संन्यास किसी-न-किसी रूप में अत्यन्त अनिवार्य है । गृहस्थाश्रमियों का चित्त कार्य में व्यापृत रहने के कारण विक्षिप्त रहता है, जिससे वह अनन्य व्यापार होकर श्रवणादि का अनुष्ठान नहीं कर पाता । उसके लिए तो पूर्ण समय की आवश्यकता है और यह समय संन्यासी को ही लक्ष्य हो सकता है ।

संन्यास का अधिकारी कौन ?

वर्ण भेद को दृष्टि में रखकर संन्यास के अधिकारी विषयक तीन मत शास्त्रों में प्राप्त होते हैं । प्रथम पक्ष कठोर ब्राह्मणवादियों का है, जो यह कहते हैं कि संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मणों को प्राप्त है, क्षत्रियों व वैश्यों को नहीं । शूद्र के अधिकार का तो प्रश्न ही नहीं उठता । दूसरा पक्ष त्रैवर्णिक पक्ष कहलाता है जो पहले से कुछ उदार है । इनके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य तीनों वर्ण संन्यास के अधिकारी हो सकते हैं । तीसरा पक्ष अत्यन्त उदार है जो चातुर्वर्ण्य को संन्यास का अधिकार प्रदान करता है । इस विषय का विवेचन करना प्रासंगिक होगा ।

1. ब्राह्मणवादी पक्ष

अद्वैत वेदान्त के संस्थापक आचार्य शंकर कठोर ब्राह्मणवादी हैं । उनका बेलाग मत यह है कि संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी केवल ब्राह्मण ही है । यह अधिकार उसने किसी से छीना नहीं है अपितु यह अधिकार उसे श्रुति और स्मृतियों से प्राप्त है । 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' यह उपनिषदों का आदेश है । यह ब्रह्म संस्था केवल ब्राह्मण को ही सुलभ है । मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि ब्राह्मण कर्मचित्त लोकों की अच्छी प्रकार परीक्षा करके वैराग्य प्राप्त करते हैं क्योंकि अकृत मोक्ष कृतकर्मों से प्राप्त नहीं है ।[23] बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि ब्राह्मण आत्मज्ञान का पूर्णतया सम्पादन कर आत्मज्ञान रूप बल से रहने की इच्छा करे । पुन: बाल्य और पाण्डित्य को पूर्णतया प्राप्त कर वह मुनि होता है तथा मौन व अमौन का सम्पादन कर कृतकृत्य होता है ।[24] निरुक्त में कहा गया है कि विद्या ब्राह्मण के पास गई और उससे बोली कि मैं तेरी निधि हूँ, मेरी रक्षा

कर ।[25]

उपर्युक्त पंक्तियों में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग ब्राह्मण के अध्यात्म में एकाधिकार को ही प्रकट करता है। नारदपरिव्राजकोपनिषद् में ब्राह्मण का लक्ष्य बताते हुए उसकी उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जिसे कोई न सत्, न असत्, न अश्रुत, न बहुश्रुत, न सुवृत्त और न दुर्वृत्त रूप में जानता है, वही ब्राह्मण है। वह ब्राह्मण गूढ धर्म का आचरण करता हुआ दूसरों से अज्ञातचरित होकर, अन्ध, जड़ और मूक के समान होकर पृथ्वी पर विचरण करे।[26]

श्रुति और स्मृतियों में सर्वत्र ब्राह्मण शब्द ही पठित है। 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्'[27] संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान्[28] ब्राह्मण: प्रव्रजेत'[29] इत्यादि श्रुति वाक्यों से ब्राह्मण का ही प्रव्रजन श्रुति सम्मत है।

आचार्य शंकर ने सर्वत्र शूद्र को वेदाध्ययन और संन्यास के अधिकार से वंचित कर दिया है। वेद के अध्ययन के लिए उपनयन का होना आवश्यक माना गया है और उपनयन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का ही माना गया है।[30]

तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि शूद्र यज्ञ करने में अयोग्य है। मनुस्मृति भी कहती है कि शूद्र के लिए लशुन भक्षण से पाप नहीं होता और वह उपनयनादि संस्कार के योग्य नहीं है।[31] शूद्र की व्याख्या करते हुए मनु ने कहा है कि दूसरा जन्म न होने के कारण एक जन्मवाला ब्रह्मजन्म से रहित शूद्र वर्ण है।[32] आचार्य शंकर ने तो श्रुति का अवलम्बन कर यहाँ तक कह दिया है कि वेद का श्रवण करने वाले शूद्र कानों को रांग और लाख से भर देना चाहिए।[33] 'श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात् स्मृतेश्च'[34] इस सूत्र की व्याख्या में आचार्य शंकर कहते हैं कि शूद्र तो निस्संदेह एक चलता-फिरता श्मशान है। इसलिए शूद्र के समीप वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए।[35] इस प्रकार जिसके समीप में भी अध्ययन करना युक्त नहीं है, वह अश्रुत वेद का अध्ययन कैसे करेगा? शंकर कहते हैं कि इतिहास व पुराणादि के अध्ययन में तो शूद्र का अधिकार हो सकता है किन्तु वेदाध्ययन और प्रव्रज्या में शूद्र का अधिकार बिलकुल नहीं है।[36]

आचार्य शंकर के मत पर आक्षेप करते हुए कुछ लोग कहते हैं कि राजा जानश्रुति तो शूद्र था। फिर उसे रैक्व मुनि ने ब्रह्मविद्या क्यों दी? इसका उत्तर आचार्य शंकर देते हैं कि राजा जानश्रुति शूद्र नहीं थे, अपितु क्षत्रिय थे किन्तु रैक्व के पास आकर द्विज बन गए थे। प्रसंगवश जानश्रुति की कथा जान लेना आवश्यक है। छान्दोग्योपनिषद्[37] में यह प्रकरण इस प्रकार आया है कि राजा जानश्रुति दान, अतिथि सेवा और ब्राह्मण पूजा के कारण बड़ा तेजस्वी हो गया था। एक दिन की बात है कि राजा जानश्रुति रात के समय अपने महल की छत पर बैठा था। उसी समय कुछ हंस उसके ऊपर से उड़ते जा रहे थे। उनमें से एक

ने दूसरे को पुकार कर कहा—"अरे सावधान, इस राजा जानश्रुति का महान् तेज आकाश में फैला हुआ है। कहीं भूल से उसका स्पर्श न कर लेना, नहीं तो भस्म हो जाओगे।" यह सुनकर आगे जाने वाले हंस ने कहा—"अरे भाई तू किस महत्ता को लेकर उस राजा को इतना महान् मान रहा है ? क्या तू इस राजा को गाड़ी वाले रैक्व मुनि के समान महान् समझता है ?" यह सुनकर पीछे वाले हंस ने पूछा कि "रैक्व कौन है ? कैसा है ?" अगले हंस ने उत्तर दिया, "यह समस्त प्रजा जो कुछ भी शुभ कर्म कर रही है, वह सब रैक्व को प्राप्त होता है तथा जिस तत्व को रैक्व जानता है, उसे जो कोई भी जान ले, उसकी ऐसी महिमा हो जाती है। यह जानश्रुति इतना महान् नहीं है।" हंसों के वार्तालाप को सुनकर राजा जानश्रुति के मन में तुच्छता से शोक उत्पन्न हुआ। फिर वह रैक्व की खोज करा कर उनके पास विद्या ग्रहण करने गया। रैक्व मुनि विद्वान् थे। वे राजा की मनःस्थिति को जान गए। उन्होंने उसके मन में जमे हुए ईर्ष्या भाव को दूर करके उसमें श्रद्धा का भाव उत्पन्न करने का विचार किया और अपनी विद्वता सूचित करके उसे सावधान करते हुए शूद्र कहकर पुकारा।[38]

यहाँ आचार्य शंकर कहते हैं कि रैक्व मुनि जानते थे कि जानश्रुति क्षत्रिय है। रैक्व ने उसे इसलिए शूद्र कहा था क्योंकि वह शोक से वशीभूत होकर दौड़ा आया था। अतः इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वेदविद्या में शूद्र का अधिकार है।[39]

इस प्रकार आचार्य शंकर का मत कठोर ब्राह्मणवाद की स्थापना करता है। उसमें शूद्र को किसी ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी आचरण का अधिकार नहीं है।

सम्बन्धवार्तिक के रचयिता का भी यही दृष्टिकोण है कि श्रुतियों में अनेक स्थानों पर जो ब्राह्मण शब्द का ग्रहण किया गया है, वह प्रव्रज्या के अधिकार विशेष का ज्ञान कराने के लिए ही किया गया है। क्षत्रिय और वैश्य को श्रुति में संन्यासविधि के सर्वथा अयोग्य घोषित किया गया है।[40]

2. त्रैवर्णिक पक्ष

ब्राह्मणवाद की अपेक्षा कुछ उदार दृष्टिकोण वाले विद्वानों का मत है कि ब्राह्मण के समान क्षत्रिय और वैश्य को भी संन्यास का अधिकार श्रुति सम्मत है। उपनिषदों में जहाँ ब्राह्मण शब्द आया है, वहाँ ब्राह्मण शब्द का अर्थ केवल ब्राह्मण नहीं है अपितु वह क्षत्रिय का उपलक्षण है। यह क्षत्रिय और वैश्य का भी संग्रह करता है। जाबाल उपनिषद् में कहा गया है—"यदि वैराग्य भाव दृढ़ हो जाए तो ब्रह्मचर्याश्रम या गृहस्थाश्रम अथवा संन्यासाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लें।[41] यह श्रुति विशेष प्रव्रजन के लिए किसी जाति विशेष का विधान नहीं करती अपितु इसकी मान्यता मनु के कथन की पुष्टि करती है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य

भी घर से प्रव्रजन कर सकता है।[42] यह ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम त्रैवर्णिकों के लिए समान रूप से उपादेय है।"[43] वार्तिककार ने इसीलिए आगे कहा है कि यदि ब्राह्मण शब्द को उपलक्षण माना जाएगा तब तो संन्यास का ग्रहण तीनों वर्णों के लिए श्रुति सम्मत माना जाएगा।[44]

3. चातुर्वर्ण्य पक्ष

तीसरा मत सर्वाधिक उदार है। इसमें मनु, गीता, विदुर आदि ग्रन्थ और ग्रन्थ-कारों को संग्रहीत किया जाता है। इनकी मान्यता है कि वेद विद्या और वेदोक्त धर्मों के आचरण का अधिकार सभी वर्णों को समान रूप से प्राप्त है। उनका तर्क है कि जैसे तैत्तिरीयसंहिता में 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्त'[45] कह कर शूद्र को यज्ञ का अनधिकारी बताया गया है, वैसा 'शूद्रो विद्यायाम् न व क्लृप्तः' कह कर विद्याधिकार का निषेध नहीं किया गया। यह कोई नियम नहीं है कि अग्निहोत्र से रहित शूद्र ब्रह्म विद्या को नहीं जान सकता। विदुर, वाल्मीकि, जाबाल आदि ऋषि शूद्र जाति में उत्पन्न हुए थे किन्तु फिर भी ब्रह्मविद्या प्राप्त करके ब्रह्मर्षि कहलाए। उन्होंने विधिवत् संन्यास ग्रहण किया। इसलिए शूद्र भी ब्रह्मविद्या और संन्यास का अधिकारी है।

छान्दोग्य में कथा आई है कि जबला के पुत्र सत्यकाम ने गौतम नामक आचार्य की शरण में जाकर कहा—"भगवन्! मैं ब्रह्मचर्यपालन पूर्वक आपकी सेवा में रहने के लिए आया हूँ।" तब गौतम ने उसकी जाति का निश्चय करने के लिए पूछा—"तेरा गोत्र क्या है?" इस पर उसने स्पष्ट कहा—"मैं अपना गोत्र नहीं जानता। मैंने अपनी माता से गोत्र पूछा तो उसने कहा कि, "मैं नहीं जानती कि तेरा गोत्र क्या है? मेरा नाम जबाला और तेरा नाम सत्यकाम है।" इसलिए मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि मैं जाबाल सत्यकाम हूँ।[46] यह सुनकर गुरु ने कहा "ऐसा स्पष्ट भाषण ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता। अतः हे सौम्य! तू समिधा ले आ। मैं तुम्हारा उपनयन करूँगा क्योंकि तुमने सत्य का त्याग नहीं किया।[47]

यद्यपि गौतम जानते थे कि सत्यकाम ब्राह्मणेतर है फिर भी उन्होंने उसके गुणों को देखकर उसके शूद्रत्व का अपलाप करके ब्रह्मविद्या प्रदान की। इस प्रकरण में यही सिद्ध किया है कि उपनीत होकर शूद्र का भी वेदविद्या में अधिकार बन जाता है।

गीता में कहा गया है कि स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि वाले पुरुष भी मेरी शरण होकर परमगति को प्राप्त करते हैं।[48] इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् की भक्ति द्वारा परमगति प्राप्त करने में मनुष्यमात्र का अधिकार है। यदि शूद्र को यह अधिकार न देकर केवल ब्राह्मण को ही यह अधिकार दिया जाएगा और

उसे श्रुति विहित सिद्ध किया जाएगा तो इतिहास, पुराण और उपनिषदों में आई हुई विदुर, जाबाल, वाल्मीकि, विश्वामित्र जानश्रुति आदि ब्राह्मणेतर पुरुषों की कथाएं सारहीन समझी जाएँगी। जो अपने तपोबल से न केवल द्विज-मूर्धन्य बने अपितु जिन्होंने समस्त मानव जाति को ब्राह्मणत्व की शिक्षा प्रदान की।

चातुर्वर्ण्य का आधार

उपर्युक्त तीनों पक्षों को दृष्टि में रखकर जब विचार किया जाता है तो मन संशयित और भ्रान्त होकर किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाता। प्रश्न यह उप-उपस्थित होता है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार किसे माना जाए जन्म या कर्म ?

यदि जन्म को आधार मानेंगे तो इतिहास-पुराणादि में असमंजस की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। विश्वामित्र जन्मना क्षत्रिय थे किन्तु अपने तपोबल से ब्रह्मर्षित्व के पद को प्राप्त किया। बाल्मीकि क्रूरकर्मा चाण्डाल थे किन्तु नाम के प्रताप से उग्रतपस्वी और दिव्य ऋषि हुए। विदुर दासीपुत्र होते हुए भी तात्कालिक नीतिज्ञों में श्रेष्ठ माने गए। विदेहराज जनक राजा होते हुए भी ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से पूर्ण ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण थे।

जन्म और कर्म के विषय में दोनों मत प्राप्त होते हैं। कहा गया है— 'जन्मना जायते संस्काराद् द्विज उच्यते'। अर्थात् सभी प्राणी जन्म से शूद्र ही उत्पन्न होते हैं किन्तु संस्कारों से उसे द्विज बनाया जाता है। द्विज वह है जिसका दूसरा जन्म हो 'द्विर्जायते इति द्विजः'। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को गुरु द्वारा यज्ञोपवीत संस्कार करा कर वेद ज्ञान प्रदान करके द्विज बनाया जाता है किन्तु शूद्र एकजाति ही रहते हैं क्योंकि उनका संस्कार नही किया जाता। मनुस्मृति में यही स्वीकार किया गया है।[49]

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि गुण कर्मों का विभाजन करके मैंने ही चारों वर्णों का निर्माण किया है।[50] क्या इसका अर्थ यह है कि परमात्मा ने पहले ही वर्ण निर्धारित करके सृष्टि में मनुष्य को पैदा किया है ? अथवा इसका अर्थ यह है कि गुण कर्मों के आधार पर मनुष्य अपना वर्ण स्वयं ही चुन सकता है ?

यदि प्रथम पक्ष को मान लें तो मनुष्य ईश्वर द्वारा पहले ही ब्राह्मणादि वर्ण निश्चित करके भेजा गया है, जो अपरिवर्तनशील है। द्वितीय पक्ष को मानने पर इतिहास पुराणादि को अप्रमाणिक कहना पड़ेगा। क्योंकि उनमें जो अजामिल, शम्बूक, कर्ण, चन्द्रगुप्त आदि की कथाएं हैं, उनसे स्पष्ट है कि अजामिल को शूद्र कहा गया है। शम्बूक का वध श्रीराम द्वारा मर्यादा स्थापन हेतु हुआ। कर्ण को सूत पुत्र तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को वृषल शब्द से सम्बोधित किया गया है।

मनुस्मृति में कहा गया है कि शुद्ध, पवित्र, अपने से उत्कृष्ट वर्ण की सेवा करने वाला, मधुरभाषी, अहंकार से रहित, सदा ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा करने वाला शूद्र भी उत्कृष्ट जाति (द्विजवर्ण) को प्राप्त कर लेता है।[51] इससे भी आगे यह स्पष्ट कह दिया गया है कि श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। अर्थात् गुण कर्मों के अनुकूल कोई ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के गुण वाला होता है, वह क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र हो जाता है। शूद्र के घर उत्पन्न होने वाला मूर्ख शूद्र रहता है किन्तु उत्तम गुणयुक्त यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य बन जाता है।[52] मनुस्मृति में तो यह भी कहा है कि जो द्विज वेदाध्ययन नहीं करता वह शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।[53] संन्ध्योपासना न करने वाले द्विज शूद्र के समान द्विज कार्यों से बहिष्कृत कर देने चाहिएँ।[54] ऐसा कह कर मनु ने स्पष्ट कर दिया है कि ब्राह्मण के लिए विहित कर्मों को न करने वाला ब्राह्मण नहीं है तथा क्षत्रियोचित कार्य न करने वाला क्षत्रिय नहीं है। जो शूद्र अर्थात् मूर्ख के घर जन्म लेकर भी अध्ययन करके विद्वान् होता है, वह अपने कर्मों के अनुकूल ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य वर्ण को अपना सकता है। इसलिए आचार्य शंकर के ब्राह्मणवाद को मनु की व्याख्या के सन्दर्भ में देखने पर इस समस्या का समाधान हो सकता है। क्योंकि विद्वान् को ही संन्यासयोग का अधिकार है। जब तक किसी भी कुल में जन्म लेने वाला पुरुष अध्ययन करके ब्राह्मणत्व को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह संन्यासयोग का अधिकारी नहीं हो सकता। क्योंकि सदाचार से हीन और कदाचार में लीन मूर्ख पुरुष ही शूद्र कहलाता है।

संन्यास का समय

भारतीय धर्मशास्त्रों व दार्शनिक ग्रन्थों में मानव जीवन की पूर्णता के लिए संन्यास को एक अनिवार्य आचार तत्व के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु संन्यासग्रहण के समय के विषय में कहीं विशेष आग्रह नहीं पाया जाता। जिस प्रकार वैराग्य और मोक्ष का कोई देश और काल नहीं हुआ करता, वैसे ही संन्यास के लिए भी कोई विशेष परिस्थिति या समय का प्रतिबन्ध नहीं है।[55] संन्यास के लिए जो अनिवार्य नियत पूर्ववर्ती तत्व है, वह है—वैराग्य। वैराग्य के लिए किसी देश-काल विशेष की अपेक्षा नहीं होती। समस्त सुख साधन, नवीन वय और अपरिमित ऐश्वर्य के होते हुए भी राजाओं तक की प्रवृत्ति वैराग्य में देखी गई है। गौतम बुद्ध का उदाहरण द्रष्टव्य है। जिनको वैराग्य नहीं होना होता, उन्हें निरन्तर तिरस्कृत, प्रताड़ित और दारिद्रय युक्त होने पर भी नहीं होता। विकलांग और गलितांग मनुष्य भी भोगों की ओर आकृष्ट देखे जाते हैं।

वस्तुत: वैराग्य अन्तिम सत्य है। जैसे देह में चैतन्य रग-रग में समाया होता है, वैसे ही वैराग्य आत्मा में स्वभाव से समाविष्ट है। भोगवांछा तो अवसर देखकर उत्पन्न होती है। युवावस्था, रूप-सम्पत्ति और भोगैश्वर्य ये सभी भोग-वांछा के उपकरण और भूमि हैं। जैसे उर्वरा भूमि में पड़ा बीज जलवायु और आतप को प्राप्त करके स्वत: अंकुरित होने लगता है किन्तु वही बीज, जल, वायु और आतप के अभाव में भूमि में पड़ा हुआ भी सड़ जाता है। वैसे ही भोगवांछा नवीन, आयु, रूप सम्पत्ति और ऐश्वर्य को प्राप्त करके प्रबल हो उठती है। किन्तु ये सभी भोग साधन अचिरस्थाई हैं। ये अन्तिम सत्य नहीं है। कभी-न-कभी इनका नाश अवश्य होगा। अत: कुछ विलम्ब से ही सही वैराग्य में प्रवृत्ति भी अवश्य होगी। अब यह हमारे प्रारब्ध और संस्कारों के उद्बोधन पर निर्भर है कि वह वैराग्य भावना कब, कहाँ और किन परिस्थितियों में उद्बुद्ध हो जाए। जैसे ही यह भावना उद्बुद्ध होती है, वैसे ही संन्यास में प्रवृत्ति हो जाती है।[56] इसलिए संन्यास को किसी काल विशेष में नियमित करना सम्भव नहीं है।

सामान्य रूप से संन्यास का समय मनुष्य की आयु का अन्तिम चरण माना गया है। ब्रह्मचर्य काल अध्ययन के लिए नियमित किया गया है क्योंकि इस अवस्था में देह और इन्द्रियाँ भोगों से अपरिचित होती हैं और वीर्य शरीर और मन को पुष्ट करके अध्ययन के लिए उपयुक्त सामग्री जुटाता है। ब्रह्मचर्य की अवधि सामान्य रूप से पच्चीस वर्ष मानी गई है। किन्तु यह भी कोई विशेष नियम नहीं है कि पच्चीस वर्ष तक ही ब्रह्मचर्य का पालन किया जाए। भोगवांछा प्रबल होने पर पच्चीस वर्ष से पहले भी ब्रह्मचर्य का त्याग करके गृहस्थ में प्रवेश किया जा सकता है और यदि भोग वासनाएँ पच्चीस वर्ष तक भी अंकुरित नहीं होती तो ब्रह्मचर्य का काल पच्चीस वर्ष से भी आगे बढ़ाया जा सकता है।

भोग वासनाएँ प्रबल होने के कारण गृहस्थाश्रम में अनिवार्य रूप से प्रवेश शास्त्रविहित है। आयुर्वेदशास्त्र की मान्यता है कि वासनाओं को बलपूर्वक दबाए रखने से भी बल और वीर्य की हानि होती है क्योंकि इन आश्रमों का विधान देह के आधार पर नहीं, मन के आधार पर किया गया है। मनुष्य का धैर्य और सहिष्णुता सीमति होती है। वह बहुत समय तक इन्द्रियों को वश में करके नहीं रह सकता। सामान्य रूप से गृहस्थ की अवधि भी पच्चीस से पचास वर्ष की आयु तक निर्धारित की गई है। किन्तु इसके लिए भी कठोर नियम नहीं बनाया जा सकता। किसी का मन और देह इतना पुष्ट होता है कि वह गृहस्थ-धर्म का पालन पचास वर्ष से पहले भी छोड़ सकता है और किसी का मन और देह इतना दुर्बल होता है कि वह आजीवन उसी में लिप्त रहता है।

गृहस्थाश्रम के अनन्तर सामान्य मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का समय प्रारम्भ होता है। पचास वर्ष की आयु होने पर मनुष्य को अनिच्छा से भी घर

छोड़ देना चाहिए तथा वन में निवास करना चाहिए। पुत्रों तथा पत्नी से अपमानित मनुष्य की इच्छा वन प्रदेश के लिए स्वतः भी हो सकती है। यदि यह इच्छा स्वतः न भी हो तो भी शास्त्र मर्यादा का सम्मान करते हुए गृह त्याग कर मनुष्य को वानप्रस्थी हो जाना चाहिए।

इसके अनन्तर संन्यास का समय प्रारम्भ होता है। वास्तव में वानप्रस्थ भी संन्यास की भूमिका होती है। किन्तु वास्तविक वैराग्य आयु के अन्तिम चरण में ही होता है। गृहस्थ में सुख भोग करते हुए मनुष्य का देह और मन कुछ कोमल और असहिष्णु हो जाता है। अरण्यवास में मन और देह को जरठ करके उसे संन्यास के लिए उपयोगी बनाया जाता है। सामान्य रूप से संन्यास ग्रहण का समय आयु का अन्तिम चरण इसलिए माना गया है क्योंकि इसके अतिरिक्त और कोई कल्याण का साधन शेष नहीं रहता। सब ओर से नष्ट-भ्रष्ट होकर मनुष्य संन्यास के लिए विवश हो जाता है। किन्तु ऐसा सबके साथ नहीं होता। मृत्युपर्यन्त लोग गृहस्थासक्त देखे जाते हैं।

मानव प्रवृत्ति की इस उच्चावच भूमिका को देखते हुए संन्यास के लिए किसी विशेष काल का विधान नहीं किया गया। व्यासपुत्र शुकदेव अन के अनन्तर ही अरण्य की ओर चल पड़े थे।[57] शुद्धोधन पुत्र सिद्धार्थ ने युवावस्था में ही राजपद का त्याग करके अरण्य की शरण ली थी। राजर्षि जनक आजीवन विदेह व्रत का पालन करते रहे। स्वामी दयानन्द बाल्यकाल से ही सांसारिक असारता को जानकर किशोर वय में ही गृह त्याग कर चले गए तथा ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लिया था। शंकराचार्य ने भी ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण करके कल्याण मार्ग का वरण किया था। विवेकानन्द ने 39 वर्ष की अल्पायु में ही योग की उस भूमि को प्राप्त कर लिया था जो सामान्य जनों के लिए दुर्लभ कही गई है। इसलिए जहाँ शास्त्रों ने क्रम संन्यास का विधान किया है कि ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से संन्यास ग्रहण करना चाहिए।[58] वहीं उक्त नियम का परिमार्जन भी कर दिया है कि यदि वैराग्य हो जाए तो ब्रह्मचर्य काल के तुरन्त पश्चात् ही संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। गृहस्थाश्रम का भोग करते हुए अथवा उसके पश्चात् भी वैराग्य का उदय होने पर संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। वानप्रस्थ के पश्चात् तो ग्रहण करने का विधान ही है। तात्पर्य यह है कि जिस दिन भी वैराग्य हो जाए उसी दिन प्रव्रज्या ले लेनी चाहिए।[59]

मनुस्मृति में कहा है कि पवित्र आत्मा और पवित्रान्तःकरण, मननशील और अनासक्त पुरुष गृहस्थाश्रम से संन्यास ग्रहण कर ले। अथवा ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण कर ले।[60] यही मंतव्य स्वामी दयानन्द ने संस्कारविधि में व्यक्त किया है।[61] मनु महाराज ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान व सत्योपदेश देकर गृहस्थाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेता है,

उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी को मोक्षलोक और सब लोक-लोकान्तर तेजोमय हो जाते हैं।[62]

स्वामी दयानन्द ने संस्कार विधि में स्पष्ट स्वीकार किया है कि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ का ज्ञान होना ही मुख्य कारण है। अतः क्रम संन्यास (प्रत्येक आश्रम का पालन करते हुए संन्यास धारण) के अतिरिक्त यदि वानप्रस्थ का समय भी न हुआ हो अथवा गृहस्थाश्रम से भी संन्यास ग्रहण करे। ब्रह्मचर्य से भी संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। यदि जितेन्द्रिय और विरक्त ब्रह्मचारी संन्यास ग्रहण करना चाहे तो उसे अवश्य ग्रहण करना चाहिए।[63]

संन्यास के काल विषयक इन अनियमों को देखते हुए संन्यास की दीक्षाओं का भी कोई काल नहीं रखा गया है। यहाँ तक कहा गया है कि यदि मृत्यु से एक क्षण पूर्व ही वैराग्य हो जाए तो भी उसे संन्यासदीक्षा दी जा सकती है। उस समय 'प्रैष' मन्त्र का जाप करने तथा 'संन्यस्तोऽहम्' कथन मात्र से ही वह संन्यासदीक्षा प्राप्त कर लेता है। उसके लिए संन्यास दीक्षा विधि की भी आवश्यकता नहीं।[64]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि संन्यास की दीक्षा का कोई काल विशेष निश्चित नहीं है। मुख्य कारण दृढ़ वैराग्य के उदय होने पर वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ किसी भी आश्रम से संन्यास ग्रहण कर सकता है। हाँ, दृढ़ वैराग्य के बिना वह ब्रह्मचर्य अथवा गृहस्थ से संन्यास न ले। वानप्रस्थाश्रम में आकर तो स्वतः ही विरक्ति का भाव आ जाता है। उस अवस्था में तो संन्यास अवश्य ही लेना चाहिए।

संन्यास और त्रिविध एषणाएँ

संन्यासमार्ग पर आरूढ़ होने के अभिलाषी पुरुष को बाल्य और पांडित्य दोनों का सम्यक् रूप से सम्पादन करके त्रिविध एषणाओं से नितान्त मुक्ति प्राप्त करना अनिवार्य होता है। बाल्य और पांडित्य ये दोनों ही एषणामुक्ति के प्रधान साधन हैं। बाल्य का अर्थ है बलवत्ता और पांडित्य का अर्थ है नित्यानित्य वस्तु विवेक। संन्यास के लिए शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक बल की आवश्यकता पद-पद पर होती है। यह मार्ग दुर्बल, भीरु और चलायमान चित्तवाले पुरुषों के लिए सेव्य नहीं है। इस मार्ग पर तो धीर और वीर पुरुष ही चल सकते हैं। संन्यास मार्ग असिधारव्रत के समान महान् दुष्कर है। जिस प्रकार कृपाण की धारा पर कोई सिद्धहस्त कलाकुशल व्यक्ति ही चरणों को आहत किए बिना चल सकता है, वैसे ही संन्यासयोग का पथिक हृदय में पृथ्वी की सहिष्णुता, हिमालय की

उन्नतता और समुद्र की गम्भीरता को लेकर ही संन्यासमार्ग पर आरूढ़ हो सकता है। ऐसा होने पर ही पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा रूप महान् शत्रुओं का घर्षण कर सकता है। अन्यथा ये तीनों एषणाएँ बीच में ही रोककर संन्यास के पथिक को मार्गभ्रष्ट कर सकती हैं। इसी शक्ति को बृहदारण्यकोपनिषद् में 'बाल्य' शब्द से अभिहित किया गया है।[65]

बाल्य के समान पाण्डित्य भी संन्यासयोगी की अनुपम सम्पत्ति होती है। ब्रह्माण्ड में क्या नित्य है ? क्या अनित्य है ? इस तथ्य का ज्ञान होना मोक्षमार्ग पर चलने वाले पुरुष के लिए अत्यन्त अनिवार्य होता है। एक आत्मतत्व को छोड़कर यह समस्त दृश्यमान् प्रपंच अनित्य है। आत्मा ही नित्य तत्व है। इस बात को अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए। अन्यथा यदि कभी वासनाओं के वश में होकर पुत्र-कलत्र-वित्तादि अपनी ओर उसे लुभाने लगें और उनसे आकृष्ट चित्त होकर वह संन्यासदीक्षा का त्याग करके पुन: गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने लगें तो यह एक महान् पातक होगा। इसलिए नित्यानित्य वस्तुविवेक रूप पाण्डित्य का अच्छी प्रकार सम्पादन करके ही पुरुष उक्त त्रिविध एषणाओं से मुक्ति पा सकता है।

मुख्य रूप से तो एषणा का एक ही स्वरूप है किन्तु लौकिक स्तर पर उसके तीन भेद कर दिए गए हैं। वस्तुत: एषणा मन की दुर्बलता है। जब-जब मन अशक्ति का अनुभव करता है, तब-तब वह शक्तिलाभ के लिए एषणाओं की ओर दौड़ता है किन्तु वस्तुत: ये एषणाएँ शक्ति देने के स्थान पर शक्ति का ह्रास करती हैं।

इन त्रिविध एषणाओं में मानसिक दुर्बलता सदा काम करती है। एषणा तो एक ही है। जो पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है।[66] 'मैं पुत्र के द्वारा इस लोक को जीत लूं' ऐसी इच्छा पुत्रैषणा है। प्राय: पुत्र को नरकतारक माना जाता है। उस पुत्र की प्राप्ति के लिए पुरुष विवाह करता है। पहली पत्नी से यदि पुत्र प्राप्ति नहीं होती तो वह दूसरा, तीसरा और इसी प्रकार अनेक विवाह कर लेता है। यदि फिर भी पुत्र प्राप्त नहीं होता तो वह पुरुष स्वयं को हतभाग्य समझता है। यह अनेक दाराओं का संग्रह ही पुत्रैषणा है।[67]

कर्म के साधनभूत गौ, गृह, रत्नादि को प्राप्त करने की इच्छा वित्तैषणा कहलाती है। पुरुष यह सोचता है कि मैं वित्त का संग्रह करके विवाह करूँगा उससे पुत्र होगा और पुत्र से पितृलोक की प्राप्ति होगी अथवा वित्ता के द्वारा यज्ञादि का सम्पादन करके देवलोक को प्राप्त करूँगा। इस प्रकार लौकिक-वित्त और दैव-वित्त से पितृलोक और देवलोक को जीतने की इच्छा वित्तैषणा कहलाती है। यह वित्तैषणा बड़ी प्रबल है। राज्य का परित्याग कर अरण्य का आश्रय लेने वाले राजर्षि विश्वामित्र भी अनेक बार इस वित्तैषणा से प्रभावित हुए

और अनेक बार उनका तपोभंग हुआ । यह वित्तैषणा एक ऐसा कामचारी चोर है, जो जरा-सा छिद्र मिलते ही तत्व ज्ञानी के मन में भी प्रविष्ट हो जाता है तथा उसके बने बनाए तपोभवन् को ध्वस्त कर देता है । धैर्यवान् और विद्यावान पुरुष ही बड़े प्रयत्न से इससे बच पाते हैं ।

तृतीय एषणा लोकैषणा है । यश की लिप्सा लोकैषणा कहलाती है । वस्तुतः यह लोकैषणा पूर्वोक्त पुत्रैषणा और वित्तैषणा से भिन्न नहीं है । फिर भी लोक में इस पृथक् करके जाना जाता है । पुरुष का यह स्वभाव है कि वह सदैव यही चाहता है कि उसका कोई अपमान न करे, उसकी बुराई न करे और उसके पुत्र वित्तादि का नाश न करे । इसी यश की प्राप्ति के लिए वह पुत्र और वित्त का संग्रह करता है । पुत्रहीन पुरुष लोक और परलोक दोनों स्थानों पर दुर्गति प्राप्त करता है । गृह, गौ, रथ, तुरंगादि वित्त का संग्रह भी वह दूसरों की दृष्टि में उन्नत और संस्कृत होने के लिए ही करता है। इसीलिए तो लोकैषणा को पुर्वोक्त दोनों एषणाओं से पृथक नहीं माना गया है ।[68]

इस प्रकार उपर्युक्त द्विविध त्रिविध एषणाओं से मुक्त होकर ही परिव्राट् सर्वसमर्थ संन्यासयोगी कहलाता है। याज्ञवल्क्योपनिषद् में कहा गया है कि संन्यासी को वित्तैषणा से इतना दूर रहना चाहिए कि अपने वस्त्रों से भी मोह न करे । यदि वस्त्र छिन जाएँ तो दिशाओं को ही अपना वस्त्र समझे । लोकैषणाओं से इस प्रकार दूर भागे कि किसी से नमस्कार की इच्छा न करे ।[69] ऐसे संन्यास-योगी को ही लोग प्रणाम करते हैं और सचमुच वही प्रणाम के योग्य भी है ।[70]

छद्म संन्यास

संन्यासयोग का यथार्थ स्वरूप जानने वाले और वस्तुतः उसका पालन करने वाले दोनों ही विरल हुआ करते हैं । कोई धीर तपोव्रती ही इस मार्ग पर चल सकता है । यद्यपि संन्यासी इस लौकिक समाज का ही एक अवयव है किन्तु कुछ विशिष्ट लिंगों को धारण करने के कारण समाज से अपना पार्थक्य बनाए रखता है । कषायवस्त्र, लम्बी जटाएँ, दण्ड-कमण्डलु, पादुका अथवा केशरहित शीर्ष संन्यासी के लिंग होते हैं । ये लिंग संन्यासयोगी के केवल बाह्य चिह्न हैं । संन्यास-योग का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता फिर भी इनका धारण करना आवश्यक माना जाता है । ये लिंग संन्यास में सहायक होते हैं जिनके पास केश-कर्तन का साधन नहीं होता, वे जटायें और श्मश्रु बढ़ा लेते हैं । जिनके पास यह साधन होता है वह मुण्डी हो जाते हैं । जटी और मुण्डी होना संन्यासी के लिए सुविधा-जनक होता है । जटाएँ रखने से यदि वह बार-बार केश-कर्तन के व्यापार से विश्राम

पा लेता है तो मुण्डी होने से केशों के सँवारने से भी मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार काषाय वस्त्रों में मैल को छुपाने का गुण होता है। श्वेत वस्त्रों में मैल जल्दी उद्भूत हो जाता है। अतः उन्हें बार-बार धोना पड़ता है। यद्यपि धोना तो काषाय वस्त्रों का भी आवश्यक है किन्तु उनमें कुछ दिनों के लिए धोने से मुक्ति मिल जाती है क्योंकि उनमें मैल स्पष्टतः दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार दण्ड के धारण से अनेक वन्य जन्तुओं से रक्षा होती है तो दूसरी ओर उसका एक आध्यात्मिक महत्व भी है। कमण्डलु भी संन्यासी का एक सहयोगी है। वह जल धारण के काम तो आता ही है, वहीं वह उत्तम औषधि का बना कमण्डलु रोगों का निवारण भी करता है। इसी प्रकार लिंग योगी के लिए अत्यन्त सहायक होते हैं।

संन्यास के उक्त लिंगों में जहाँ इतने गुण हैं वहीं उसमें यह दोष भी है कि वे अपराधियों को छिपा लेते हैं। संन्यास की वेशभूषा गृहस्थ से सर्वथा भिन्न है। इस वेश को धारण करके व्यक्ति को सहसा पहचाना नहीं जा सकता। इसका लाभ उठा कर कुछ तस्कर, हत्यारे अथवा अन्य किसी अपराध के अपराधी पुलिस तथा समाज के डर से छिपे रहते हैं। ऐसे छद्म संन्यासियों से यह आप्त पुरुषों द्वारा स्वीकृत संन्यासकर्म समाज की दृष्टि में कुछ कुत्सित-सा हो गया है। लोग ऐसे संन्यासियों को भी महर्षि दयानन्द, आचार्य शंकर, स्वामी विवेकानन्द आदि संन्यासयोगियों की भाँति सम्मान देते हैं। आजकल ऐसे संन्यासी बड़े-बड़े आश्रम, मठ, विहार और गगनचुम्बी अट्टालिकाओं का निर्माण करा कर प्रत्येक सुख-सुविधा के सामान को जोड़कर गृहस्थों से भी अधिक विलासमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। कोमल शय्या पर शयन, स्वादिष्ट भोजन करना, अनेक स्त्री-पुरुषों को शिष्य बना कर उनसे सेवा कराना उनके जीवन का अंग बन चुका है। ऐसे छद्म संन्यासियों ने संन्यास को कलंकित और कुत्सित बना दिया है। मैंने ऐसे छद्म संन्यासियों को देखा है। समाज के जागरूक व्यक्तियों को चाहिए कि इस प्रकार के भ्रष्ट लोगों से जनता को सावधान करें तथा उनको पकड़वाने में शासन की सहायता करें। इससे छद्म संन्यास पर रोक लगेगी तथा जनता भी प्रवंचित नहीं होगी। इसी प्रकार संन्यास का आप्त पुरुषों द्वारा स्वीकृत स्वरूप स्थाई रह सकेगा।

समीक्षा

संन्यास का स्वरूप और उसके अधिकारी ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर पक्ष पर विचार करने के पश्चात् कुछ शंकाओं और जिज्ञासाओं का मन में उठना स्वाभाविक है। संन्यासयोग का स्वरूप कुछ है भी विचित्र ही। इसका स्वरूप विवेचन इतना

सुकर नहीं है। यदि इसका स्वरूप दुष्कर न होता तो इस पर शोध करने की आवश्यकता ही प्रतीत न होती। वस्तुतः संन्यासयोग संन्यासयोगी के बाह्य क्रिया-कलापों से ही जाना जाता है। किन्तु योगी का चरित्र इतना लोक विरोधी और समाज परिह्लत होता है कि उसे देखकर विद्वान् पुरुषों को भी उसके वामाचारी अथवा छद्‌मी होने का भ्रम हो जाता है। जिसे लोक में सभ्यता और संस्कृति कहा जाता है, उससे संन्यासी का कोई सम्बन्ध नहीं होता। इनका चरित्र नितान्त गूढ़ और समाज की दृष्टि से गर्हित-सा प्रतीत होता है। हमने ऐसे कई लोगों को देखा है जो नंगे होकर पागल की तरह गलियों और बाजारों में घूमा करते थे। लोग पागल समझ कर पत्थर मारते थे। बाद में पता चला कि वे तो सिद्ध पुरुष थे वह नग्नता व पागलपन भी उनकी साधना का एक अंग था। वे स्वयं अपनी साधना की परीक्षा के लिए नग्न और पागल हुए थे कि मन में अभी कोई मानापमान की भावना शेष तो नहीं रह गई है।

संन्यासयोगी के विचित्र चरित्रों का चित्रण आचार्य शंकर ने विवेक चूड़ामणि में बहुत ही उपर्युक्त शब्दों में किया है। वे कहते हैं कि प्राज्ञ पुरुष समाज में कभी मूढ़ से प्रतीत होते हैं और कभी उद्‌भट विद्वान् के रूप में माने जाते हैं। कभी तो वे राजाओं की भाँति उद्‌भुत वैभव के साथ समय बिताते हैं तो कहीं उन्मत्त के समान नदी तट, पितृसद्‌म (श्मशान) और गिरि शिखरों पर घूमते हुए देखे जाते हैं। कभी वे अजगर के समान एक ही स्थान पर आलसी बने पड़े दिखाई देते हैं तो कहीं व्यवहार कुशल और नीति-निपुण सभ्य पुरुष भी उनके सामने असभ्य से प्रतीत होते हैं। किसी समय वे लोगों द्वारा अपमानित होते हैं। कभी सम्मानित होते हैं। उनके नाम, कुल, गोत्र आदि का परिचय भी कोई नहीं कर पाता। ऐसे परमानन्द में निमग्न योगी ही जीवनमुक्तावस्था को प्राप्त होते हैं।[71]

वस्तु स्थिति यह है कि लौकिक प्रसंगों का चरित्र तो जाना जा सकता है किन्तु जो किसी भी दृष्टि से लोकोत्तर हो गया है, उसका जानना दुष्कर ही नहीं असम्भव भी होता है। भवभूति स्वयं कहते हैं कि लोकोत्तर पुरुषों के चित्त को भला कौन जान सकता है?[72] लौकिक दृष्टि से संन्यासियों को पागल कहना अथवा लोकोत्तर चरित्रों को कुत्सित कहना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। यही बात लोकोत्तर चरित्र के धनी महाराज दिलीप के विषय में भी कही जाती है कि जब वे एक छोटी-सी गाय के लिए अपना एकछत्र राज्य, नवीन युवावस्था और कांतिमान् शरीर त्यागने को उद्यत हो गए थे, तब ऊपर से सचमुच विचारमूढ़ प्रतीत होते थे।[73] किन्तु क्या दिलीप वस्तुतः विचारमूढ़ थे? नहीं। वे तो लोकोत्तर पुरुष थे। उनका वह चरित्र भी लोकोत्तर था। फिर संन्यासयोग तो समस्त योगों की अपेक्षा उन्नत है। इसलिए उसकी चर्या को लोकोत्तर तो होना

ही चाहिए।

संन्यास के अधिकार के प्रसंग में जब यह कहा जाता है कि एकमात्र ब्राह्मण ही संन्यास का अधिकारी है तो इस सिद्धान्त को सर्वथा हेय या अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। उसमें भी एक रहस्य निहित है। इसी प्रकार जब चातुर्वर्ण्य को इसका अधिकारी बनाया जाता है तो इस पक्ष में भी निश्चित ही कुछ सत्य छिपा हुआ है। इस सत्य को जान लेने पर न तो आचार्य शंकर का मत कठोर प्रतीत होता है और न ही चातुर्वर्ण्य पक्ष की उदारता अखरती है।

समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करें तो आचार्य शंकर का ब्राह्मण पक्ष सत्य प्रतीत होता है। जातिगत स्वभाव को अनदेखा नहीं किया जा सकता। स्मृति कहती है कि सब गुणों को दबाकर स्वभाव ही सबसे ऊपर रहता है। स्वभाव के विषय में तो प्रसिद्ध है कि वह स्वयं होता है तथा जन्म से ही प्रादुर्भूत होता है। उसे बनाया नहीं जाता। चाण्डाल जाति का मनुष्य अपने हृदय को जानबूझ कर कठोर नहीं बनाता। पशु-मारण जैसे दारुण कर्म का स्वभाव उसे जन्म से ही प्राप्त होता है। उस चाण्डाल को सहसा ही संन्यासयोग की दीक्षा नहीं दी जा सकती। वह उसका अधिकारी द्विज बनकर ही हो सकता है। अब यह पृथक् से विचारणीय है कि उसे जन्मना द्विज माना जाए या उसे संस्कारों द्वारा द्विज बनाया जा सकता है। किन्तु इसमें कोई संशय नहीं है कि क्रूरकर्मा और कुत्सित कर्मरुचि शूद्र को संन्यासयोग तो क्या किसी भी वैदिक तत्व की शिक्षा देना सम्भव नहीं है। यदि उसे शिक्षा दी भी जाएगी तो वह शिक्षा ऊसर में बोए हुए बीज के समान निष्फल होगी तथा उससे गुरु का ही अपयश होगा। जब इस रहस्य को हम समझ लेंगे तो शांकर मत नितान्त परीक्षित सिद्ध होगा। तोता भी पक्षी है और बक भी, किन्तु बगुले को तोते की तरह सिखाया-पढ़ाया नहीं जा सकता। इस सत्य को जो नकारते हैं, वे सचमुच ही स्वयं को धोखा देते हैं। विश्वामित्र उग्र तप से दिव्य तो बन सकते हैं किन्तु अपने क्षत्रियत्व का त्याग नहीं कर सकते। उनके स्वभाव की क्षत्रिय सुलभ उग्रता अन्त तक बनी रहती है। उधर वशिष्ठ को देखिए। विश्वामित्र के कठोर से कठोर अमानवीय आचरण और अपमान को पुष्पमाला समझकर स्वीकार करते रहते हैं। लेशमात्र भी कल्मष उनके चित्त में नहीं आता। इसलिए इस सत्य को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि ब्राह्मण ही आध्यात्मिक समस्त विद्याओं का अधिकारी है।

इस विवेचन से कोई यह न समझे कि हम कठोर जातिवादी हैं अपितु इसके उदारवादी पक्ष की समीचीनता पर भी हमारा विश्वास है। चातुर्वर्ण्य पक्ष भी ग्राह्य है। हम यह तो मानते हैं कि ब्राह्मण ही संन्यासयोग का वास्तविक अधिकारी है किन्तु साथ ही हम इस सत्य को भी स्वीकार करते हैं कि ब्राह्मण बना जा सकता है तथा बनाया जा सकता है। किन्तु यह कार्य इतना सरल नहीं

है । अनुग्रह और निग्रह में समर्थ ब्रह्मज्ञानी ही इस कार्य को कर सकते हैं। यदि कोई ऐसा समर्थ गुरु न मिले तो अपने लोकोत्तर तीव्र संवेग वाले पुण्य कार्यों से तथा अत्युग्र तपश्चर्या से ऐसा शनैः-शनै किया जा सकता है । अन्त में विश्वामित्र भी तो ब्रह्मर्षि बन गए थे । किन्तु उसके लिए उन्हें कितना श्रम करना पड़ा, यह तो सर्वविदित ही है । यह आवश्यक नहीं है कि यह संन्यासयोग एक ही जीवन में सिद्ध हो जाए और यह भी आवश्यक नहीं कि उसका अधिकारी बनने के लिए द्विजत्व का सम्पादन भी सहज हो जाए । इसके लिए क्रमिक प्रयास किया जा सकता है । चातुर्वर्ण्य पुरुष भी द्विज बनने का प्रयास निरन्तर कर सकते हैं । हम यह पहले ही कह चुके हैं कि कल्याण मार्ग में बढ़ाया हुआ एक भी चरण निष्फल नहीं जाता । इस प्रकार कठोर ब्राह्मणवादी व चातुर्वर्ण्य पक्ष में से मध्य का समन्वय मार्ग अवश्य ही खोजा जाना चाहिए और तदनुसार संन्यास का अधिकारी बनने का प्रयास अवश्य किया जाना चाहिए ।

सन्दर्भ

1. सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः—गीता—11/40
2. सत्यार्थ प्रकाश—पंचम समुल्लास ।
3. ममताभिमान शून्यो विषयेशु पराङ् मुखः पुरुषः ।
   तिष्ठन्नपि निज सदने न बध्यते कर्मभिः क्वापि ।।
4. सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यसि वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः ।
   तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः ।
   —गीता
5. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
   लिप्यते न स पापेन पद्मपत्र मिवाम्भसा । गीता—5/10
6. निज राजभवन में उटज पिता ने छाया ।
   मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया ।—साकेत
7. नीति-शतक—1
8. गीता—2/48
9. त्यागः संन्यास उच्यते—भागवत पु०—11/19/38
10. गीता—3/8
11. अन्तः शाक्ताबहिः शैवा सभामध्ये च वैष्णवाः
    नाना रूपधराः शैवा विचरन्ति मही तले ।।—आगमसार

12. क्वचिन्मूढो विद्वान् क्वचिदपि महाराजविभवः—विवेक चूड़ा०—543
13. (क) विद्या वै ब्राह्मणमा जगाम ।
गोपायमा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।। निरुक्त—1/1
(ख) विद्या ब्राह्मणमेत्याह—मनु० 2/114
14. अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम् ।
सन्दिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः ।।
अवैष्णवो हतो देशो हतं श्राद्धमपात्रकम् ।
हतमश्रोत्रिये दानमनाचारं हतं कुलम् ।। भा० पु० (महा०) 5/73-74
15. काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञान वर्जितः ।
स याति नरकान् घोरान् महारौरव संज्ञकान् ।। परमहंसो०
16. नित्यानित्यवस्तु विवेकः इहामुत्रार्थ भोग विरागः ।
शमदमादिसाधनसम्पत् मुमुक्षुत्वं च । ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य 1/1/1
17. 'शान्तोदान्त उपरतः' इत्यादिक्षुतौ उपरत शब्द गृहीतया संन्यासस्य साधन-चतुष्टयान्तर्गतत्वात्—सिद्धान्तलेश संग्रह, पृ० 443
18. व्यक्ताशेष क्रियस्यैव संसारं प्रजिहासतः ।
जिज्ञासोरेव चैकात्म्यं ॠयन्तेष्वधिकारिता ।। सम्बन्ध वार्तिक
19. त्वं पदार्थ विवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम् ।।
श्रुत्याविधीयते यस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेत् ।।
नित्यकर्मपरित्यज्य वेदान्तश्रवणे विना ।
वर्तमानस्तु संन्यासी पतत्येवनसंशयः ।। याज्ञ० स्मृ०
20. श्रवणाधङ्तया आत्मज्ञानफलता संन्यासस्य सिद्धा—वि० प्र० सं० प्रथम परि०
21. कर्मविनाश्य दुरितनाश द्वारेति चक्षते। वेदान्तसिद्धान्तसूक्ति मन्जरी —3/9
22. अन्ये त्वदृष्टद्वारेण श्रवणेऽस्माह्यतां जगुः ।
—वेदा० सि० सूक्तिमन्जरी—3/10
23. परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
मु० 1/2/12
24. तस्माद् ब्राह्मणः पाडित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पाडित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौन च निर्विद्याथब्राह्मणः ।
बृहदा० 3/5/1
25. विद्या ह वै ब्राह्मण माजगाम । गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
निरुक्त—1/1
26. यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।

न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः ॥
गूढ़ धर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ।
अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ॥
नारदपरिव्राजको० 4/34-36

27. मुण्डक—1/2/12 ।
28. नारदपरिव्राजको० 3/14 ।
29. मनु० 6/38 ।
30. न च शूद्रस्य वेदाध्ययन-मस्ति उपनयनपूर्वकत्वात् वेदाध्ययनस्य । उपनयनस्य च वर्णत्रयविषयत्वात् । शारी० भा०—1/3/34
31. न शूद्रे पातकं किन्चन न च संस्कारमर्हति ।
मनु० 10/12/6

32. चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः । मनु० 10/4
33. अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र प्रतिपूरणमिति ।
ब्रह्मसूत्र (शारी० भा०) 1/3/38
34. वही ।
35. पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्र समीपे नाध्येतव्यम् । वही
36. न शूद्राय मतिं दद्यात्·········वेदपूर्वकस्तु ।
नास्त्यधिकारः शूद्राणामितिस्थितम् ॥ वही
37. छान्दोग्योपनिषद्—अध्याय—4
38. (क) शूद्राननेनैव मुखेनालापयिष्यथा—छा० 4/2/5
(ख) शूद्र तवैव—वही 4/2/3
39. हंसवचनश्रवणाच्छुगेनमाविवेश । तेनाऽसौ शुचा श्रुत्वा रैक्वस्य महिमानं वा आद्रवतीति ऋषिरात्मनः परोक्षज्ञतां दर्शयन् शूद्रे त्याहेति ।
छा० 4/2/3 (शां० भा०)
40. अधिकारी विशेषस्य ज्ञानाय ब्राह्मण ग्रहा ।
न संन्यास विधिर्यस्मात् श्रुतौ क्षत्रिय वैश्ययोः ॥
सिद्धान्तलेश संग्रह, पृ० 446
41. यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा—जाबालो०—4
42. ब्राह्मणः क्षत्रियोवापि वैश्यो वा प्रव्रजेत् गृहात् ।
त्रयाणामपि वर्णानामयी चत्वारा श्रमाः ॥ मनु०
43. इति स्मृत्यनुगृहीततया क्षत्रिय वैश्ययोरपि संन्यासाधिकारसिद्धेः ।
श्रुत्यन्तरेषु ब्राह्मणग्रहणम् त्रयाणामुपलक्षणम् ॥
सिद्धान्तलेश संग्रह, पृ० 447
44. त्रयाणामविशेषेण संन्यासश्रूयते श्रुतौ ।

यदोपलक्षणार्थं स्यात् ब्राह्मणग्रहणं तदा ।। वही

45. तैति० ।
46. छान्दोग्योप० 4/4
47. नैतद्ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याऽऽहरोप त्वानेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय —छान्दो० 4/4/5
48. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
    स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा स्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।
    गीता—1/32
49. ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
    चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः ।। मनु—10/4
50. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणक र्म विभागशः ।—गीता—4/13
51. शुचिरुत्कृष्ट शुश्रूषूर्मृ दुवागनहंकृतः ।
    ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ।। मनु० 9/335
52. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
    क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ।। मनु० 10/65
53. योऽन धीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
    स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।। वही—2/168
54. न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
    स शूद्रवत् बहिष्कार्यः सर्वस्मात् द्विजकर्मणः ।। मनु०—2/103
55. मोक्षस्य नैव किंचित् धामस्ति । परमार्थसार—60
56. यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु ।
    तदा संन्यासमिच्छेत पतितः स्याद् विपर्यये ।। नारदपरिव्राजको० 3/12
57. यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
    द्वैपायनो विरह कातर आजुहाव ।
    पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु—
    स्तं सर्वभूत हृदयं मुनिमानतोऽस्मि ।। श्रीमदभागवत—1/2/2
58. ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । जाबालो—4
49. यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा ।
    यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ।—वही
60. आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
    समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् । मनु० 6/41
61. संस्कारविधि (संन्यासप्रकरण) ।
62. यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
    यस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ।। मनु 6/39

63. दयानन्द ग्रन्थमाला (संस्कार विधि) द्वितीय खण्ड, पृ० 206।
64. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 502।
65. बाल्यं च पाण्डित्यंच निर्विद्य । बृहदा० 3/5/1
66. या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणा—वृ० 3/5/1
67. पुत्रैषणायाः पुत्रार्थैषणापुत्रेषणापुत्रैणेमं लोखं जयेयमिति लोकजयसाधनं पुत्रं प्रतीच्छा एषणादारसङ् ग्रहः । वही (शांकर भाष्य)
68. उभे ह्येते एषणे एव भवतः—बृ० 3/5/1
69. आशाम्बरो ननमस्कारो न दार पुत्राभिलाषी लक्ष्यालक्ष्य निर्वर्तकः परिव्राट् परमेश्वरो भवति । याज्ञ० उप०—।
70. तस्मै प्रणामः कर्तव्यो नेतराय कदाचन—वही ।
71. क्वचिन्मूढो विद्वान्क्वचिर्दपि महाराजविभवः ।
क्वचिद्भ्रान्तः सौम्यः क्वचिदजगराचार कलितः ।
क्वचित्पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदित—
श्चरत्येवं प्राज्ञः सतत परमानन्द सुखित. ।। विवेक चूड़ा मणि—543
72. लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति—उ० रा० च०
73. एकात्पत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्ब्रहुहातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ।।
रघुवंश—द्वितीय सर्ग

3

दीक्षा-विवेचन

दीक्षा का महत्व

संन्यासयोग के प्रकरण में दीक्षा का विवेचन किया जाना परमावश्यक है क्योंकि संन्यास का प्रारम्भ दीक्षा से ही होता है। बिना दीक्षा के संन्यासयोग में सफलता प्राप्त नहीं होती। दीक्षा संन्यास का वह प्रथम सोपान है, जिस पर आरुढ़ हुए बिना साधक निज लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

दीक्षा एक शास्त्रीय शब्द है जो दो धातुओं से मिलकर बना है। 'दाण् दाने' तथा 'क्षि क्षये' इन दो धातुओं से दीक्षा शब्द सिद्ध होता है। चूंकि इसके द्वारा एक योग्य गुरु अपने शिष्य को सत्य ज्ञान प्रदान करता है तथा उसकी कर्मवासना को क्षीण करता है, अतः दान और क्षपण के सहयोग से 'दीक्षा' कही जाती है।[1]

प्रायः प्राकृत पुरुष दीक्षा का जो अर्थ समझते हैं, शास्त्रों में उसका वह अर्थ नहीं है। साधारण लोग यह जानते हैं कि कोई धार्मिक पुरुष अपने शिष्य के कान में कोई मन्त्र फुसफुसाता है, वही दीक्षा है। किन्तु शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार आध्यात्मिक ज्ञान को देने वाली और सांसारिक बन्धन को शिथिल करने वाली एक विशिष्ट प्रक्रिया का नाम दीक्षा है। इसका सम्बन्ध आन्तरिक भावना और बाह्य प्रक्रिया दोनों से है। आध्यात्मिक जगत में दीक्षा शब्द से एक ऐसे विशेष प्रकार के संस्कारों का अभिप्राय लिया जाता है, जिनके द्वारा सिद्ध गुरु अपने शिष्यों में उनकी मानसिक योग्यताओं के अनुसार अनेक प्रकार की योग सम्बन्धी अनुभूतियों को संक्रमित करके पल-भर में उनका उद्धार कर देते हैं। इसे और उन्नत अर्थ में प्रयोग किया जाए तो इसे शक्तिपात कहा जा सकता है। महर्षि

वाल्मीकि ने लव और कुश को दिव्यास्त्रों की शिक्षा इसी दीक्षा के द्वारा संक्रमित की थी।

लोक में अनेक प्रकार के साधक होते हैं। कुछ में ज्ञान को धारण करने की योग्यता होती है, वे क्रिया नहीं कर सकते तथा कुछ लोगों में केवल आचरण की क्षमता होती है, उनमें ज्ञान धारण की योग्यता नहीं होती। कुछ योगाभ्यास के योग्य होते हैं, जो कठिन संयम के द्वारा अपना लक्ष्य प्राप्त करते हैं। कुछ साधक ऐसे भी होते हैं जिनमें न ज्ञान धारण की योग्यता होती है, न कठिन तप की क्षमता होती है और न ही सदाचार पालन में उनकी आस्था है किन्तु वे दिव्य विद्याओं को प्राप्त करना चाहते हैं। उनमें श्रद्धा और विश्वास कूट-कूट कर भरा होता है। उनका जित्त केवल गुरु-शुश्रूषा और उनकी अनन्य भक्ति में ही लगा होता है। ऐसे लोगों का उद्धार केवल दीक्षा के द्वारा होता है।[2]

तन्त्रालोककार का अभिमत है कि शैवी साधना में तो दीक्षा के बिना अधिवार प्राप्त होता ही नहीं क्योंकि वह साधना और शिवदृष्टि इतनी गोप्य, क्लिष्ट और गहन है कि उसे व्यक्ति केवल अपनी व्यक्तिगत चर्या के द्वारा इस जीवन में प्राप्त नहीं कर सकता। उसका उद्धार तो सिद्ध गुरु के शक्तिपात से ही हो सकता है।[3]

भोग और मोक्ष दोनों ही दीक्षा के द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। अर्जुन ने शिव की उपासना से दीक्षा द्वारा दिव्यास्त्रों का ज्ञान केवल भोग के लिए प्राप्त किया था किन्तु शंकर, रामानुज, अभिनवगुप्त, सोमानन्द आदि आचार्यों ने दीक्षा के द्वारा मोक्षोपयोगी ज्ञान प्राप्त किया था। आचार्य अभिनव गुप्त ने दीक्षा को भोग और मोक्ष दोनों का उपाय माना है।[4]

संन्यासयोग की चर्चा भी नितान्त दुष्कर है। यह वह कठिन मार्ग है जिस पर चलने से पहले हजार बार सोचना पड़ता है। क्योंकि संन्यास पर आरुढ़ होकर पीछे पग हटाना महापातक माना जाता है। संन्यासभ्रष्ट की गति अन्धकारमय लोकों में मानी गई है। अत्रि की मान्यता है कि मैं उस व्यक्ति के लिए किसी प्रायश्चित की कल्पना तक नहीं कर सकता जो संन्यासी हो जाने के उपरान्त भ्रष्ट या च्युत हो जाता है। वह न तो द्विज है और न है शूद्र, उसकी संतति चाण्डाल हो जाती है और विदुर कहलाती है।[5] यही नहीं दक्ष ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह उस व्यक्ति के मस्तक पर कुत्ते के पैर की मुहर लगाकर देश निकाला कर दे जो संन्यासी हो जाने के उपरान्त नियमों का पालन नहीं करता। जो संन्यासी धर्म में च्युत हो जाता है वह जीवन-भर राजा का दास रहता है।[6] इसलिए संन्यासयोग का मार्ग दीक्षा के बिना प्रशस्त नहीं होता। शास्त्रों में अनेक प्रकार की दीक्षाओं और उनके साथ सम्बद्ध शास्त्रीय विधि-विधानों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। शिष्यों की मानसिक योग्यताओं को अच्छी

प्रकार परीक्षित करने के उपरान्त ही गुरु यह निर्णय लेता है कि किस प्रकार की दीक्षा किस शिष्य को दी जाए।

दीक्षा के भेद

ये दीक्षाएँ अनेक प्रकार की होती हैं जैसे—समयदीक्षा, पुत्रक दीक्षा, विक्षिप्त दीक्षा, संक्षिप्त दीक्षा, सद्यो निर्वाण दीक्षा, परोक्ष दीक्षा उच्चार दीक्षा, मृतोद्वार दीक्षा, संन्यास दीक्षा आदि।[7] संन्यास दीक्षा के विधि-विधान के विवेचन से पूर्व कुछ महत्वपूर्ण दीक्षाओं का स्वरूप जान लेना प्रासंगिक होगा।[8] इसकी विधि एक गोपनीय विषय है, जिसका प्रकाशन यहाँ सम्भव नहीं है। यहाँ उनका केवल संकेत मात्र वर्णन किया जा रहा है :

1. समय दीक्षा

समय दीक्षा प्रत्येक ज्ञानाभिलाषी के लिए अवश्य स्वीकरणीय है। यह दीक्षा परम तत्व के साथ साधक का सीधा सम्पर्क कराती है। तन्त्रालोक में इसकी दो व्युत्पतियाँ दी गई हैं :

'समयन्ति संगच्छन्ते परम तत्वमनेनेति'[9]

अर्थात्—चूंकि यह परम तत्व के साथ समयन अर्थात संगमन कराती है। इसलिए इसे समय दीक्षा कहा जाता है। 'सम्यक अयनं ज्ञानं अस्मात्' यह इसकी दूसरी व्युत्पति है अर्थात् इससे सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए इसे समय दीक्षा कहा जाता है। बाह्य विधि के साथ इसका पालन करके इसकी प्राप्ति की जाती है। इसकी विधि तन्त्रालोक के पन्द्रहवें आह्निक में दृष्टव्य है।

2. विक्षिप्त दीक्षा

यह भी भैरव शिव के साथ तादात्म्य कराने वाली एक विशाल प्रक्रिया है। इसमें मण्डल, कुम्भ, अग्नि, शिष्य और आत्मा—इन पाँचों के साथ व्याप्ति का ग्रहण करा के शिष्य के शरीर में तीन स्थानों पर सूत्र ग्रन्थियाँ बाँधी जाती हैं। इन ग्रन्थियों से कार्मण, मायीय और आणव—इन तीनों मलों का विनाश किया जाता है।[10] ये तीन ग्रन्थियों तीनों मलों का ग्रथन करने की सूचिका हैं। कर्म बाहु में रहता है, इसलिए एक ग्रन्थि गले में बाँधी जाती है। आणव मल मस्तक में रहता है, अत: एक ग्रन्थि शिखा में लगाई जाती है। इस प्रक्रिया के बाद पुष्प, घृत, तिल आदि द्रव्यों से विशेष गोप्य मन्त्र के साथ शक्ति का आह्वान किया जाता है। आह्वान के पश्चात् गुरु उसको दिव्य मन्त्र की दीक्षा देता है।[11]

इसे विक्षिप्त दीक्षा इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसकी प्रक्रिया जन्म से लेकर शिवता की प्राप्ति तक चलती रहती है। विक्षिप्त शब्द संक्षिप्त का विलोम है। विक्षिप्त दीक्षा के द्वारा दीक्षित शिष्य सांसारिक भोगों को भोगकर शिवता को प्राप्त कर लेता है।[12]

3. संक्षिप्त दीक्षा

विक्षिप्त दीक्षा से अत्यन्त सीमित प्रक्रिया वाली संक्षिप्त दीक्षा होती है। इस दीक्षा के लिए किसी स्थान विशेष या निवास विशेष का बन्धन नहीं है। इस दीक्षा में शिष्य का दायित्व कम होता है। गुरु का ही कर्तव्य अधिक होता है। शिष्य का दायित्व इतना ही है कि गुरु जो-जो आचरण करता रहे, शिष्य उसी का अनुकरण करे। गुरु मातृका के युग्म वर्णों से उसके आन्तरिक और बाह्य तत्वों का शोधन करता है। गुरु ने जिस-जिस ज्ञान का अभ्यास किया है, उस ज्ञान की भावना करके संक्षिप्त रूप से वह उसका संक्रमण शिष्य में कर देता है।[13]

4. सद्योनिर्वाण दीक्षा

समस्त दीक्षाओं में यह दीक्षा सबसे दुर्लभ और असामान्य मानी गई है। जिस सौभाग्यशाली को यह दीक्षा मिल जाए, उसके मन में युगों से संचित वासनाएँ क्षण-भर में विगलित हो जाती हैं और वह सहसा बन्धन से मुक्त होकर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यह दीक्षा मृत्यु के सन्निकट होने पर की जाती है। शिष्य यदि वृद्धावस्था से ग्रस्त हो अथवा व्याधि से पीड़ित हो और उसके प्राणोत्क्रमण में कुछ ही देर हो तब गुरु उसको दीक्षित करता है।[14]

इसकी प्रक्रिया भी गोप्य है। केवल सद्गुरु ही यह कर सकता है। जिन महान आत्माओं पर परमेश्वर का अनुग्रह होता है, उन्हीं को यह सद्योनिर्वाण दीक्षा प्राप्त होती है।

5. उच्चार दीक्षा

उच्चारदीक्षा में वैखरी वाणी में ऊँची आवाज में मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। साथ ही मन्त्र शक्ति का विमर्श भी किया जाता है। वह मन्त्र क्या है? उसका विमर्शपूर्वक उच्चार कैसे किया जाता है? यह गुरु के ज्ञान का विषय है। मन्त्रों में विमर्शपूर्वक उच्चारण में इतनी शक्ति होती है कि साधक का चित्त परम लक्ष्य रूप बिन्दु के प्रति तीव्र गति से भागता है और वहाँ जाकर एकाकार हो जाता है। जैसे धनुष के प्रचण्ड आघात से धकेला गया तीर अति वेग से दौड़कर लक्ष्य के साथ मिल जाता है।[15]

6. मूढ़जनाश्वासदायिनी दीक्षा

जिन लोगों का चित्त सांसारिक ऐश्वर्यों में लिप्त है तथा प्रयत्न करने पर भी उनसे मोह नहीं छूटता, उन लोगों के लिए कोई सिद्ध गुरु इस दीक्षा को प्रदान करता है। गुरु शिष्य को त्रिकोण वह्नि सदन में बैठाता है और उसके दाहिने हाथ में कुछ बीज ग्रहण कराकर 'ओऽम् फट' इस मन्त्र का जाप कराता है। इस मन्त्र के जाप से उसके मल शिथिल हो जाते हैं।[16]

7. मृतोद्धार दीक्षा या परोक्ष दीक्षा

जब कोई शिष्य मर जाता है अथवा गुरु के सम्मुख आने में असमर्थ हो जाता है, तब गुरु उसकी अनुपस्थिति में ही उसे विशिष्ट मन्त्रों से दीक्षित करता है। इसे मृतोद्धार दीक्षा या परोक्ष दीक्षा कहा जाता है। गुरु की सेवा करते-करते जिस शिष्य की मृत्यु हो चुकी है किन्तु वह किसी प्रकार दीक्षा प्राप्त नहीं कर सका तो गुरु उसके निर्वाण हेतु कुछ विशिष्ट मन्त्रों से उसके मृत देह को तथा आत्मा को दीक्षित करता है।[17]

इस प्रकार दीक्षा के लिए गुरु और शिष्य दोनों का ही दायित्व और कर्तव्य समान है। यह शिष्य का कर्तव्य है कि वह दीक्षा के लिए योग्य गुरु की खोज करे और गुरु का कर्तव्य है कि वह योग्य शिष्य को दीक्षित करे। शिष्य दीक्षित होने के लिए एक गुरु के अनन्तर दूसरे गुरु के पास उसी प्रकार जा सकता है जैसे आमोद का अभिलाषी भृंग एक पुष्प से दूसरे पुष्प की ओर जाता है।[18]

8. संन्यास दीक्षा

संन्यासयोग का दीक्षा से बहुत निकट का सम्बन्ध है। यदि दीक्षा-गुरु विरक्त शिष्य से अभिमत होकर अपने दिव्य ज्ञान की ज्योति की एक किरण भी उसके अन्तःकरण में संक्रान्त कर दे तो अनेक जन्मों में अपार्जित वासनाओं का अधिक सीमा तक क्षय हो जाता है। यद्यपि दीक्षा में महत्वपूर्ण भूमिका तो दीक्षित होने वाले व्यक्ति की होती है फिर भी दीक्षा गुरु का समर्थ होना अत्यावश्यक है।

संन्यासदीक्षा से पूर्व के कर्तव्य

संन्यास की दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व शिष्य को दीक्षा का अधिकारी बनना पड़ता है। यह हम पहले ही अनेकशः निर्दिष्ट कर चुके हैं कि संन्यासयोग की मुख्य पूर्व सामग्री वैराग्य या विषय वैतृष्ण्य है किन्तु केवल वीतराग हो जाने पर ही शिष्य संन्यासदीक्षा का अधिकारी नहीं हो जाता। उसके कुछ अन्य कर्तव्य भी हैं। प्रथम कर्तव्य तो यह है कि दीक्षित होने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम अपनी माता से

संन्यास ग्रहण करने की अनुमति लेनी पड़ती है । इसमें पिता की अनुमति उतनी आवश्यक नहीं जितनी माता की । पिता की अनुमति भी आवश्यक है किन्तु माता की अनुमति का महत्व अधिक है । क्योंकि पुत्र के जीवन पर माता का सर्वाधिक अधिकार होता है । माता पृथ्वी का रूप होती है । प्राणियों को जन्म देने, पालन करने और धारण करने का सामर्थ्य पृथ्वी का ही होता है । इसलिए अपने शिष्ट वचनों से माता को विश्वास में लेना चाहिए कि उसका संन्यास में जाना आवश्यक है । यदि माता को प्रसन्न किए बिना, उसकी अनुज्ञा न लेकर कोई पुरुष संन्यास ग्रहण करता है तो वह संन्यास सफल नहीं होता । माता की भावनाएँ उसे कभी भी संन्यास-च्युत कर सकती हैं। आचार्य शंकर के सम्मुख भी यही विवशता थी कि वे संन्यास के पूर्ण अधिकारी होते हुए भी माता की अनुज्ञा के बिना संन्यास नहीं ले सकते थे । पुत्रवत्सला माता अपने पुत्र को इस कठोरतम आचरण के लिए समर्पित नहीं करना चाहती थी । इसका रहस्य यही है कि माता पुत्र को जन्म देती है । अतः उसके धारण करने का भी उसी का दायित्व है । यदि माता अप्रसन्न होकर उसे शाप दे दे तो उसके समस्त पुण्य क्षण-भर में नष्ट हो सकते हैं । अतः माता को प्रसन्न करके संन्यास की अनुज्ञा प्राप्त करना आवश्यक है ।[19]

इसके उपरान्त उस पुरुष को अपनी पत्नी, पुत्र और बन्धुओं से भी संन्यास की अनुमति लेनी पड़ती है क्योंकि उनके प्रति भी उसके कुछ-न-कुछ कर्तव्य शेष रह जाते हैं । उन्हें सम्पन्न किए बिना संन्यास से च्युति हो सकती है । अतः इनसे अनुज्ञा लेकर ही वह संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी होता है ।

कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि ब्रह्मचारी के रूप में वेदों का अध्ययन करने एवं वेद शास्त्रानुसार ब्रह्मचर्य का पालन करने के पश्चात् विवाहपूर्वक पुत्रों को उत्पन्न करके, उनको सुसंस्कृत बना, यथाशक्ति यज्ञ हवन करके अपने बन्धु बान्धवों तथा गुरुजनों से अनुज्ञा प्राप्त करके संन्यासग्रहण किया जा सकता है ।[20] नारद परिव्राजकोपनिषद् में इसीलिए कहा गया है कि रागी पुरुष को घर पर ही निवास करना चाहिए । आसक्त पुरुष संन्यास ग्रहण करने पर द्विजों में अधम होता है तथा नरक का भागी होता है ।[21] अतः सबके प्रति आसक्ति का त्याग करके ही संन्यास लेना चाहिए ।

संन्यास ग्रहण करने वाले पुरुष को चाहिए कि वह अपना समस्त सांसारिक उत्तरदायित्व पुत्र को सौंप दे जिससे संध्या हवन पूर्व की भाँति होता रहे तथा पुत्र को सन्तानोत्पति का आदेश दे जिससे उसका कुल बढ़ता रहे । यदि वह अपुत्र हो तो पुत्र की भावना अपने आत्मा में करनी चाहिए ।[22] इस प्रकार इन सब कर्तव्यों को करने के पश्चात मनुष्य पूर्ण रूप से संन्यास ग्रहण करने के योग्य होता है ।

संन्यास दीक्षा की विधि

दीक्षा-गुरु दीक्षित होने वाले पुरुष से वैश्वानर या प्राजापत्य नामक इष्टि का सम्पादन कराता है।[23] उस इष्टि में अपना सर्वस्व ऋत्विक तथा अन्य ब्राह्मणों व अन्य सुपात्रों को दान करने का संकल्प किया जाता है।[24] इसके पश्चात् अपने पुत्र को अपने पास बैठाकर उसकी ओर देखकर 'त्वं यज्ञः', 'त्वं सर्वम्' इस मन्त्र का पाठ करके आहुति दी जाती है। उसी आहुति के साथ अपनी शिखा को काटकर तथा यज्ञोपवीत को उतार कर उसे जल में प्रवाहित करने के लिए रख लिया जाता है। यदि दीक्षित होने वाला पुरुष अपुत्र है तो स्वयं में ही पुत्र की भावना करके 'त्वं यज्ञः', 'त्वं सर्वम्' इस मन्त्र का मन में ही उच्चारण करे। इसके पश्चात् दीक्षा गुरु दीक्षित व्यक्ति के कान में 'तत्वमसि' मन्त्र का मन में ही उच्चारण करे। इसके पाश्चात् दीक्षा गुरु दीक्षित व्यक्ति के कान में 'तत्वमसि' मन्त्र का उच्चारण करता है। तत्पश्चात् 'ओऽम् भूः', ओऽम् भुवः', 'ओऽम् स्वः' इन तीनों महाव्याहृतियों को मन में ध्यान करके 'संन्यस्तं मया, संन्यस्तं मया, 'संन्यस्तं मया' का उच्चारण करता है। प्रथम बार उच्चारण मंद स्वर से, द्वितीय बार मध्यम स्वर से तथा तृतीय बार उच्चतम स्वर से किया जाता है।[25]

इन सब कृत्यों के पश्चात दीक्षा गुरु उसे दण्ड, कमण्डलु और वल्कल वस्त्र धारण करने का आदेश देता है, जिसे दीक्षित पुरुष तत्काल धारण कर लेता है। दण्ड बांस का बना हुआ, सौम्य, त्वचा सहित और समान दूरी पर गाँठों वाला होना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि वह बाँस श्मशान आदि अपवित्र स्थानों पर न उगा हो। न वह जला हुआ हो, न फटा हुआ हो, न कीड़ों से खाया हुआ हो। दण्ड की ऊँचाई नाक तक सिर तक या भौंहों तक ही होनी चाहिए। दण्ड का सम्बन्ध आत्मा के साथ बताया गया है।[26] दण्ड इसलिए धारण कराया जाता है ताकि सदा यही ध्यान रहे कि संन्यास के नियमों का पालन न करने पर उसे घोर दण्ड भोगना पड़ सकता है।

इसी प्रकार कमण्डलु का धारण भी संन्यासी के लिए आवश्यक बताया गया है। कमण्डलु काष्ठ निर्मित होना चाहिए ताकि उसमें संन्यासी का मोह न हो जाए। उस कमण्डलु को अपवित्रता से बचाना चाहिए।[27]

वल्कल वस्त्रों का धारण भी संन्यासी को आवश्यक बताया गया है।[28] वल्कल काषाय रंग का होना चाहिए।[29] यह रंग अग्नि का सूचक है। यह अग्नि उसकी आत्मा और अन्तःकरण के मलों को भस्मसात् करती रहे। ऐसी भावना निरन्तर करने के लिए और कर्तव्यों को याद रखने के लिए काषाय रंग का वल्कल धारण कराया जाता है।

इसके पश्चात् काटी हुई शिखा, यज्ञोपवीत और वल्कल को किसी नदी में

प्रवाहित कर दिया जाता है।[30] तथा दीक्षा गुरु दीक्षित पुरुष को प्राची या उदीची दिशा में जाने का आदेश देता है। तब संन्यासी उस दिशा में पीछे मुड़-कर नहीं देखता। वह निरन्तर चलता रहता है और भूख लगने पर द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के घर भोजन लाता है। दीक्षा गुरु उसे प्राची या उदीची दिशा में जाने का आदेश देकर लौट आता है।

शिवपुराण संन्यास दीक्षा की विधि

शिवपुराण में संन्यास दीक्षा की विधि का सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है। उसमें लिखा है कि तीनों ऋणों से मुक्त होकर वानप्रस्थ में प्रविष्ट होकर द्वन्द्वों को सहन करता हुआ मनुष्य जितेन्द्रिय, तपस्वी और मिताहारी होकर यम नियमों का पालन करे। योगाभ्यास करे जिससे बुद्धि निर्मल, निश्चल हो जाए तथा सर्वकर्मों का परित्याग कर दे।[31] तदुपरान्त उसे शास्त्रज्ञ, तत्वज्ञ, विद्वान् गुरु की शरण में जाना चाहिए। गुरु की आज्ञा से वह बारह दिन केवल दुग्धपान करे। शुक्ल पक्ष की चतुर्थी या दशमी को प्रातःकाल विधिवत् स्नान कर नान्दी श्राद्ध करे। उस समय ब्राह्मणों के पाँव धोकर यह कहे—"जो समस्त सम्पत्ति की प्राप्ति में कारण, आयी हुई आपत्ति के समूह को नष्ट करने के लिए धूमकेतु रूप तथा अपार संसार सागर से पार लगाने के लिए सेतु के समान हैं, वे ब्राह्मण-चरण धूलि मुझे पवित्र करें। जो आपत्ति रूपी घने अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य, अभीष्ट अर्थ को देने के लिए कामधेनु तथा समस्त तीर्थों के जल से पवित्र मूर्तियाँ हैं, वे ब्राह्मणों की चरण धूलियाँ मेरी रक्षा करें।"[32]

साष्टांग प्रणाम के उपरान्त प्रभु का चिन्तन करते हुए आसन ग्रहण करे। उसके पश्चात यज्ञोपवीत धारण करे। सकल्प, ब्राह्मण वरण आदि करके नान्दी श्राद्ध करे। रुद्र सूक्त व पुरुष सूक्त का पाठ करे। पिण्डदान करके भोजन करे।[33]

दूसरे दिन प्रात: उठ कर उपवास करे। कांख व उपस्थ के बालों को छोड़-कर शेष बालों का मुण्डन करा दे किन्तु शिखा के सात-आठ बाल बचा ले। स्नान करके भस्म धारण करे। द्रव्यों का दान करे। डोरा, कौपिन, वस्त्र दण्डादि धारण करने के उपरान्त एकान्त में मानव-जप करे।[34]

गणेश-पूजा के उपरान्त हवन करे तथा गायत्री-जप करे तथा 'अहं वृक्षस्य रेरिवा'[35] व 'यश्छन्दसामृषभ:'[36] इन अनुवाको का पाठ करे। 'दारैषणायाश्च वितैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थितोऽहम्' का तीन बार मन्द मध्यम व उच्च स्वर से उच्चारण करे। प्रणवोच्चारण के पश्चात् 'ओऽम् भू: संन्यस्तं मया, ओऽम् भुव: संन्यस्तं मया, ओऽम् स्व सन्यस्तं मया, भी तीन बार उच्चारण करे।[37] जलाशय

के किनारे वस्त्र, कटिसूत्र को त्यागकर उत्तर या पूर्व दिशा में सात पग चले। फिर आचार्य उसे रोक कर दण्ड, कौपीन, कमण्डलु व भस्म धारण कराए। शिष्य गुरु को दण्डवत् प्रणाम कर उनके समीप खड़ा हो जाए। गुरु शिष्य को प्रणव का अर्थ ज्ञान कराए।[38]

उपर्युक्त दीक्षा-विधि शिव पुराण में वर्णित है। यहाँ संक्षेप में इंगित मात्र किया गया है।

दीक्षा लेने के अधिकारी व अनधिकारी

शास्त्रों में कहा गया है कि जो व्यक्ति 'संन्यस्तं मया' ऐसा तीन बार उच्चारण करता है, उस संन्यासी को देखकर सूर्य भी अपने स्थान से विचलित हो जाता है कि कहीं वह द्विज मेरे मण्डल का भेदन करके परब्रह्म को प्राप्त न कर ले। ऐसा संन्यासी अपने 60 कुल अतीत तथा 60 कुल आगामी का उद्धार कर देता है।[39] किन्तु संन्यास दीक्षा का अधिकार सबको नहीं होता। नारदपरिव्राजकोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि नपुंसक, पतित, अंगहीन, स्त्री के प्रति अत्यधिक आसक्त, बहरा, बालक, गूंगा, पाखण्डी, चक्री (षडयन्त्रकारी) लिंगी (वेशधारी), वैखानसहर द्विज, वेतनभोगी अध्यापक, शिपिविष्ट (गंजा या कुष्ठ रोगी) तथा अग्निहोत्र न करने वाला, सभी वैराग्यवान् होने पर भी संन्यास के अधिकारी नहीं हैं।[40]

अभी-अभी किसी शोक घटना से प्रेरित होकर जिसने संन्यास का निश्चय किया है, उसे भी संन्यास दीक्षा के अयोग्य ठहराया गया है। ब्रह्म हत्या, सुरापान, गुरु तल्पगमन तथा विश्वासपात्र का वध[41] आदि महापापों को करने के उपरान्त यदि वैराग्य हो गया है तो भी संन्यास का ग्रहण निषिद्ध है। क्योंकि ये क्षणिक आवेग हैं जो उसे कठोर निश्चय करने के लिए प्रेरित करते हैं। प्रायः अनुभव किया गया है कि ऐसा क्षणिक वैराग्य थोड़ी देर में ही नष्ट हो जाता है और वह व्यक्ति पुनः उसी वातावरण में विषय सागर में रम जाता है। इसी कारण दृढ़ वैराग्य होने पर भी संन्यास दीक्षा प्राप्त करनी चाहिए।[42] कठोपनिषद के ऋषि ने स्पष्ट कह दिया है कि जो दुराचार से पृथक नहीं है, जिसको शांति नहीं है, जिसकी आत्मा योगी नहीं है और जिसकी आत्मा शान्त नहीं है, वह संन्यास लेकर भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता।[43]

संन्यास दीक्षा के लिए सत्कुलप्रसूत ब्राह्मण वर्ण आवश्यक है।[44] स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि प्रजापति अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति के अथ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञादिशिखा चिह्नों को छोड़ आह्वनीयादि पाँच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—इन पांच प्राणों में

आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित घर से निकल कर संन्यासी हो जावे ।[45]

नारदपरिव्राजकोपनिषद् में कहा है कि उत्तम कुल में उत्पन्न माता-पिता का आज्ञाकारी उपनयन संस्कार के उपरान्त उत्तम कुलोत्पन्न गुरु के समीप रहकर विद्याध्ययन करने के उपरान्त ब्रह्मचर्य, गृहस्थ व वानप्रस्थ आश्रम का निर्वाह करके संन्यासाश्रम की दीक्षा प्राप्त करे।[46] इसके विपरीत आचरण से मनुष्य पतित हो जाता है। विरक्त पुरुष संन्यास ले और रागी घर में रहे क्योंकि रागी पुरुष संन्यास ग्रहण करने पर नरक की प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है।[47] जब मन में पूर्ण वैराग्य का उदय हो जाए तभी संन्यास की इच्छा करे।[48]

धर्मसूत्रों में संन्यास लेने का अधिकारी ब्रह्मचारी को बताया है ।[49]

डा० पी० वी० काणे ने धर्मशास्त्र के इतिहास में स्मृति मुक्ताफल व पति-धर्म संग्रह का सन्दर्भ देते हुए कहा है कि संन्यास धर्म से च्युत का पुत्र असुन्दर नाखूनों व काले दाँतों वाला व्यक्ति, क्षयरोग से दुर्बल, लूला या लंगड़ा व्यक्ति संन्यास धारण नहीं कर सकता। इसी प्रकार वे लोग जो पापी, अपराधी, व्रात्य होते हैं, सत्य, शौच, यज्ञ, व्रत, तप, दया, दान, वेदाध्ययन, होम आदि के त्यागी होते हैं, उन्हें संन्यास ग्रहण की आज्ञा नहीं है ।[50]

संन्यास दीक्षा देने के अधिकारी व अनधिकारी

दीक्षा की विधि में दीक्षा गुरु का महत्व सर्वाधिक होता है। दीक्षा लेने वाले की अपेक्षा दीक्षा लेने वाले गुरु का दायित्व अधिक होता है । हमारे शास्त्रों में सद्गुरु को परमेश्वर के सदृश कहा गया है।[51] इस लोक में तो अनुग्रह और निग्रह का दायित्व साक्षात् गुरु का होता है। इसीलिए स्मृतियों में कहा गया है—'गुरुर-नुगन्तव्यः'। अर्थात् गुरु का अनुगमन करना चाहिए। गुरु यदि प्रसन्न हो जाए तो वह शक्तिपात द्वारा शिष्य में अनेक विधाओं का संक्रमण कर सकता है।

हम पीछे बता चुके हैं कि दीक्षा में 'दान' और 'क्षपण' इन दो क्रियाओं का समावेश होता है। गुरु दान देता है तथा वहीं ज्ञान शिष्य की कर्मवासनाओं का क्षय करता है । इसीलिए दीक्षा गुरु को वह दिव्य शक्ति पहले से प्राप्त होनी चाहिए कि वह ज्ञान का दान और वासनाओं का क्षपण कर सके।

संन्यास दीक्षा के लिए गुरु में कुछ योग्यताएँ अनिवार्य रूप से होनी चाहिएँ। प्रथम तो यह कि वह स्वयं संन्यासयोगी हो। साधक हो, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण हो । यद्यपि आजकल संन्यास ग्रहण का अधिकार तो अब्राह्मणों को भी मिल गया है किन्तु संन्यास दीक्षा देने का अधिकार अभी तक भी ब्राह्मणों के पास

है। इस विवाद पर यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि ब्राह्मणत्व जन्मना माना जाए या कर्मणा ? क्योंकि पूर्व अध्याय में इस पर विस्तृत विवेचन किया गया है। यदि कर्मणा ब्राह्मणत्व माना जाए तो दीक्षा देने का अधिकार कर्मणा ब्राह्मण का ही बनता है।

दीक्षा देने वाले सद्गुरु की दूसरी योग्यता यह है कि वह केवल ज्ञान गुरु न होकर साधना के क्षेत्र में भी उसकी पहुँच उन्नत सीमा तक हो क्योंकि केवल श्रवण और मनन करने वाला ज्ञानी शक्तिपात के सामर्थ्य से युक्त नहीं होता। जिसमें शक्तिपात का सामर्थ्य नहीं हो, वह दीक्षा देने का अधिकारी नहीं होता क्योंकि जो शिष्य बहुत समय तक सांसारिक कर्मों और वासनाओं का आस्वादन कर इस मार्ग पर नया-नया आरूढ़ हुआ है, वह सहसा इसकी कठिनाइयों का सामना नहीं कर सकता। उसके मार्ग को निरापद बनाना और उसकी वासनाओं को किसी सीमा तक दग्ध करना दीक्षा गुरु का ही कार्य है।

प्राचीन काल में आजन्म ब्रह्मचारी रहने वाले साधक ही दीक्षा गुरु हुआ करते थे। गृहस्थाश्रम को भोगकर आने वाला साधक संन्यास ग्रहण तो कर सकता है किन्तु संन्यास की दीक्षा नहीं दे सकता। इसका अधिकार तो परमहंस परिव्राजकों को ही दिया गया है। यद्यपि आज यह योग्यता शिथिल हो गई है किन्तु शास्त्रीय विधान के अनुसार दीक्षा का अधिकार आजन्म और आमरण ब्रह्मचारी संन्यासयोगी गुरु का ही होना चाहिए।

ये कुछ योग्यताएँ हैं जो दीक्षा देने का अधिकार सद्गुरु को प्रदान करती हैं। शेष सामान्य योग्यताएँ तो दीक्षा गुरु में होनी ही चाहिएँ। यथा—यह पक्षपात से रहित समस्त प्राणियों में समदृष्टि रखता हो। मानापमान, सम्पति-विपत्ति, राग-द्वेष तथा शत्रु-मित्र में कोई भेद न करता हो। जिसकी दृष्टि में तृण और कांचन, शव और स्त्री, भवन और अरण्य, सुख और दुःख एक जैसा भाव उत्पन्न करते हों। वस्तुतः वही सच्चा दीक्षा गुरु है।

समीक्षा

दीक्षा की आवश्यकता और महत्व को दृष्टि में रखकर अभी हमने शास्त्रीय मान्यताओं का उल्लेख किया। यद्यपि आज दीक्षा के ग्रहण करने और कराने की परम्परा में शैथिल्य-सा आ गया है, फिर भी वह परम्परा अभी निश्शेष नहीं हुई है। आज न तो पहले की भाँति समर्थ दीक्षा गुरु रहे, न ही शक्तिपात के योग्य शिष्य रहे तथापि दीक्षा का महत्व मुख्यतः सभी स्वीकार करते हैं। आज भी संन्यास आश्रम में प्रवेश के अभिलाषी वीतराग युवा और वृद्ध दीक्षा लेकर ही संन्यास ग्रहण करते हैं। आज भी यह मान्यता विद्यमान् है कि जब तक दीक्षा

गुरु उसे विधिवत् संन्यास ग्रहण न करा दे तब तक न तो मनुष्य संन्यास के योग्य होता है और न ही वह संन्यास के लक्ष्य तक पहुँच सकता है। दीक्षा के बिना जो लोग संन्यास ग्रहण करते हैं, वे संन्यास की चर्या से घबरा कर उसे बीच में ही छोड़ देते हैं और महापातक के भागी बनते हैं। समाज उस पर हँसता है और शास्त्रीय मर्यादाएँ भी उसको देखकर सिर धुनती हैं। आचारहीन मनुष्य इतना अपावन माना जाता है कि वेद भी उसे पवित्र नहीं कर सकते।

जब समय परिवर्तित होता है तो अपने पीछे बहुत-सी विसंगतियाँ छोड़ जाता है। राजाओं के आचरण और समाज के नियम कालक्रमानुसार बनते रहते हैं। यह कहना तो कठिन है कि काल का प्रभाव सामाजिक मान्यताओं पर पड़ता है या सामाजिक मान्यताएँ काल को प्रभावित करती हैं। आज से कई सहस्त्र वर्ष पूर्व यही शंका युधिष्ठिर के मन में उत्पन्न हुई थी कि राजा और प्रजा को काल प्रभावित करता है या राजा ही काल परिवर्तन का कारण है ?[52] इस शंका का समाधान राजनीति के मर्मज्ञ भीष्म ने यह कह कर किया था कि हे युधिष्ठिर ! तू इस शंका को मन में स्थान मत दे। वस्तुत: राजा ही काल का कारण है।[53] किन्तु आज यह मान्यता मिथ्या सिद्ध हो रही है। पौराणिक आचार्य कहते हैं कि काल ही सबका कारण है। वही राजा और प्रजा को बदलता है तथा पुरातन मान्यताओं को तोड़कर नवीन मान्यताओं को जन्म देता है। काल के ही प्रभाव से आज 'दादा' शब्द कुत्सित और उग्रकर्म करने वाले पुरुष के लिए प्रयुक्त होने लगा है। और माता शब्द ममतामयी जननी के लिए ही प्रयुक्त न होकर प्रत्येक वृद्धा के लिए प्रयुक्त होने लगा है। अम्बिकादत्त व्यास कहते हैं कि सबको बनाने वाला यह भीषण भगवान् काल बड़ा विचित्र है।[54] इसलिए यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा मत सत्य है। किन्तु जिस काल ने दीक्षा जैसे सत्य और प्रभावशील आचार की परम्परा को शिथिल कर दिया, उस काल के प्रभाव को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। एक वह समय था जब परम कारुणिक समर्थ गुरु अपने शिष्य को सब दृष्टि से योग्य समझकर उसे बिना प्रयास के ही समस्त विद्या और शक्तियों का अधिकारी बना देते थे तथा शिष्य भी अपने गुरु को ब्रह्मा, विष्णु और महादेव समझ कर सर्वात्मना उनकी सेवा करते थे। गुरु को साक्षात् ब्रह्म कहा गया है। यह ब्रह्म की उपाधि शक्तिपात—समर्थ दीक्षा गुरु को ही दी जाती थी।

यदि शास्त्रीय मान्यताओं को एक तरफ रख दें तो भी समाक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर दीक्षा का महत्व बुद्धिगम्य हो जाता है। दीक्षा गुरु और शिष्य का वह भावनात्मक अभेद्य सम्बन्ध है जिसे स्वयं काल भी नहीं काट सकता। यह दीक्षा का ही प्रभाव था कि भीष्म अर्जुन के असंख्य बाणों को सहकर भी शर-

शय्या पर छप्पन दिनों तक समस्त वेदनाओं से असम्पृक्त होकर लेटे रहे। यही नहीं मुस्कराते हुए युधिष्ठिर को राजनीति की गहन शिक्षा भी प्रदान करते रहे। यह उनके गुरु परशुराम की पुत्रक दीक्षा का प्रभाव था। पुत्रक दीक्षा का वर्णन आचार्य अभिनव गुप्त द्वारा तन्त्रालोक में किया गया है। इस दीक्षा के प्रभाव से शिष्य अपने गुरु का पुत्र बन जाता है। उस पुत्र के योगक्षेम का दायित्व दीक्षा गुरु स्वयं अपने ऊपर ले लेता है।

यदि हम आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो वही भावना आज भी विद्यमान है। भले ही काल मान्यताओं में परिवर्तन ला दे किन्तु परम्पराएँ सर्वथा उच्छिन्न नहीं हुआ करतीं। गुरु और शिष्यों का पारस्परिक स्नेह बन्धन भले ही शिथिल हो गया है किन्तु गुरु का स्थान तो पूर्ववत् आज भी महान् है। उसी प्रकार शिष्य का श्राद्ध भाव भी उसी रूप में विद्यमान है। दीक्षा का महत्व भी यथावत् है। स्वामी दयानन्द ने भी संन्यास दीक्षा स्वामी पूर्णानन्द से ग्रहण की थी। उसी के फलस्वरूप वे भीषण संकटों में भी अदम्य साहस और उत्साह से समाज सुधार और वेद रक्षा के कर्तव्य को पूर्ण करने में लगे रहे।

आज भी दीक्षा गुरुओं की कमी नहीं है। न ही उत्तम शिष्यों की कमी है। ऐसे गुरु व शिष्य दुर्लभ तो अवश्य हैं किन्तु अलभ्य नहीं हुए हैं। गुरु और शिष्य में दीक्षा किस प्रकार दिव्य सम्बन्ध जोड़ती है? इस पर विचार करना समीचीन होगा।

पीछे कहा जा चुका है कि दीक्षा गुरु और शिष्य के मध्य भावनात्मक सम्बन्ध हैं। जब एक बार गुरु किसी को अपना शिष्य समझ लेता है तो वह उसके समस्त दायित्वों में भागीदार हो जाता है। वह सोते-जागते, उठते-बैठते और चलते-फिरते शिष्य के योगक्षेम के विषय में ही सोचता रहता है। जब-जब शिष्य लक्ष्य-भ्रष्ट होने को होता है, तब-तब वह गुरु परोक्ष रूप में उसका मार्ग निर्देशन भी करता है। आज भी हमें कुछ लोग मिले हैं जिन्होंने यह स्वीकार किया है कि मेरे गुरु ने स्वप्न में दर्शन देकर यह कार्य करने अथवा न करने का निर्देश दिया है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के अनेक शिष्यों ने भी यह स्वीकार किया है कि आज मेरे गुरु साक्षात् उपस्थित हुए और मुझे यह मार्ग दिखाया। जबकि उस समय कविराज किसी अन्य स्थान पर विद्यमान् थे। कथन का अभिप्राय यह है कि दीक्षा दीक्षित शिष्य की संकट में रक्षा करती है। दूसरी ओर दीक्षित शिष्य भी अपने दीक्षा गुरु से भावनात्मक रूप से इस प्रकार जुड़ जाता है कि वह सहसा कोई अशुभ कर्म नहीं कर पाता। यह तर्क की नहीं प्रत्युत् अनुभूति का विषय है। जब भी दीक्षित शिष्य किसी अशुभ और अनिष्ट कार्य में प्रवृत्त होता है, तभी उसे दीक्षा गुरु द्वारा उस कर्म से विरत होने का आदेश प्राप्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में उसे स्वयं अन्तर्ग्लानि का अनुभव होता है तथा उस कार्य के

प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है। अपने गुरु के अपमान की संभावना से भी वह भयभीत होकर दुष्कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। अतः दीक्षा का प्रत्यक्ष लाभ शिष्य को यह है कि वह उसे दुष्कृतों के सम्पादन से बचाती है व सदा शिष्य को सावधान रखती है। जिस प्रकार बाह्याग्नि में किया गया होम वायुमण्डल को सुरभित और पवित्र कर देता है, वैसे ही इस दीक्षा रूपी अन्तर्याग का भावनात्मक धूम निरन्तर शिष्य के हृदयाकाश में व्याप्त होता रहता है तथा उसके किल्विषों को मार्जित करता रहता है।

यह पहले भी कहा जा चुका है कि दीक्षा देने व ग्रहण करने का अधिकार सबको सुलभ नहीं है। इस बात की यदि तार्किक समीक्षा की जाए तो यह हृदयंगम होगा कि सब प्राणी सब कृत्यों के अधिकारी नहीं होते। निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की क्षमता जितनी होती है, उतनी मलिन दर्पण में नहीं। लाखों प्रयत्न करने के पश्चात भी वक को शुक की भाँति नहीं पढ़ाया जा सकता। लशुन को कर्पूर-पात्र में बन्द करके रखने पर भी सुगन्धित करना असम्भव है। वैसे ही दीक्षा देने की योग्यता उत्तम कोटि के योगियों में ही होती है और दीक्षा ग्रहण करने की योग्यता भी नितान्त निर्मल अन्तःकरण वाले व गुरुप्रिय शिष्य में होती है। कालीदास कहते हैं कि दिलीप के पुत्र रघु को दीक्षा देने में उसके गुरु इसलिए सफल हुए क्योंकि वह गुरु प्रिय था, विनीत और सुपात्र था।[55] अनुभव की दृष्टि से भी विचार किया जाए तो भी यह बात सब स्वीकार करते हैं कि गुरु अपने सभी शिष्यों को समान स्नेह नहीं देता। वह उसी को अपने स्नेह का अमृत लुटाता है जो सर्वाधिक विनीत और सुपात्र होता है। उसी को वह दीक्षा के योग्य समझता है। अपने शिष्य के योगक्षेम के लिए वह कभी-कभी मर्यादा का भी अतिक्रमण करके स्नेह प्रदर्शित करता है। द्रोण और एकलव्य की घटना इसका प्रमाण है।

सभी दीक्षाओं में संन्यास की दीक्षा ही सबसे कठिन और महत्वपूर्ण है। अन्य दीक्षाएँ जहाँ शिष्य में नाना दिव्य शक्तियों का संचार करती हैं, वहाँ संन्यास दीक्षा उसे निःश्रेयस का पथिक बनाती हैं। चतुर्विध पुरुषार्थों में मोक्ष ही परम पुरुषार्थ कहा गया है। अतः मोक्ष की ओर अग्रसर करने वाली संन्यास दीक्षा का महत्व स्वतः सिद्ध है। इस दीक्षा के देने और ग्रहण करते समय अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता होती है। अस्तु ! संन्यासदीक्षा अत्यन्त अनिवार्य और परम कल्याण प्रदायिनी दीक्षा है।

संदर्भ

1. दीयते ज्ञान सदसदभाव: क्षीयन्ते कर्मवासनाः।
   दान क्षपण संयुक्ता दीक्षा तेनेह् कीर्तिता ॥

   तन्त्रालोक विवेक—1/43

2. ज्ञानयोग्यास्तथा केचिच्चर्या योग्यास्तथा परे।
   दीक्षा योग्या योग योग्या इति श्री कैरणे त्रिधौ ॥

   श्री तन्त्रा० 15/18

3. न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शांकरे।
   न च योगाधिकारित्व मेकमेवानया भवेत् ॥ —श्री तन्त्रा० 15/5
4. तत्र दीक्षैव भोगेच मुक्तौचायात्युपायताम्। तन्त्रा० 15/1
5. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 498।
6. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 498।
7. तन्त्रालोक।
8. दीक्षा हि नाम संस्कारो न त्वन्यतसोऽस्ति चास्य हि।

   तन्त्रालोक—19/46

9. तन्त्रालोक
10. एवं मण्डल कुम्भाग्नि शिष्यस्वात्मसु पंचसु।
    गृहीत्वा व्याप्ति मैक्येन न्यस्याध्वानं च शिष्यगम् ॥
    कर्ममायाणु मलिनं त्रयं बाहौ गले तथा।
    शिखायां व क्षिपेत्सूत्रग्रन्थि योगेन दैशिक:।

    तन्त्रालोक—17/2-3

11. तन्त्रालोक।
12. इयतैव शिवं यायात् सद्योभोगान्विमुज्यवा। तन्त्रालोक—17/97
13. यथायथा च स्वम्यस्त ज्ञानस्तन्मयतात्मक:।
    गुरुस्तथा तथा कुर्यात् संक्षिप्तं कर्मनान्यथा ॥ तन्त्रालोक—18/8
14. दुष्टवा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीड़ितम्।
    उत्क्रमय्य ततस्तवेनं परतत्वे नियोजयेत ॥ तन्त्रालोक—19/18
15. यथा शरो धनुस्संस्थो यत्नेनाताड्य धावति।
    तथा बिन्दुर्वरारोहे उच्चारेणैव धावति।।

    तन्त्रसार शिवसूत्र—2/2 में उदाहृत

16. तप्तं नैतत् प्ररोहाय तेनैव प्रत्ययेन तु।
    मलमायाख्य कर्माणि मन्त्रध्यान क्रिया बलात् ॥ तन्त्रालोक 20/5
17. गुरु सेवा क्षीण तनोर्दीक्षामप्राप्य पंचताम।

गतस्याथ स्वयं मृत्युक्षणोदिततथारुचे ।। तन्त्रालोक—21/6 तथा
मृतस्य गुरुणा यन्त्रतन्त्रादिनिहतस्य वा ।। वही 21/8

18. आमोदार्थी यथा मृंगः पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत् ।
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं त्विति ।। तन्त्रालोक—22/45

19. मातरं पितरं भार्यां पुत्रान्बन्धुननुमोदयित्वा । सन्यासो० 1/1

20. (क) ब्रह्मचारी वेदमधीत्य वेदोक्ता चरित ब्रह्मचर्यो दारानाहृत्य पुत्रानुत्पाद्य ताननुपाधिभिर्विततत्येष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैः । तस्य संन्यासो ।
(ख) गुरुभिरनुज्ञातस्य बान्धवैश्च । कठरुद्रो०—1
(ग) अधीत्य विधिवत्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनोमोक्षे निवेशयेत् ।। मनु० 6/36

21. विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान्सरक्तस्तु गृहे वसेत् ।
सरागो नरकं याति प्रव्रजन्हि द्विजाधमः ।। नारदपरिव्राजको० 3/13

22. चतुर्दशकरण प्रवृति च पुत्रे समारोप्य तदभावे शिष्ये वा तदभावे स्वात्मन्येव वा । परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्

23. (क) प्राजापत्यां निरुत्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात ।। मनु 6/38
(ख) वैश्वानरेष्टि निवर्तयेत—सन्यायो० 1/1
(ग) सत्यार्थ प्रकाश—पंचम समु०

24. (क) मातरं पितरं भार्यां पुत्रान्बन्धूननुमोदयित्वा ये चास्यर्त्विजस्तान्सवश्चि पूर्ववत् प्राणित्वा वैश्वानरेष्टिं निर्वयेत् सर्वस्वं दद्याद्यजमानस्य गा ऋत्विज सर्वैः पात्रै समारोप्य—सन्यासो० 1/1 ।
(ख) विरजा होमं कृत्वा अथाचम्य सदक्षिणंवस्त्रं सुवर्णपात्रं धेनुंदत्वा समाप्य ब्रह्मोद्वासनं कृत्वा—ना० पा० 4/38

25. ओऽम भूः स्वाहा ओऽम भुवः स्वाहा ओऽम् स्वः स्वाहेत्यनेन जातरूपधरो भूत्वा स्वं रूपं ध्यायन् पुनः पृथक् प्रणव व्याहृतिपूर्वकं मनसा वचसापि सन्यस्तंमया संन्यस्तंमया संन्यस्तं मयेति मन्द्रमध्यम तारध्वनिभिस्त्रिवारं त्रिगुणीकृत प्रेषोच्चारणं कृत्वाप्रणवैक ध्यान परायणः—
परमहंसपरिव्राजको० तथा सन्यासो०—2/6

26. सखा मा गोपायेति दण्डं परिग्रहेत् । दण्डं तु वैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम् । पुण्यस्थल समुत्पन्नं नानाकल्मषशोधितम् । अदग्धरहतं कीटैः पर्वग्रन्थिविराजितम् । नासादघ्नं शिरस्तुल्यं भ्रुवोर्वा विभृयाद्यतिः । दन्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते । न दण्डेन बिना गच्छेदिषुक्षेपत्रयंबुधः ।।
सन्यासो० 2/9-11

27. जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं माते मामन्त्रयस्व सर्वसौम्येति कमण्डलुं परिगृह्य योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा यथासुखं विहरेत्—सन्यासो० 2/12
28. जीर्णवल्कलाजिनं धृत्वाथ—परमहंस परिव्राजको०
29. कृत्वा कन्यां बहिर्वासो धारयेद्धातुरंजितम् —नारद परिव्राजको० 3/30
30. (क) सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद्बुधः—

नारदपरिव्राजको० 3/77

(ख) कटिसूत्रं च कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्य।

—वही 3/86

(ग) शिखामुत्पाटय यज्ञोपवीतं छित्वा उदकांजलिना सह ऊंभूः समुद्रं गच्छ स्वाहेत्यप्सु—
जुहुयात्—अप्सु वस्त्रं कटिसूत्रमपि विसृज्य सर्वकर्मनिर्वर्तको।

वही 4/38

(घ) स शिखान्केशन्निष्कृष्य विसृज्य यज्ञोपवीतंभूस्वाहे त्यप्सु जुहुयात्।

कठरुद्रो० 1/1

31. एवं ऋण त्रयान्मुक्तो वानप्रस्थाश्रमं गतः।
शीतोष्ण सुखदुःखादि सहिष्णु-र्विजितेन्द्रियः॥
तपस्वी—शिवमहापुराणकैलाससंहिता 12/27-29
32. समस्त संपत्समवाप्ति हेतवः समुत्थितापत्कुल धूमकेतवः।
अपारसंसारसमुद्रसेतवः पुनन्तु मां ब्राह्मणादरेणवः।
अपाद्धनध्वान्तसहस्रमानवः समीहितार्थार्पण कामधेनवः।
समस्ततीर्थाम्बुपवित्रमूर्तयो रक्षन्तु मां ब्राह्मणपादपांसव :॥

शिवपुराण कै० संहिता—12/44-46

33. शिवपुराण कैलास संहिता—12/66-71।
34. वही—12/80-86।
35. तै० उप० 1/10/1।
36. वही—1/4/1।
37. शिवपुराण कैलास संहिता—13/71-75।
38. वही, अध्याय 13।
39. संन्यस्तं मयेति त्रिवारमभिमन्त्रयेत्। संन्यासिनं द्विज दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः। एष मे मण्डलं भित्वा परं ब्रह्माधिगच्छति। षष्टिं कुलान्यतीता-निषष्टिभागामिकानि च। कुलान्युद्धरते प्राज्ञः संन्यस्तमिति यो वदेत्॥ सन्यासो 2/6-7।
40. अथ षण्डः पतितोऽङ्गविकलस्त्रैणो बधिरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चक्री लिंगी कुष्ठी वैखानसहर द्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनग्नि को नास्तिको

वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः । सन्यासो० 2/3

41. ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनावगम् ।
महन्तिपातकान्याहुः संसर्गश्चापि तै सह ॥ मनु० 11/54
42. यदा मनसि वैराग्यंजातं सर्वेषु वस्तुष—मैत्रैय्युपनिषद्—2/19
43. नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ कठो० 2/24
44. (क) आत्मन्यानीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्—मनु० 6/38
(ख) संन्यसेवकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् । ना० प० 3/14
(ग) वृहदा० 4/4/ 22
(घ) मुण्डको० 1/2/12
(ङ) वैखानस धर्मसूत्र—1/1/10
45. सत्यार्थ प्रकाश—पंचम समु० ।
46. सत्कुलप्रसूतः पितृमातृविधेयः पितृसमीपादन्यत्र सत्सम्प्रदायस्थं श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं गुणवन्तमकुटिलंम् ।
—ना० प० 2:
47. स रागो नरकं याति प्रव्रजन्हि द्विजाधमः । ना० प० 3/12
48. संस्कार विधि—संन्यास प्रकरण ।
49. (क) आप० धर्मसूत्र—2/9/22/8
(ख) बोधायन धर्मसूत्र—2/10/17/1
50. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 498
51. गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुर्साक्षात् पारब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ स्फुट
52. कालो वा कारणं राजः राजा वा कालकारणम् । महाभारत
53. इति ते संशयो मा भूत राजा कालस्य कारणम् । वही
54. अतीव विचित्रोऽयं सकल कालनः भगवान् करालः कालः ।
—शिवराजविजय-प्रथमनिश्वास
55. अथोपनीतं विधिवद् विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
अवन्ध्य यत्नाश्च बभूवरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥
रघुवंशम्—पंचम सर्ग

3

कर्तव्याकर्तव्य-विवेचन

मोक्षाभिलासी को संन्यासयोग की कर्तव्य और अकर्तव्य की मीमांसा अवश्य कर लेनी चाहिए। इस योग के आचरणीय तत्व अन्य समस्त व्यवहारों से नितान्त विलक्षण हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ में भी जो आचरण कर्तव्य रूप में शास्त्रों में बताए गए हैं, वे आचरण भी यहाँ अनाचरणीय बन जाते हैं। लोकानुसंधान करने वाले सांसारिक व्यक्तियों को तो लोक की मर्यादाओं में आबद्ध रहना पड़ता है। कहीं-कहीं आवश्यक और विशुद्ध कार्य भी त्यागने पड़ते हैं। सांसारिक व्यवहार-वेत्ताओं का कथन है कि "यद्यपि शुद्धं लोक-विरुद्धं नाचरणीयं नोकरणीयम्। अर्थात् धर्म की दृष्टि से कर्तव्य कर्म भी लोक विरोध को देखते हुए त्याग देना चाहिए। किन्तु संन्यासयोग में लोक विरोध की चिन्ता नहीं की जाती। यहाँ तो परमार्थ दृष्टि से जो उचित विधेय कर्म हैं, वे अवश्य ही पालनीय होते हैं। इसके लिए माता-पिता, गुरु अथवा समस्त संसार भी अप्रसन्न हो जाए, फिर भी उन कर्तव्य कर्मों का आचरण करना ही पड़ता है। संन्यासयोगी यद्यपि लोक में तो रहता है किन्तु लोक-सम्पर्क से रहित होता है। इस बात को महाभाष्यकार पतंजलि ने 'लोकेऽहं न त्वहं लोकः'[1] कहकर स्वीकार किया है।

संन्यासगोगी के कर्तव्यों का चयन विभिन्न पशुओं, पक्षियों और विकलेन्द्रिय प्राणियों से किया गया है। इनके आचरण में मृत्यु अथवा जीवन की चिन्ता नहीं की जाती। जैसे मृतक जीवन और मरण की चिन्ता छोड़कर केवल कालयापन करता है, वैसे ही संन्यासयोगी उन विलक्षण कर्तव्य कर्मों का आचरण करते हुए केवल काल की प्रतीक्षा करता है।[2] संन्यासयोग के कर्तव्य विलक्षण इसलिए बताए गए हैं क्योंकि इनमें से कुछ कर्तव्यों का चयन गूंगों से, कुछ नपुंसकों से, कुछ लंगड़ों से, कुछ अन्धे, बहरे और मुग्ध पुरुषों से किया गया है। इन छः प्रकार

के प्राणियों से सीखे गए कर्तव्यों के आचरण से संन्यासयोगी निश्चित ही मुक्त हो जाता है ।[3] किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि लोक में जिन्हें हम गूँगा, नपुंसक, पंगु, अन्ध, बधिर और मुग्ध कहते हैं, शास्त्रीय भाषा में इन्हें इस रूप में स्वीकार नहीं किया गया ।

1. अजिह्.व

गूँगा उसे कहते हैं, जो भोज्य वस्तु के विषय में इष्ट और अनिष्ट का विचार नहीं करता । जो इष्टानिष्ट का भक्षण करते हुए भी उसमें आसक्त नहीं होता तथा जो अपनी जिह्वा से हित, सत्य और मितभाषण करता है, उसे ही शास्त्रों में 'अजिह्.व' कहा गया है ।[4]

2. नपुंसक

शास्त्रीय भाषा में नपुंसक की भी अपनी पृथक् परिभाषा है । लोक में नपुंसक उसे कहा जाता है, जो इच्छा रहते हुए भी नारी के साथ रमण नहीं कर सकता । किन्तु यहाँ नपुंसक उसे कहते हैं तो षोडश वर्षीया नारी को देखकर भी उसी प्रकार निर्विकार बना रहता है, जैसे आज उत्पन्न हुई कन्या को देखकर अथवा शतवर्ष की वृद्धा को देखकर मन में कोई विकार नहीं आता । क्योंकि संन्यासयोग में नारी को विषतुल्य त्याज्य कहा गया है । युवती नारी साधक को विषयों में फँसा कर उसके लक्ष्य से भ्रष्ट करती है । इसलिए उसकी छाया का भी परित्याग करना अभीष्ट कहा गया है ।[5] इसी बात को दृष्टि में रखकर आचार्य शंकर ने नारी को नरकद्वार बताया था ।[6]

3. पंगु

जो साधक केवल भिक्षा के लिए तथा मलमूत्र के परित्याग के लिए ही 'अटन' (यात्रा) करता है, इसके अतिरिक्त जो कभी निरुद्देश्य नहीं घूमता वह पंगु कह-लाता है । संन्यासयोगी पंगुवत् अत्यल्प चलता है । यद्यपि यात्रा करना उसका कर्तव्य है किन्तु वह मनोविनोद के लिए नहीं होती । उसकी यात्रा तो स्थान परित्याग के लिए होती है । जिससे चित्त किसी स्थान विशेष में आशक्त न हो जाए ।[7]

4. अन्धा

संन्यासयोगी अन्धा भी होता है । जिसकी दृष्टि ठहरते हुए अथवा चलते हुए चार युगों (बैल का जुआ) से आगे नहीं जाती, वह परिव्राजक अन्धा है ।[8] इसका अभिप्राय यह है कि संन्यासयोगी पर-नारी, पर-द्रव्य अथवा दूसरों के भवन को

आसक्त भाव से नहीं देखता। उसकी दृष्टि परमार्थ में रहती है। किन्तु लोक की दृष्टि से उसे अन्धा कहा जाता है।

5. बधिर

इसी प्रकार संन्यासयोगी बधिर भी होता है। जो साधक हितकारक बात को, अहित बात को, मनोरम वचनों को अथवा शोक कारक वचनों को सुनकर भी नहीं सुनता, वह बधिर कहा जाता है।[9] इसका अभिप्राय भी यही है कि संन्यासयोगी के अन्तःकरण में कर्णरन्ध्रों से ऐसी कोई बात न पाने पाए जो उसके चित्त को दुर्बल कर दे। कभी-कभी पाषाण-सम कठोर व्यक्ति भी किसी शोक-परायण नारी के क्रन्दन को सुनकर विह्वल हो उठता है और उसकी सहायता करने के लिए मोह-जाल मे फँसकर अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

6. मुग्ध

जो साधक समस्त स्वस्थ इन्द्रियों से युक्त होकर भी विषयों के सान्निध्य में सुषुप्त पुरुष जैसा व्यवहार करता है, वह साधक शास्त्रीय भाषा में मुग्ध कहा जाता है। यद्यपि लोक में भी मुग्ध पुरुष सुप्त जसा ही व्यवहार करता है किन्तु उसमें उस समय विषयों का आकर्षण होता है किन्तु मुग्ध संन्यासयोगी विषयों के सामने होने पर भी उनकी तरफ देखकर जड़वत् व्यवहार करता है।[10] वस्तुतः धीर पुरुष वही है जो विकार के हेतुओं के रहते हुए भी अविकृत चित्त रहता है।[11]

इन कर्तव्यों के अतिरिक्त संन्यासयोगी का देखना, सुनना, चिन्तन करना, भोजन करना आदि समस्त बातें लोक से सर्वथा विरुद्ध होती हैं। संन्यासयोगी कभी भी नाटक, द्यूत-क्रीड़ा, प्रमदा तथा किसी के भक्ष्य पदार्थ को कभी नहीं देखता।[12] इसी प्रकार राग-द्वेष, मद, माया, द्रोह और मोह इनका मन से भी चिन्तन न करे।[13] कुर्सी, श्वेतवस्त्र, स्त्रियों की चर्चा, इन्द्रियों की लोलुपता, दिन में सोना और सवारी पर चलना—ये छह कर्म संन्यासियों के लिए पातक कहे गए हैं।[14] संन्यासी उपनिषद् विद्या का अध्ययन करे। वह अधिक विद्याएँ पढ़ने का स्वभाव न बनाए। सभाओं में व्याख्यान देने वाला न बने। पाप शठता और कुटिलता का व्यवहार न हो। जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियों को विषयों की ओर से समेट कर जो इन्द्रिय और मन के व्यापार को क्षीण कर देता है, कामना और परिग्रह से मुँह मोड़ लेता है, वही संन्यासयोगी होने का अधिकारी है।[15] उपर्युक्त कर्म संन्यासयोगी के लिए करणीय कहे गए हैं।

संन्यासयोग की अवधि में आचरणीय तत्व

संन्यासयोग की अवधि में किए जाने वाले आचरण के विषय में शास्त्रों ने अनेक तत्वों की परिगणना कराई है। इन तत्वों के आचरण से संन्यासयोग दृढ़ होता है तथा मोक्ष की प्राप्ति रूप लक्ष्य का वाहक होता है। उपनिषदों में संन्यासयोगी हेतु निम्नलिखित आचरणीय तत्व कहे गए हैं—यायावरत्व, भैक्षचर्या, दण्ड-कमण्डलु का धारण, प्रणव जप, एषणा त्याग, स्वाध्याय, भस्मालेपन, रुद्राक्षधारण आदि। यहाँ उपर्युक्त तत्वों पर विचार करना अपेक्षित होगा।

1. यायावरत्व

संन्यासयोग के गंतव्य तक पहुँचने के लिए जहाँ अनेक कर्तव्य उपनिषदों में वर्णित हैं, वहाँ यायावरत्व भी एक साधन है। परम श्रेयस् की प्राप्ति संन्यास का लक्ष्य है और यायावरत्व संन्यास का साधन। यायावरत्व का अर्थ है निरन्तर यात्रा करते रहना अथवा एक स्थान पर स्थिर होकर न रहना। वैराग्य के बिना संन्यास कभी सिद्ध नहीं हो सकता और वैराग्य जहाँ सांसारिक क्लेशों के अनुभव से स्वतः प्रादुर्भूत होता है, वहीं उसे बाह्य उपायों से बद्धमूल भी किया जाता है। यायावरत्व से वैराग्यभावना दृढ़ होती है। शास्त्र कहते हैं कि एकत्र संस्थान से संन्यासी को यत्नपूर्वक बचना चाहिए। एक रात्रि से अधिक एक स्थान पर टिकने से उस स्थान से वृक्षों-पशुओं-पक्षियों व नदी-तड़ागों से मोह हो सकता है।[16] मोह संन्यासयोगी का सबसे बड़ा शत्रु है। जब तक कोई विशेष कारण न हो, तब तक संन्यासी को कहीं भी एक रात्रि से अधिक अवस्थान नहीं करना चाहिए। दिन-भर यात्रा करे और रात्रि में किसी वृक्ष के नीचे विश्राम करना चाहिए। प्रातः उठकर उस स्थान को छोड़ कर अन्यत्र चले जाना चाहिए।

एक रात्रि से अधिक निवास करने के कारणों में वर्षा ऋतु का चातुर्मास्य प्रमुख है। वर्षा ऋतु में यात्रा करना सम्भव नहीं होता। अतः वर्षा के चार मास में संन्यासयोगी किसी ग्राम अथवा नगर के बाहर पर्णकुटी बनाकर रह सकता है।[17] किन्तु यह भी एक आपद्धर्म है। यदि संन्यासी देह और चित्त से दृढ़ है तो उसे वर्षा में भी एकत्र संस्थान का परिहार करना चाहिए। यात्रा के समय संन्यासयोगी केवल एक ही वस्त्र पहने अथवा निर्वस्त्र भी रह सकता है। क्योंकि प्रायः देखा गया है कि उस एक वस्त्र में भी योगी की मोहदृष्टि प्रादुर्भूत हो जाती है।

यात्रा के लिए संन्यासी को यह सुविधा दी गई है कि यदि स्वयं को वास्तविक रूप में अभिव्यक्त करके यात्रा करने में कठिनाई होती हो तो वह अपने को छुपा कर यात्रा कर सकता है। यह आत्मगोपन कभी जटी या मुण्डी होकर तो

कभी वस्त्र पहन कर या दिगम्बर होकर किया जा सकता है।[18] इस आत्मगोपन का उद्देश्य लोगों की दृष्टि से स्वयं को बचाना ही है। क्योंकि ग्राम्य अथवा नागरिक-जन संन्यासी की तपश्चर्या से प्रभावित होकर उसका सम्मान करने लगेंगे और योगी सम्मान की रज्जु में बँधकर लक्ष्य भ्रष्ट हो जाएगा। सम्मान से संन्यास-योगी को सदा दूर रहना ही श्रेयस्कर है।[19] अतः इससे बचने के लिए स्वयं का गोपन किया जा सकता है। इसी कारण नारदपरिव्राजकोपनिषद् में यति की यात्रा के लिए गूढ़[20] विशेषण लगाया गया है। यह कहा गया है कि जो साधु-असाधु, मूर्ख-विद्वान्, सदाचारी-दुराचारी आदि का लोगों को ज्ञान न होने दे, वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण है।[21]

श्रुति में यायावर संन्यासयोगी को ग्राम में एक ही रात्रि निवास करने का विधान है। नगर में पाँच रात्रि तक रुकने की छूट है।[22] ग्राम और नगर का अन्तर तो श्रुति में स्पष्ट नहीं किया गया है। इसमें यह कारण हो सकता है कि नगर का क्षेत्र ग्राम की अपेक्षा विस्तृत होता है तथा वहाँ के निवासी चतुर और बुद्धिमान् होते हैं। ग्रामवासी अन्धश्रद्धा से अभिभूत होकर शीघ्र ही संन्यासी का सत्कार प्रारम्भ कर देते हैं। किन्तु नगर के वासी सहज ही किसी पर विश्वास नहीं करते। यदि संन्यासी गाँव में दो रात्रि ठहरेगा तो उसे राग-द्वेषादि दोष बाँध लेंगे। इन दोषों के कारण वह लक्ष्य भ्रष्ट हो जाएगा।[23] अतः योगी को सदा भ्रमण करते रहना चाहिए।[24] संन्यासी के लिए एकाकी भ्रमण का विधान किया गया है।[25] क्योंकि दो से मिथुन, तीन से गाँव और इससे अधिक नगर के समान हो जाता है।[26] अतः इन तीनों का वर्जन करे[27] तथा संन्यासयोगी सदैव एकाकी विचरण करे।

2. भैक्ष्यचर्या

भैक्ष्यवृत्ति भी संन्यासी के लक्ष्य को प्राप्त कराने में अत्यन्त सहायक होती है। मुख्य रूप से इसका लक्ष्य भी रजोगुण का नाश करना है। इसीलिए उपनिषदों में कहा गया है कि जो परमात्मा में अनुरक्त तथा अन्य विषयों से विरक्त है, त्रिविध एषणाओं का त्याग कर चुका है, वही भिक्षान्न खाने का अधिकारी है।[28] जब पूजा, वन्दना के स्थान पर डंडे खाने पर भी मन में प्रसन्नता हो, तभी भिक्षान्न खाने का अधिकारी होता है।[29] तात्पर्य यह है कि उसमें इतना सत्वोद्रेक हो जाए कि वह साम्यावस्था को प्राप्त कर ले। वही संन्यासयोगी वास्तव में भिक्षान्न का अधिकारी होता है।

संन्यासी को चाहिए कि वह केवल उदरपूर्ति के लिए ग्राम अथवा नगर में रहने वाले पवित्र, सदाचारी गृहस्थ के घर से भिक्षा माँगकर खाए। भिक्षा का अन्न भी जाति दोष, निमित्त दोष तथा आश्रय दोष से रहित होना चाहिए। लशुन,

प्याज आदि जाति दोष से दूषित, बासी और जूठा अन्न निमित्त दोष से दूषित तथा चाण्डाल, जुआरी, मांसाहारी, चोर, तस्करादि के घर पकाया हुआ अन्न आश्रय दोष से दूषित कहा गया है। अतः संन्यासी को इन घरों से भिक्षान्न प्राप्त नहीं करना चाहिए। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि आहार-शुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है तथा अन्तःकरण की शुद्धि होने पर निश्चल स्मृति होती है, जिससे सम्पूर्ण ग्रन्थियों का नाश हो जाता है तथा मोक्ष सुख की उपलब्धि होती है।[30] मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि भैक्ष्यचर्या का आचरण करते हुए जो संन्यास योगी रजोगुण का नाश करके निष्कल्मष हो चुके हैं, वे प्राणों का त्याग कर सूर्य द्वार से उस परम धाम को जाते हैं, जिसे अमृत कहा जाता है।[31]

भिक्षावृत्ति के नियम बड़े कठोर बताए गए हैं। भिक्षा माँगने का अधिकार सबको नहीं होता। केवल चतुर्थाश्रमी ही भिक्षान्न ही खाने का अधिकारी होता है, भिक्षा केवल उतनी ही माँगनी चाहिए कि उसका एक समय उदर भर जाए।[32] चूल्हे की राख ठंडी हो गई हो, उस समय श्रेष्ठ ब्राह्मण के घर से मधुकरी लाकर खाने वाला संन्यासी श्रेष्ठ कहा गया है।[33] जिस घर से उसे विशेष भिक्षा प्राप्त हो, वहाँ वासनावश पुनः नहीं जाना जाहिए।[34] इसी कारण संन्यासी के लिए कहाग या है कि औषध की भाँति अर्थात् स्वाद बुद्धि रहित होकर केवल शरीर रक्षणार्थ ही अन्न खाए।[35] कुटीचक को एक घर का व बहूदक को मधुकरी का अन्न खाना चाहिए। हंस और परमहंस के लिए हाथ ही पात्र हैं। उस पर जो अन्न आए उसे खाकर सन्तोष करे। तुरीयातीत गोमुखीवृत्ति से तथा अवधूत अजगर वृत्ति से भिक्षान्न का ग्रहण करे।[36]

भैक्ष्यचर्या के लिए कुछ अनुबन्ध भी बताए गए हैं, जो इस प्रकार हैं :

1. जो वीतराग संन्यासयोगी निरन्तर परमात्मा में ही अनुरक्त रहता है तथा आत्मेतर वस्तुओं से विरत रहता है। त्रिविध एषणाओं से रहित रहने वाले साधक को ही भिक्षान्न खाने का अधिकार है।[37]
2. जो संन्यासी किसी के द्वारा सत्कृत और नमस्कृत होने पर जितना प्रसन्न होता है, उतनी ही प्रसन्नता यदि किसी के द्वारा ताडित होने पर भी होती हो तो ऐसा साम्यदृष्टि साधक भिक्षान्न के भोग का अधिकारी हो सकता है।[38]
3. जिसके हृदय में यह भावना ध्रुव हो चुकी हो कि मैं अक्षर ब्रह्म हूँ, वही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण भिक्षा का अन्न खाने का अधिकारी है।[39]
4. जब साधक समस्त प्राणियों में कर्म, मन और वचन से पाप नहीं करता, उस समय वह साधक भिक्षान्न के भोग का अधिकार प्राप्त कर लेता है।[40]

उक्त अनुबन्धों का तात्पर्य इतना ही है कि जो अकर्मण्य द्विज परिश्रम की उपेक्षा करके केवल उदरपूर्ति के लिए भिक्षा माँगते हैं वे महान् पाप का संग्रह करते हैं।[41] उनकी यह भिक्षा संन्यास का सूचक न होकर प्रवृत्ति की सूचक है क्योंकि कर्म प्रवृत्ति का लक्षण है और ज्ञान संन्यास का लक्षण है।[42] ऐसी भैक्ष्य-चर्या से तो गृहस्थ बनकर भोगों में प्रवृत्त रहना ही श्रेयस्कर है। जब मन में समस्त वस्तुओं से वैतृष्ण्य उत्पन्न हो जाए, तभी संन्यास और भैक्ष्यचर्या की इच्छा करनी चाहिए। इसके विपरीत आचरण करने से मनुष्य पतित कहलाता है।[43] ऐसे नराधम को वैदिक आचरण भी पवित्र नहीं करते।

3. दण्ड कमण्डलु धारण

संन्यास की दीक्षा ग्रहण करते समय संन्यासी को प्राय: दण्ड कमण्डलु के धारण का आदेश दिया जाता है। मन में जिज्ञासा होती है कि दण्ड कमण्डलु के धारण करने के मूल में क्या रहस्य निहित है? संन्यास का धारण करने से क्या सम्बन्ध? जब संन्यास में सब वस्तुओं का परित्याग कर दिया गया है तो फिर दण्ड और कमण्डलु को धारण करके मोह को अवकाश क्यों दिया जाए? इस प्रश्न के उत्तर के लिए शास्त्रों में अनेक हेतु दिए गए हैं। दण्ड धारण का मुख्य लक्ष्य यह है कि यह प्रायश्चित का सूचक होता है। यदि मन, वचन या कर्म से अनजाने कोई पाप हो जाए तो उसका दण्ड प्रायश्चित के रूप में संन्यासी को स्वयं ही स्वीकार कर लेना चाहिए। यह काष्ठ दण्ड उसी की स्मृति निरन्तर दिलाता रहता है। जैसे विगत जीवन में अपराध के परिणामस्वरूप दण्ड भोगा गया था, संन्यास की अवस्था में भी वह दण्ड स्वयं ही स्वीकार कर लेना चाहिए। इसी भावना को दृढ़ करने तथा पहले भोगे दण्ड को याद दिलाने के लिए दण्ड धारण आवश्यक है। दण्ड-धारण के समय संन्यासी यह भावना करता है कि हे दण्ड! तू मेरा मित्र है। मेरी रक्षा कर। तू इन्द्र के वज्र की भाँति मेरी वासनाओं व पापों रूपी वृत्रासुर का संहार कर। तू मेरे लिए कल्याणमय हो। तू मेरे पापों का निवारण करने वाला हो।[44] वह दण्ड बांस का होना चाहिए। ऊँचाई पैर से लेकर मस्तक तक हो। खरोच व छेद से रहित, चिकना, समा तथा उत्तम लक्षणयुक्त हो। उसका रंग काला न हो।[45]

इसी प्रकार कमण्डलु भी जीवन का प्रतीक है। कमण्डलु भी जल धारण के काम आता है। जल का धारण जिस प्रकार सांसारिक क्रियाओं के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार वह जीवन का भी धारण करता है। जल को जीवन भी कहा जाता है। यही जल पापों का विनाशक भी है। हमारी भारतीय परम्परा के अनुसार दान देते समय, वरदान या शाप देते समय भी जल का उपस्पर्शन किया जाता है। कमण्डलु में स्थित जल संन्यासयोगी को पापों के विनाश की ओर इंगित करता

है। कमण्डलु-धारण के समय यह भावना की जाती है कि हे कमण्डलु ! तू संसार का जीवन है। तू जीवन का आधार है। तू सब कालों में सबके लिए सौम्य बन।[46]

'कं मण्डयति' अर्थात् जल को मण्डित करना जिसका स्वभाव है। ऐसा वह काष्ठ पात्र कमण्डलु कहलाता है। शास्त्रों में जल को शान्ति का स्थापक माना गया है। 'आपः शान्तिः' तथा 'आपो भवन्तु पीतये' इत्यादि मन्त्र जल के इसी शान्तिप्रदायकत्व की ओर इंगित करते हैं। इसीलिए कमण्डलु को संन्यासी के लिए आवश्यक माना जाता है। कमण्डलु काष्ठ का ही संन्यासी को धारण करने का विधान है, रजत, सुवर्ण या अन्य धातु का नहीं। इसमें भी मूल कारण धातु पात्र में आसक्ति होना ही है।

यहाँ यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि संन्यास योग में दण्ड और कमण्डलु का धारण नितान्त आवश्यक नहीं है। जब तक संन्यास योगी सिद्ध नहीं होता, तभी तक इनका धारण आवश्यक है। जब संन्यास भावना अत्यन्त दृढ़ हो जाए और अन्तःकरण नितान्त विषय वितृष्ण्य हो जाए, तब इन बाह्य चिह्नों के धारण करने की बिलकुल आवश्यकता नहीं रहती। यही कारण है कि परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत संन्यासी को सब वस्तुओं के धारण से मुक्त रखा गया है।[47]

4. प्रणव जप

निःश्रेयस के मार्ग पर आरुढ़ संन्यासयोगी के समक्ष जन्म-जन्मान्तर में उपार्जित पापों का संघात सहसा उपस्थित होकर विघ्न उत्पन्न करता है। यद्यपि कर्मचक्र सदैव चलता रहता है। यह कोई नहीं जानता कि कौन-सा कर्म किस समय फलोन्मुख होकर संन्यासी के मार्ग में बाधक बन जाए। विशेष रूप से पापकर्म अपने क्रम में समयानुसार उपस्थित होते रहते हैं, किन्तु योगी के मार्ग में तो वे इस प्रकार उपस्थित हो जाते हैं, जैसे किसी बाँध के टूट जाने पर जल सहस्त्रों धाराओं में टूट पड़ता है। ये पाप कर्म रोग, शोक और परिताप के रूप में कल्याण-मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं। उन विघ्नों के विनाश का उपाय क्या है ? कहते हैं कि 'नाभुक्तं क्षीयते कर्मः कल्प कोटि शैतरपि'। अर्थात् करोड़ों वर्षों के उपरान्त भी कर्म बिना भोग के क्षीण नहीं होता। यदि ऐसा मान लिया जाए तो संन्यासी को कभी मोक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि अनन्त जन्मों में उपार्जित अनन्त कर्मों का फल भोगने के लिए अनन्त जन्म लेने पड़ेंगे किन्तु संन्यासयोगी की आयु तो परिमित होती है। ऐसी स्थिति में संन्यासयोगी के पास उन कर्मों के नाश का क्या उपाय है ? यह जिज्ञासा प्रत्येक साधक के मन में जागरित होती है। गीता में कृष्ण ने कहा कि प्रारब्ध कर्मों को छोड़कर प्रसंख्यानाग्नि समस्त कर्मों को

भस्मसात् कर देती है।[48]

संन्यासोपनिषद् में उन पापकर्मों के संघात के ध्वंस का एक अन्य उपाय भी बताया गया है। वह उपाय है—प्रणव जप। वहाँ कहा गया है कि जब समस्त पापों का संघात एक साथ उपस्थित हो जाए तो उच्च स्वर से द्वादशसहस्र बार प्रणव जप का अभ्यास करे। इससे उन कर्मों का नाश हो जाता है।[49] यह भी कहा गया है कि जो संन्यासयोगी प्रतिदिन द्वादश सहस्र बार प्रणव का जाप करता है, उसको बारह मास में ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।[50] नादबिन्दूपनिषद् में कहा गया है कि प्रणव रूपी हंस पर आरुढ़ होकर कुशल उपासक कोटि-कोटि पापों से छूटकर बन्धन मुक्त हो जाता है।[51] इसीलिए मुण्डक में प्रणव रूपी धनुष पर आत्मा रूपी बाण को चढ़ाकर ब्रह्मरूपी लक्ष्य की प्राप्ति का निर्देश दिया गया है।[52]

उक्त वचनों से प्रणव की महत्ता स्पष्टतः परिलक्षित होती है। अपने दैनिक कर्तव्यों के अन्तराल में जब भी योगी को अवकाश मिलता है, उस समय उसका कर्तव्य केवल प्रणव जप होना चाहिए। यही प्रणव मन को नियन्त्रित करने में समर्थ है। क्योंकि मन को मनुष्यों के बन्धन व मोक्ष का कारण माना गया है।[53] इसके निरन्तर जाप से तथा अर्थ विचार करने से मन एकाग्र, प्रसन्न और स्थिर होता है।[54] इसी को दृष्टिगत करके योगसूत्र के भाष्य में व्यास जी ने निरन्तर स्वाध्याय (प्रणव जप) और योग के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होने का वर्णन किया है।[55] क्योंकि निरन्तर प्रणव जप तथा अर्थ विचार से चित्त एकाग्र हो जाता है, जिससे परमेश्वर का ज्ञान और विघ्नों का अभाव होता है।[56] अतः प्रणव जप का संन्यासयोगी के लिए अनिवार्य विधान है। उपनिषदों में अनेकत्र वर्णन करके प्रणव को विशेष स्थान दिया गया है।[57]

5. भस्मालेपन

संन्यासी को भस्म-स्नान का भी आदेश संन्यास शास्त्रों में बताया गया है। यद्यपि भस्म को देह पर लगाना एक बाह्याडम्बर माना जा सकता है किन्तु इसके मूल में एक वैज्ञानिक कारण निहित है। भस्म संन्यासी के देह को शैत्य, आतप और विभिन्न हानिकारक जीवाणुओं से बचाती है। यह भस्म कपिला गौ के गोबर से बनी हुई होनी चाहिए।[58] हमारी संस्कृति में गाय के प्रत्येक द्रव्य को अमृत कहा गया है। गोदुग्ध, घृत, दधि, गोमय, गोमूत्र—ये पाँचों पंचामृत कहलाते हैं। राजा रघु ने नन्दिनी के मूत्र से आँखें धोकर दिव्य दृष्टि प्राप्त की थी।[59] कामधेनु की महिमा तो विख्यात ही है। इसी प्रकार गाय के गोबर की भस्म विभिन्न रोगों का निवारण करती है। आयुर्वेदशास्त्र में विभिन्न रोगों में गोमय तथा गोमूत्र का विधान किया गया है। इसीलिए संन्यासी को भस्म से देह को लीपने का निर्देश

दिया गया है।[60]

भस्मधारण का एक और उद्देश्य बताया गया है। शास्त्रों में देह को भस्मान्त कहा गया है।[61] यह शरीर अन्त में भस्म हो जाता है। इसीलिए विद्वान् पुरुष इससे मोह नहीं करते। इसी देह की भस्मान्तता को मन में सदैव उपस्थित रखने के लिए देह में भस्म लगाई जाती है ताकि संन्यासी सदैव यह ध्यान रखे कि यह शरीर एक दिन भस्म हो जाएगा, अतः इससे मोह नहीं करना चाहिए। जो साधक शरीर मोह से ग्रस्त नहीं होता, वह मोक्ष मार्ग पर अविरल बढ़ता रहता है। इसी कारण भस्म को मोक्षदायिनी कहा है।[62] शरीर के प्रति आसक्ति को दूर करने वाली इस भस्म के विषय में कहा जाता है कि गौतम और अहल्या का विवाह हुआ तो देव अहल्या के सौन्दर्य को देखकर कामातुर हो उठे। तब दुर्वासा ने उन्हें अभिमन्त्रित भस्म दी जिससे वे कामदोष से मुक्त हो गए।[63]

शास्त्रों में भस्म के पाँच नाम गिनाए गए हैं—विभूति, भसित, भस्म, क्षर और रक्षा।[64] क्योंकि यह राख संन्यासयोगी के योग के ऐश्वर्य को बढ़ाने में सहायक होती है तथा उसके शरीर को निरोग और पुष्ट करती है, इसीलिए इसे विभूति कहा जाता है।[65] समस्त पापों का भक्षण करती है, इसलिए इसे भस्म कहते हैं।[66] देह को भासित करती है, इसलिए भसित कहलाती है।[67] आपत्तियों को जलाकर क्षार कर देती है, इसलिए इसे क्षार कहा जाता है।[68] भूत-प्रेत-पिशाच-राक्षस-अपस्मार और भवभीति से रक्षा करने के कारण रक्षा कहलाती है।[69]

यहाँ पर ध्यान रखना चाहिए कि विभूति का धारण भी आवश्यक नहीं है। यह केवल विभिन्न भावनाओं का स्मरण दिलाने वाले प्रतीक मात्र हैं। अदृढ़ संन्यासयोगी के लिए यह अनिवार्य रूप से सेवनीय है। सिद्ध योगी को इनसे कोई प्रयोजन नहीं। संन्यासयोग की भूमि को दृढ़ करने के लिए—वैराग्यभाव की पूर्ण प्रतिष्ठा होने तक इसकी उपयोगिता से इंकार नहीं किया जा सकता।

6. रुद्राक्ष धारण

संन्यास शास्त्रों में संन्यासी के लिए रुद्राक्ष को धारण करना भी उचित बताया गया है। इसके शास्त्रीय महत्व को एक तरफ रखकर श्रद्धानिमीलित नेत्रों से विचार न करते हुए यदि हम वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो इसके शास्त्रीय विधान का रहस्य हमारी समझ में आ जाता है।

रुद्राक्ष एक दिव्य औषध है जो अपनी सन्निधि मात्र से अनेक शारीरिक रोगों और वायवीय दोषों को नष्ट करती है। रुद्राक्ष में वात रोग को नष्ट करने की शक्ति है। जिसके देह को प्रतिक्षण रुद्राक्ष स्पर्श करता है, उसे वातरोग पीड़ित नहीं करता। चूंकि संन्यासी अपने दैहिक स्वास्थ्य की ओर से उदासीन रहता है, इसलिए उसके रोगों का निवारण करने के लिए आयुर्वेदज्ञ मनीषियों ने

रुद्राक्ष धारण आवश्यक बताया है। जैसे ब्रह्मचारी के लिए मुंज-मेखला का महत्व है, वैसे ही संन्यासी के लिए रुद्राक्ष धारण का भी महत्व है। संन्यासी का देह भी वर्षा, शीत और आतप से अथवा अनवधानवश अनुचित आहार-विहार से रोग ग्रस्त हो सकता है। उसके योगक्षेम का दायित्व उसके ऊपर नहीं होता। इसका दायित्व तो संन्यासश्रुति का ही है। इसलिए श्रुति ने संन्यासी को अनायास स्वस्थ रखने के लिए रुद्राक्ष धारण का उपदेश दिया है।

औषधियों के प्रभाव को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। स्वामी दयानन्द ने भी सीमन्तोन्नयन संस्कार के प्रसंग में पत्नी के केशों का प्रसाधन करने के लिए खदिर की लकड़ी से बने कंघे का उपयोग बताया है। वहाँ भी उसके उपयोग का यही रहस्य है कि खदिर की लकड़ी केशों के लिए दोषरहित होती है। यही समाधान रुद्राक्ष के लिए भी किया जाना चाहिए।

रुद्राक्ष धारण का दूसरा रहस्य यह है कि शिव का तृतीय नेत्र ही रुद्राक्ष कहा गया है। यह तृतीय नेत्र कर्तव्याकर्तव्य की समीक्षा करने वाली योगी की आलोचनात्मक दृष्टि का प्रतीक है। जिस प्रकार शिव का तृतीय नेत्र पाप-वासनाओं का नाश करता है, उसी प्रकार संन्यासयोगी की दृष्टि भी अन्तःकरण की कलुषित वासनाओं का दाह करने वाली होनी चाहिए। उसी को याद दिलाने के लिए संन्यासी के लिए रुद्राक्ष धारण आवश्यक बताया गया है।

रुद्राक्ष धारण का एक तीसरा रहस्य भी है। रुद्राक्ष में खुरदुरापन और कठोरता होती है। यह रात्रि में संन्यासी को ठीक से सोने भी नहीं देता। रुद्राक्ष की गाँठें शरीर में चुभती रहती हैं, जिससे संन्यासयोगी सोते हुए भी जागता-सा रहता है। स्वप्नावस्था में चंचल मन चोर द्वार से घुसकर योगी को दुर्बल न कर दे। इसीलिए उसे सोते में भी जागना पड़ता है। तभी तो कहा गया है कि जिस रात्रि में समस्त प्राणी आराम से सोते हैं, संयमी संन्यासी उसमें भी जागता रहता है।[70] अतः योगी के लिए यह आवश्यक बताया गया है।

रुद्र के नयनों से उत्पन्न होने के कारण इन्हें रुद्राक्ष कहा जाता है।[71] रुद्राक्ष को वाणीमात्र से कहने पर दश, हाथ से स्पर्श करने पर दो सहस्र, कान में धारण से एकादश सहस्र तथा शिर में धारण से एक कोटि गोदान का फल प्राप्त होता है।[72] ब्राह्मण को श्वेत, क्षत्रिय को लाल, वैश्य को पीला तथा शूद्र को काले रंग का रुद्राक्ष धारण करना चाहिए।[73] एकमुखी से चतुर्दशमुखी रुद्राक्ष के धारण से लाभों का वर्णन रुद्राक्ष जाबालोपनिषद् में किया गया है।[74]

रुद्राक्ष धारण विषयक फल प्राप्ति के विषय में उक्त कथन से रुद्राक्ष धारण की महत्ता का प्रतिपादन होता है किन्तु संन्यासयोगी के लिए रुद्राक्ष धारण का महत्व प्रत्यक्षतः कुछ नहीं है। सिद्ध योगी होने से पूर्व उसे पवित्रता की भावना रुद्राक्ष धारण से प्राप्त होती है। हृदय तथा रक्तचाप को सामान्य स्थिति में

लाने वाली औषधि के रूप में आयुर्वेद शास्त्र में रुद्राक्ष का प्रयोग भी इसकी महत्ता को स्थापित करता है। संन्यासयोगी की स्थिति लोक में नहीं होती वह तो परमात्मा के साक्षात्कार में सतत् लगा रहता है। उसे इन बाह्य चिह्नों के धारण की आवश्यकता नहीं होती।

7. एषणा-त्याग

संन्यासयोगी की साधना अत्यन्त कठिन साधना है। पग-पग पर उसे विघ्नों का सामना करना पड़ता है। उसकी अपनी कर्मवासनाएँ तो उसके लिए बन्धनकारक होती ही हैं परन्तु वातावरण, जनसंग और हृदयस्थ एषणाएँ उसे कभी भी पथ-भ्रष्ट कर सकती हैं। अत: संन्यासयोग के साधक के लिए त्रिविध एषणाओं के त्याग पर बल दिया गया है।

पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा तीनों ही बन्धनकारक हैं। ये तीनों पृथक्-पृथक् कही जाती हैं किन्तु हैं एक ही। जो पुत्रैषणा है वहीं वित्तैषणा है तथा जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है।[75] पुत्र के द्वारा लोक को जीतने की इच्छा की जाती है। पुत्र को नरक तारक कहा जाता है। उसी पुत्र की कामना से पुरुष विवाह करता है। यदि एक स्त्री से पुत्र प्राप्त नहीं होता तो दूसरा, तीसरा और इस प्रकार अनेक विवाह करता है। यही दारसंग्रह पुत्रैषणा है।[76] लौकिक वित्त और देव वित्त से पितृलोक और देवलोक को जीतने की इच्छा वित्तैषणा कहलाती है। यश की लिप्सा लोकैषणा कहलाती है। सब उसका मान करें, अपमान न करें। इसी की पूर्ति हेतु वह पुत्र, वित्तादि की कामना करता है। उसके वित्तादि से लोग प्रभावित होंगे, उसका सम्मान करेंगे। लोक में उसका यश होगा। इस-लिए लोकैषणा को भी पूर्वोक्त दोनों एषणाओं से पृथक नहीं माना गया है।[77]

उक्त एषणाओं को संन्यासयोग की प्राप्ति में विघ्न कहा है। सम्मान से ब्राह्मण (संन्यासयोगी) को दूर भागना चाहिए तथा अपमान की इच्छा करे।[78] इसी कारण तो संन्यासी के लिए वस्त्र से मोह करना भी निषिद्ध है। दिगम्बर रहकर सम्मान की इच्छा न करता हुआ पुत्र स्त्री आदि की कामना से रहित संन्यासी ही ब्रह्मरूप हो जाता है।[79] अत: उपर्युक्त त्रिविध एषणाओं का त्याग आवश्यक है।[80]

8. स्वाध्याय

योग सूत्रकार के अनुसार सच्छास्त्रों का अध्ययन और प्रणव जप को स्वाध्याय कहा जाता है।[81] तभी इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है।[82] महर्षि व्यास की मान्यता है कि जिन देव, ऋषि, सिद्धों का योगी दर्शन करना चाहे, वे देव ऋषि तथा सिद्ध पुरुष उसे प्रत्यक्ष हो जाते हैं तथा उसके इच्छित कार्य को सिद्ध कर

देते हैं।[83]

स्वाध्यायशील साधक मोक्ष शास्त्रों के अध्ययन से परमात्म-चिन्तन की भावना को दृढ़ कर लेता है। प्रणव-जाप तथा उसके अर्थ की भावना से चित्त में एकाग्रता मन में प्रसन्नता और स्थिरता आती है।[84] तथा साधक को परमेश्वर का ज्ञान तथा विघ्नों का अभाव हो जाता है।[85] साधक की साधना में उत्पन्न बाधाओं के नष्ट होते ही वह परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। इसी कारण व्यास जी ने स्वाध्याय से योग और योग से स्वाध्याय को प्राप्त करके दोनों के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति करने को कहा है।[86]

अत: स्वाध्याय संन्यासयोगी को साधना की गहनता में प्रतिष्ठित करने, साधना मार्ग के विघ्नों को दूर करने तथा परमात्मा का सान्निध्य प्रदान करने के कारण महत्वपूर्ण है। अतः साधक को निरन्तर स्वाध्याय करना चाहिए।[87]

त्रिविध दण्ड—वाग्दण्ड, कायदण्ड और मानसदण्ड

नि:श्रेयस के मार्ग पर सावधानी से चलते हुए भी प्रमादवश स्खलन हो सकता है। नीतिशास्त्र में कहा है—'गच्छत: स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादत:'। किन्तु स्खलन का दण्ड उसे अवश्य मिलता है। स्खलन चाहे ज्ञानपूर्वक हो या अज्ञान-पूर्वक, दण्ड तो भोगना ही पड़ेगा। अग्नि से हाथ का स्पर्श चाहे जानबूझ कर किया गया हो या अनजाने में, अग्नि तो जलाएगी ही। इसी प्रकार ब्राह्मण हत्या, सुरापान, परस्त्रीगमन आदि पाप विक्षिप्त, मूर्छित अथवा सुषुप्ति अवस्था में किए जाने पर भी दु:ख रूप दण्ड अवश्य प्रदान करते हैं। संन्यासयोगी से भी ऐसे स्खलन हो सकते हैं। उन कर्मों का दण्ड यदि स्वत: भोग लिया जाए तो उस पाप कर्म का वेग शान्त हो जाता है। इस स्वत: दण्ड को भारतीय संस्कृति में प्राय-श्चित कहा जाता है। यह प्रायश्चित तीन प्रकार का होता है—वाग्दण्ड, कायदण्ड और मानसदण्ड।

1. वाग्दण्ड

वाणी से शुद्ध, शान्त और सुनृत वचन ही उच्चरित होने चाहिएँ। यदि क्रोध, मोह या प्रमाद के कारण किसी पूजनीय व्यक्ति के प्रति अपशब्द या अपमान-जनक वचन उच्चरित हो जाएँ तो उसका प्रायश्चित मौन द्वारा किया जाता है। वाणी का स्वभाव बोलना है। यदि उसके स्वभाव को दबा दिया जाएगा तो वाणी क्लेश का अनुभव करती है। मौन के द्वारा वाणी को क्लेश प्रदान करना ही वाग्दण्ड है।[88] अर्थात् वाणी को दण्ड देने की आवश्यकता पड़ जाए तो उस अवस्था में मौन रहकर उसे दण्ड दिया जा सकता है। मौन ऐसा अस्त्र है जो बड़े-बड़े

शत्रुओं और मिथ्यावादियों को परास्त कर सकता है। इतना ही नहीं मौन रूपी अस्त्र से समस्त विश्व को वश में किया जा सकता है। वाणी के द्वारा हमारी अनन्त दिव्य शक्तियाँ बाहर विकीर्ण हो जाती हैं। मौन के द्वारा उनका संग्रह किया जा सकता है ! शाप और वरदान का सामर्थ्य मौन की ही देन है। जो कार्य धनुर्धर का बाण भी नहीं कर सकता, वही कार्य मौनी की वाणी कर सकती है। प्राचीन ऋषियों की वाणी का यह वैभव था कि सांसारिक पदार्थ उसका अनुवर्तन करते थे। भवभूति ने कहा है कि लौकिक सत्पुरुषों की वाणी अर्थ के पीछे दौड़ती है अर्थात् घट को घट और पट को पट कहती है किन्तु आद्य ऋषियों की वाणी अर्थ के पीछे नहीं दौड़ती थी अपितु अर्थ वाणी के पीछे दौड़ता था।[89] यदि उनकी वाणी से 'दुर्जनः सज्जनो भूयात्' उच्चरित हो जाए तो दुर्जन को सज्जन होना ही पड़ेगा। यदि वे 'मरुस्थलं जलस्थलं भूयात्' कह दें तो मरुस्थल जलाप्लावित हो जाएगा। वाणी का यह सामर्थ्य मौन द्वारा ही आपादित होता है।

2. कायदण्ड

देह से हिंसा, ताडन, दुष्टगमन, दूषित आदान-प्रदान आदि पाप कर्म हो सकते हैं। यदि किसी अवस्था में संन्यासयोगी के द्वारा ऐसे पापकर्म जानबूझकर या अज्ञानवश अनुष्ठित हो जाएँ तो देह को दण्ड देना आवश्यक है। देह को दिया हुआ दण्ड उसे आगामी जन्मों में अनेक अनर्थों से बचाता है। हाथों से किया हुआ पाप आगामी जन्मों में खंजत्व के रूप में पर्यवसित होता है और चरणों से अनुष्ठित पाप पंगुत्व का कारण बनता है। इसी प्रकार अन्धत्व, बधिरत्व, कुष्ठादि रोग देह अनुष्ठित पाप के परिणाम हैं। देह के पाप के प्रायश्चित के लिए शास्त्रों में अभोजन का विधान है।[90] भोजन न करने से देह की शक्ति क्षीण हो जाती है। इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठती हैं। बार-बार भोजन की अभिलाषा करती है। उस समय संन्यासी को चाहिए कि वह दो-तीन दिन निराहार रहे। भोजन पाकर इन्द्रियाँ मद मस्त होती हैं। उनकी गति विषयों में होती है। विषयों से विमुख करने के लिए भोजन का त्याग आवश्यक है।[91]

3. मानस दण्ड

वाणी और देह की भी प्रवृत्ति का हेतु मूलरूप से अन्तःकरण ही है। हमारा अन्तःकरण अनन्त दिव्य शक्तियों का भण्डार है— 'यात्पिण्डे तत्ब्रह्माण्डे'। इस शरीर में ही ब्रह्माण्ड की समस्त दिव्यादिव्य शक्तियाँ हैं। अन्तःकरण का द्रुतगमन रूपी सामर्थ्य तो सभी को प्रत्यक्ष ही अनुभूत होता है किन्तु यह तो इसका भौतिक स्वरूप है। इसकी आध्यात्मिक शक्तियों की तो कोई सीमा ही नहीं है। महर्षि व्यास ने कहा है कि जह्नु ऋषि ने गंगा को उदर में समा लिया था और अगस्त्य

ने समुद्र को पी लिया था। यह उनकी शारीरिक शक्ति का विलास नहीं था अपितु यह तो मानसिक शक्ति थी।

अत्यन्त दिव्य शक्तियों का भण्डार होने पर भी हमारा मन प्रमादवश बाह्य विषयों में आसक्त होकर शक्ति रहित-सा अनुभूत होता है तथा अनेक पापों का अनुष्ठान इसी के द्वारा किया जाता है। इसीलिए मन का वशीकरण अत्यन्त अपेक्षित है। मन का यह वशीकरण मन को स्वतंत्र छोड़ देने से नहीं होता अपितु इसकी स्वतंत्रता छीन लेने से होता है। मन को गीता में दुर्निग्रह और चंचल कहा है तथा अभ्यास और वैराग्य इसको वश करने के साधन बताए हैं।[92] हठयोग में इसको वश में करने का उपाय प्राणायाम बताया है क्योंकि प्राण के चलने पर चित्त चंचल और रुकने पर चित स्थिर होता है। अत: प्राणायाम करना चाहिए।[93] उपनिषदों में प्राणायाम को ही मानस दण्ड कहा गया है।[94] प्राणायाम की अग्नि में झुलसकर मन का कंचन चमक उठता है। प्राणायामाग्नि देह के दोषों को दूर करती है।[95] किन्तु जैसे धातुओं के मल अग्नि में जलकर नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं।[96] इसलिए प्राणायाम की अग्नि में मन को तपाना चाहिए। स्वामी दयानन्द ने कहा है कि बारम्बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाती है।[97] सत्यार्थ प्रकाश में कहा गया है, "प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन हो जाते हैं।[98] अत: मन को वश में रखने का प्रयास करना चाहिए। असंयतात्मा संन्यास-योग की प्राप्ति नहीं कर सकता, इसे तो वश्यात्मा ही प्राप्त कर सकता है।[99] इसी कारण मानसिक दोषों के दण्डस्वरूप प्राणायाम का विधान किया गया है।

'जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्' की व्याख्या और योगी के आचरण की मीमांसा

संन्यासी का एक ही धर्म है—वैराग्य तथा एक ही अधर्म है—राग। इस वैराग्य भावना को दृढ़ करने के लिए ही अन्य समस्त कर्तव्यों का आचरण और अकर्तव्यों का परिहार सहायक के रूप में कार्य करता है। इसी वैराग्य भावना को दृढ़ करने वाले हेतुओं के मध्य जड़तुल्य आचरण भी एक उपाय निर्दिष्ट किया गया है। लोक में देखा गया है कि जो अपने गुण, विद्या, वैभव और ऐश्वर्यों को लोक में प्रदर्शित करते हैं, वे एक दिन अपने कर्तव्यों से च्युत हो जाते हैं। लोगों की भीड़ उसे घेर लेती है, जिससे प्रभावित होकर उसका वैराग्य क्षीण होकर राग बढ़ने लगता है। इसलिए उपनिषद् में कहा गया है कि :—

"नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ।।"[100]

अर्थात् जब तक कोई व्यक्ति उससे न पूछे, तब तक उसे नहीं बोलना चाहिए। यदि कोई अन्याय (भय अथवा पक्षपात) से पूछता है, तब भी उसे मौन का ही आश्रय लेना चाहिए। उसकी मेधा का उत्कर्ष इसी में है कि वह सब कुछ जानते हुए भी लोगों में स्वयं को जड़तुल्य ख्यापित करे।

संन्यासी मेधापूर्वक ही संन्यास ग्रहण करता है। उसकी मेधा की पहचान यही है कि उसने परिणामतापी विषय वासनाओं को तिलांजली देकर इस निवृति मार्ग का अवलम्बन किया है। नहीं तो मूढ़ पुरुष प्रायः सांसारिक भावों में ही आसक्त रहने में अपना हित देखते हैं। इसीलिए भवभूति ने मनस्वी पुरुषों का यह लक्षण किया है कि वे हृदय रूपी मर्म को छेदने वाले सांसारिक भावों से डरकर अरण्य में विश्राम करते हैं।[101]

संन्यासयोगी की दृष्टि में न कोई सत्पुरुष है, न असत्पुरुष। न अश्रुत है, न बहुश्रुत। न वह सुवृत को जानता है, न दुर्वृत्त को।[102] वह तो अन्धे, लूले, लंगड़े, बहरे, पागल और गूंगे के समान आचरण करता है।[103]

जिस प्रकार सूर्य समस्त लोकों का चक्षु है। समस्त लोगों की आँखें उसके प्रकाश से प्रकाशित होती हैं। किन्तु वह स्वयं लोगों के चाक्षुष दोषों से लेशमात्र भी सम्पृक्त नहीं होता। इसी प्रकार वह संन्यासी ब्राह्मण भी किसी एक प्राणी तक सीमित न रहकर समस्त भूतों का अन्तरात्मा बन जाता है। वह भी लोगों के दुःखों से लेशमात्र भी प्रभावित नहीं होता। वह दुःखी पुरुषों के दुःख से द्रवित नहीं होता और सुखी प्राणियों के सुख से हर्षित नहीं होता।[104] जड़भरत का आख्यान यह स्पष्ट करता है कि वीतराग ब्रह्मनिष्ठ ऋषि को केवल एक सद्योजात मृगशावक के रूप पर आसक्त होने के कारण मृगयोनि में जन्म लेना पड़ा था।[105] क्योंकि समस्त तपश्चरण को भूलकर वह रागी हो गया था। इसीलिए संन्यास-योगी को चाहिए कि वह संसार के किसी भाव में आसक्त न हो अपितु सबकी उपेक्षा करे। ज्ञानी पुरुष बाह्य, आभ्यन्तर और मध्यम सभी श्रेष्ठ और निन्दित क्रियाओं में सज्जित नहीं होता।[106] संन्यासयोगी का नाम और रूप विलीन हो जाता है। उसका जो बाह्य रूप दिखाई देता है, वह केवल प्राक्तन् संस्कारों के कारण दिखाई देता है। वस्तुतः अपना नाम रूप वह तभी छोड़ चुका होता है, जब उसने 'संन्यस्तं मया' शब्द का तीन बार उच्चारण किया था। जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में खो जाती हैं, उसी प्रकार संन्यासयोगी ब्रह्म में अपने नाम और रूप को विलीन कर ब्रह्म रूप हो जाता है।[107]

संन्यासयोगी न तो ब्राह्मण होता है, न क्षत्रिय, न वैश्य और न शूद्र। न वह ज्ञानी है, न अज्ञानी। वह तो केवल अन्य प्राणियों की तरह ही एक सामान्य प्राणी

होता है। यदि संन्यासी विद्वान होकर या सिद्ध पुरुष होकर स्वयं को उस रूप में प्रख्यापित करेगा तो निश्चित ही लोकैषणा की रज्जु से बद्ध होकर इतना अशक्त हो जाएगा कि वह अपने निःश्रेयस धर्म का आचरण नहीं कर पाएगा। पुत्रैषणा और वित्तैषणा से साधक कथचित मुक्ति प्राप्त कर भी लेता है किन्तु लोकैषणा से मुक्ति प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इसलिए कहा गया है कि संन्यासी ब्राह्मण को सम्मान से इस तरह दूर भागना चाहिए जैसे विषैले सर्प से प्राणी दूर भागते हैं।[108] यह मधुमिश्रित विष है जो मनुष्य के बल, विद्या और साधना को शनैः-शनैः हरता है।[109] रामायण में हनुमान की कथा प्रसिद्ध है। हनुमान राम कथा को कुण्ठि के रूप में सुना करते थे। अत्यन्त बलवान् होकर भी स्वयं को निर्बल और निस्सहाय प्रकट करना संन्यासयोगी का ही काम है। इसी प्रकार जड़भरत की कथा भी इसी को पुष्ट करती है। वे राजा रहुगण की शिविका में जोड़े जाने पर भी उन्मत्तवद् साम्य भाव में स्थित रहे।[110] संन्यासयोगी के जड़तुल्य आचरण का यही रहस्य है कि वे स्वयं को छिपाकर अज्ञातचरित होकर पृथ्वी पर घूमते हैं।[111] समस्त प्राणियों के लिए संदिग्ध बने रहते हैं। वर्णाश्रम के धर्म से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। वे तो देखते हुए भी अन्ध होते हैं, सचेतन होते हुए भी जड़ बने रहते हैं और वाग्मी होते हुए भी मूकवत् आचरण करते हैं।[112] जैसे जड़भरत ने मृगजन्म के पश्चात् किया था।[113]

संन्यासी और दान

उपनिषदों में धर्म के तीन स्कन्ध बताए गए हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। यज्ञ तो साक्षात् तप ही है। ब्रह्मचर्याश्रम में निवास करते हुए गुरुमुख से विभिन्न शास्त्रों का स्वाध्याय करना अध्ययन है तथा गृहस्थ में रहते हुए यथाशक्ति समस्त आश्रमियों को धन, भोजन, वस्त्रादि देना दान है।[114] इन तीनों धर्मों में किसी को श्रेष्ठ और निम्न कहना न्याय नहीं है। यहाँ पर विचारणीय विषय है कि संन्यासयोगी को दान ग्रहण करने का अधिकार है अथवा नहीं? तथा संन्यास-योगी दान दे सकता है?

संन्यासी दान दे तो नहीं सकता क्योंकि वह स्वयं भैक्ष्यचर्या के व्रत का आचरण करता है। संन्यासी भी गृहस्थों के घर से अन्नादि का ग्रहण देहयात्रा के लिए करता है, अतः उसे दान नहीं कहा जाना चाहिए। इससे अधिक की याचना करने वाला पाप का भागी होता है।[115]

संन्यासी के लिए यदि कोई धनिक या धार्मिक गृहस्थ कुछ धन, स्वर्णादि देना चाहे तो वह शास्त्रीय मर्यादानुसार ग्राह्य है या नहीं? यह विचारणीय विषय है। इस विषय में दोनों ही मत प्राप्त होते हैं। गीता में कहा है कि 'देना चाहिए' इस भाव से देश, काल और पात्र[116] के उपस्थित होने पर प्रत्युपकार न करने वाले

को दिया जाता है, वही दान सात्विक है।[117] यही दानदाता की त्रिविध उन्नति का कारण है। इस कथन से तो यह अर्थ निकलता है कि संन्यासी को भी दान दिया जा सकता है। यद्यपि संन्यासी दान की इच्छा नहीं करता तथापि उसकी आवश्यकता को देखकर दिया गया दान अधर्म नहीं है।

दूसरी मान्यता यह है कि संन्यासी जिस अपरिग्रह और निष्काम कर्म से प्रेरित होकर निःश्रेयस के मार्ग पर चल पड़ा है, उसे दान देना उचित नहीं है। संन्यासी को दिया गया स्वर्ण, रथ, गज, वस्त्र, अन्नादि यदि उसमें राग उत्पन्न करके लक्ष्यभ्रष्ट कर दें तो वह दाता अवश्य ही उस पाप का भागी होगा। इसलिए संन्यासी को दान नहीं देना चाहिए।[118]

संन्यासी के लिए किसी के द्वारा दिए गए धन का ग्रहण अथवा स्वयं किसी को धन देना दोनों ही त्याज्य है। दान का अर्थ यहाँ अन्न, वस्त्र, कंचन का दान नहीं समझना चाहिए। जहाँ भी संन्यासी के लिए दान को विहित बताया गया है, वहाँ दान का अर्थ धन का दान नहीं अपितु जल का दान, आशीर्वाद का दान अथवा केशों का दान समझना चाहिए। संन्यासोपनिषद् में कहा है कि पवित्र जलों से स्नान व दान करे।[119] स्नान और शौच तो जन्म से ही सम्पादनीय हैं। जल दान करने का अर्थ है—संध्या वंदन करते समय देवों को जल का दान किया जाता है अथवा पिपासु को जल का दान किया जाना भी मानसिक पवित्रता का आधायक है। क्षुद्र प्राणियों का आशीर्वाद दिया जाना भी संन्यासयोगी के हृदय में पवित्रता का संचार करता है। 'दा' धातु काटने के अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। जैसे केशदान का अर्थ हुआ केशकर्तन। मुण्डी संन्यासी केशों का दान करता है। उसके केशों को पक्षी अपना घोंसला बनाने के काम में लेते हैं। बस संन्यासी के लिए इतना ही दान का विधान है। अपनी तपश्चर्या से प्राप्त महिमा के द्वारा संन्यासी द्वारा वरदान देना भी निषिद्ध माना गया है।

जिस प्रकार किसी को दान करना निषिद्ध है, उसी प्रकार दान का प्रतिग्रह भी त्याज्य है। यहाँ पर जिज्ञासा होती है कि संन्यासी दूसरों के द्वारा दी हुई भिक्षा का जो ग्रहण करता है, वह भी तो दान ही है। वह निषिद्ध क्यों नहीं माना गया? इसके उत्तर में उपनिषद् में कहा गया है कि संन्यासी को अयाचित प्राप्त भिक्षान्न का सेवन करना चाहिए।[120] अथवा तात्कालिक या उपपन्त भिक्षान्न का सेवन करना चाहिए। भिक्षा का अन्न तीन प्रकार का माना गया है—अयाचित्, तात्कालिक और उपपन्न। बिना माँगे दिया हुआ भिक्षान्न अयाचित है। संन्यासी की कुटि पर किसी ब्राह्मण के द्वारा लाया गया अन्न तात्कालिक कहलाता है तथा जो ब्राह्मण के द्वारा मठ में सिद्ध अन्न प्राप्त किया जाता है, वह उपपन्न है।[121] उक्त भिक्षान्न में से मधुकरवृति का आश्रयण कर संन्यासी के द्वारा जो स्वल्पान्न सेवन किया जाता है, वही उसके लिए श्रेयस्कर है। इसे माधुकर

भैक्ष्य कहा जाता है। जिस प्रकार एक भ्रमर विभिन्न पुष्पों पर बैठता है किन्तु उन सबका रस ग्रहण नहीं करता अपितु अनेक पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण कर लेता है। वह संग्रह भी नहीं करता। इसी प्रकार संन्यासी भी विभिन्न घरों में जाकर तत्काल की क्षुधा शान्त करने के लिए ही अन्न ग्रहण करता है। यही माधुकर भैक्ष्यवृति कहलाती है। इस प्रकार ग्रहण किया हुआ अन्न संन्यासी के लिए पापकारक नहीं होता। यदि भैक्ष्यवृत्ति मलेच्छ के घर से भी प्राप्त की गई हो तो वह भी कल्याणकारिणी होती है। सम्पूर्ण भिक्षा एक स्थान से ग्रहण नहीं करनी चाहिए।[122]

विभिन्न विद्वानों ने संन्यासयोगी के लिए दान के आचरण पर विचार किया है। उपनिषदों में दान को निषिद्ध कहा है। किन्तु कुछ अर्वाचीन चिन्तक इसे ग्राह्य मानते हैं। स्वामी दयानन्द का मत है कि संन्यासी यदि धन प्राप्त करके विद्या की वृद्धि करता है, पाखण्ड दूर करता है तो उससे जगत् का कल्याण होगा। अतः दान ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। विद्वान् और परोपकारी संन्यासी को दान देने से धर्म ही होता है। हाँ, संन्यासी यदि आवश्यकता से अधिक रखेगा तो चोर आदि से पीड़ित और मोह ग्रस्त भी हो सकता है। किन्तु पूर्ण वैराग्य-वान संन्यासी इनमें नहीं फँसता।[123]

यहाँ विचारणीय है कि स्वामी दयानन्द ने जिस वैराग्यवान् संन्यासियों की बात की है, वे दृढ़ वैराग्य होने के पश्चात् तो स्वयं अपने लिए दान ग्रहण नहीं करेंगे। जिनका वैराग्य दृढ़ नहीं है, वे संन्यासयोग के पथिक धनादि का ग्रहण करके मोहासक्त हो सकते हैं। अतः उनको मोहासक्त न होने देने के लिए अर्थात् उनकी साधना में विघ्न न उत्पन्न करने को लक्ष्य में रखकर मात्र उतना ही दान देना श्रेयस्कर, है जिससे तत्काल क्षुधानिवृति हो जाए। अथवा कौपीन या काषाय वस्त्र भी दिया जा सकता है। जो संन्यासयोगी योग की उच्च भूमि पर अवस्थित है, उसे प्रलोभन विचलित नहीं कर सकते। अतः यदि उन्हें जगत् कल्याण हेतु धन की आवश्यकता है तो उन्हें देने में कोई बुराई नहीं है। यह उस योगी का कर्तव्य है कि वह लोक-संग से असम्पृक्त रहकर साधना करे ताकि आसक्ति से बच सके।

मौन एव अमौन

संन्यासयोग और मौन में अत्यन्त निकटता का सम्बन्ध है। संन्यासयोगी मुनि होता है। 'मुनेर्भावः मौनम्' अर्थात् मुनि का मुनित्व ही मौन है। यह मौन वाणी के नियन्त्रण से तथा बाह्य विषयों को अन्दर जाने से रोकने के द्वारा सिद्ध होता है। संन्यासयोग में मौन एक साधन के रूप में काम करता है। संन्यासयोग और मौन में साध्य-साधन भाव सम्बन्ध है। अतः संन्यासयोग की सिद्धि के लिए मौन

की साधना अनिवार्य रूप से करणीय है।

प्राय: स्थूल वाणी के प्रयोग न करने को मौनकता कहा जाता है। किन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है। केवल कण्ठ, ओष्ठ, तालु आदि करणों के द्वारा उच्चरित वाणी पर नियन्त्रण करने का नाम मौन नहीं है अपितु पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों को इन्द्रियों तक न आने देना ही सचमुच मौन है। मौन एक परमगति की अवस्था का नाम है।[124]

लोक में वाणी का प्रयोग अपने भाव को दूसरों तक पहुँचाने के लिए, अपने गुणों के प्रख्यापन के लिए तथा दूसरों के गुण-दोषों को जानने के लिए किया जाता है। संन्यासी के लिए तीनों ही उद्देश्य निस्सार हैं। प्राय: सत्पुरुष अपने कार्यों से ही अपने आचरण को कहते हैं।[125] साधारण पुरुष भी अपने गुणों के प्रख्यापन के लिए वाणी का प्रयोग करते हैं। संन्यासयोगी को इन सबसे कोई प्रयोजन नहीं होता। यह तो एक लोकैषणा है। संन्यासी को इससे बचना चाहिए।[126]

संन्यासयोगी का लक्ष्य तो केवल आत्मदर्शन है। यह दर्शन चक्षु से सम्भव नहीं है। यह तो हृदय, मन और मनीषा—तीनों के संयोग से होता है। इन तीनों का सम्बन्ध केवल मौन से है। महानारायणोपनिषद् में कहा है कि अमृतत्व की प्राप्ति के लिए चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियाँ निरर्थक ही हैं। केवल मौन ही वहीं शरण्य होता है।[127]

गीता में मौन को मानस तप की संज्ञा दी है।[128] जैसे क्षुत्पिपाशा के वेग को धारण करने में कष्ट होता है, वैसे ही वाणी के वेग को रोकने पर भी कष्ट होता है। इसीलिए इसे तप कहा है। यह भी साधारण पुरुषों के वेश की बात नहीं है। अपशब्दों के श्रवण से तथा अकारण वैरभाव रखने वाले दुर्जनों के दुर्व्यवहार से अत्यन्त सहिष्णु सत्पुरुषों का भी धैर्य टूटने लगता है। सबसे पहले वाणी ही उसका प्रतिकार करने के लिए आगे बढ़ती है किन्तु उसे प्रयत्नपूर्वक नियन्त्रण में रखना अत्यन्त धैर्यवान् सत्पुरुषों का ही कार्य है।[129] वाणी पर नियन्त्रण रखने में जहाँ आध्यात्मिक मार्ग में अनेक दिव्य सिद्धियों का लाभ होता है। वहीं लौकिक लाभ भी होता है। मौन से कलह की निवृति होती है।[130] इसी कारण संन्यासी को स्पष्ट निर्देश किया है कि किसी के द्वारा पूछे बिना उससे बात नहीं करनी चाहिए।[131]

गीता में कृष्ण ने स्वयं को मौन रूप में स्वीकार किया है।[132] छान्दोग्य में मौन को ब्रह्मचर्य कहा गया है।[133] मौन के द्वारा वाणी की शक्ति का क्षय रुक सकता है। अत: मौन धारण करना चाहिए। इसी कारण उपनिषदों में यत्र तत्र मौन का विधान किया है।[134] मौन को वाणी के दण्ड रूप में भी स्वीकार किया है।[135] यदि वाणी द्वारा किसी को कटु शब्द कह दिया गया हो तो संन्यासी मौन रह

कर वाणी को दण्ड देता है। इस प्रकार मौन की उपादेयता संन्यासयोगी के लिए कही गई है।

पूर्ण मौन उस समय सिद्ध होता है जब हमारे श्वास प्रश्वास की आवाज भी हमारे कानों तक न पहुँचे। वाणी के शब्दों पर नियन्त्रण तो हो जाता है किन्तु श्वास प्रश्वास के शब्द पर नियन्त्रण अत्यन्त कठिन है। इसके लिए योगीजन खेचरी मुद्रा का उपयोग करते हैं।[136] यही प्रशान्त-मना स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त योगी ही ज्ञानवान् और मोक्षवान् हो सकता है।[137] मौन द्वारा ही मन अमनस्त्व की स्थिति को प्राप्त करता है। उस समय आशाएँ आशाहीन हो जाती हैं। भाव अभाव की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।[138] हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। समस्त संशयों का नाश हो जाता है। तथा सम्पूर्ण कर्म भी क्षीण हो जाते हैं।[139] इसके पश्चात् मोक्ष के अतिरिक्त साधक की गति हो ही नहीं सकती। ऐसा मोक्षद मौन अवश्य ही धारणीय है।

मौन संन्यासयोग का महत्वपूर्ण साधन है। किन्तु अमौन की भी अपेक्षा नहीं की जा सकती। लोकयात्रा एवं देहयात्रा अमौन के बिना सुचारु रूप से नहीं चल सकती। भिक्षा याचना, प्राण संकट की स्थिति तथा दोष निवारण हेतु अत्यल्प ही सही किन्तु वाणी का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु अमौन को आपद्धर्म के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए। मौन को आत्मधर्म के रूप में सदैव धारण करना संन्यासी का कर्तव्य है।

संन्यासयोग में धारणीय वस्तुएँ

अनेक उपनिषदों में संन्यासयोग में कुण्डिका, चमस, शिक्य, उपानत, कन्था, कौपीनादि वस्तुओं को धारण करने के लिए कहा है।[140] वस्तुतः इन वस्तुओं को धारण करने का कोई अनिवार्य नियम नहीं है। अपितु यहाँ अभिप्राय यह है कि आवश्यकतानुसार इनको धारण किया जा सकता है। इनको धारण करने में कोई दोष नहीं है। यह आपद्धर्म है। जिसे अपनाने पर वह पतित नहीं होता। यह निष्कारण धर्म नहीं है, जिसे सेवन करना अनिवार्य है। यथा ब्राह्मणों को षडंगं वेदाध्ययन। यहाँ संक्षेप में उक्त वस्तुओं का वर्णन करना समीचीन होगा।

1. कुण्डिका

यह कमण्डलु अथवा लकड़ी या पत्थर के पात्र को कहा जाता है, जिसे जल रखने के लिए काम में लाया जाता है। जल सुवर्ण अथवा अन्य धातु के पात्र में भी रखा जा सकता है किन्तु संन्यासयोगी के लिए लकड़ी या पत्थर के पात्र का ही

विधान है क्योंकि सुवर्णपात्र से वित्तैषणा उत्पन्न होने का भय रहता है तथा आसक्ति बढ़कर वैराग्य का नाश हो सकता है। अत: इन्हें वर्जित कहा गया है। लकड़ी या पाषाण की कुण्डिका के प्रति आसक्ति होने की संभावना नहीं रहती। चोरी का भय भी नहीं रहता। अत यदि साधक चाहे तो कुण्डिका का धारण कर सकता है।

2. चमस

चमस चमचे के आकार का लकड़ी का बना एक उपकरण होता है, जिसे आचमन के लिए प्रयोग में लाया जाता है। इसका उपयोग करने में भी कोई दोष नहीं है।

3. शिक्य

रस्सी की बनी झोली को शिक्य कहते हैं। उस झोली का उपयोग संन्यासी कन्था, कौपीन, स्नानशाटी आदि रखने के लिए कर सकता है।

4. उपानह

पैरों को कांटों से बचाने के लिए लकड़ी की बनी पादुकाओं का उपयोग भी वर्जित नहीं है। इन्हीं को उपानत या उपानह कहा जाता है। यद्यपि संन्यासयोग नग्न पांव ही यात्रा करे किन्तु विशेष स्थानों की यात्रा में इनका प्रयोग किया जा सकता है। देह की रक्षा तो संन्यासी को भी करनी पड़ती है। यद्यपि इस देह से उसका मोह नष्ट हो जाना चाहिए। फिर भी देह को अनावश्यक कष्ट देना उचित नहीं है। क्योंकि साधना के लिए भी तो देह माध्यम है।[141]

5. कन्था

प्राय: संन्यासयोगी नग्न रहता है। अपने शरीर को वर्षा, शीत, आतप से झुलसाकर वह इतना बलिष्ठ कर लेता है कि उसे वस्त्र की आवश्यकता नहीं होती। वस्त्र धारण से बचने के लिए हो संन्यासयोगी के लिए भस्मलेपन का विधान है।[142] इसलिए वस्त्र धारण संन्यासी के लिए अनपेक्षित हैं। यदि शरीर अभी इतना बलिष्ठ नहीं हुआ कि वह शीत, आतप आदि का सहन कर सके तो उसे शीतोपघातिनी कन्था का उपयोग कर लेने की छूट दी गई है। यह कन्था फटे वस्त्रों, पुरानी रूई तथा खुरदरे धागों से बनी होनी चाहिए। यह कोमल और सुखदायक तथा नए धागों या रूई की बनी न हो। 'कं' शब्द में 'थन्' प्रत्यय करके 'कन्था' शब्द की निष्पत्ति हुई है। 'कं जलं निजोपरि स्थापयति इति कन्था'। यह कन्था अपने ऊपर जल, शैत्य और आतप को सह लेती है। इसीलिए इसे कन्था कहा जाता है।

कन्था से संन्यासी को आसक्ति नहीं होती।

6. कौपीन

गुह्यांग ढकने के लिए कौपीन का प्रयोग किया जाता है। यही संन्यासयोगी का मुख्य वस्त्र है। परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत संन्यासियों के लिए कौपीन भी वर्जित है। किन्तु तब तक विषयों से पूर्ण वैतृष्ण्य नहीं होता दिगम्बर रहने का अभ्यास नहीं होता, लज्जा पर विजय प्राप्त नहीं होती तब तक कौपीन का धारण किया जा सकता है। यह भी एक आपद्धर्म है।

इस प्रकार इन वस्तुओं का धारण करना अनिवार्य नियम नहीं है किन्तु धारण करने में कोई दोष भी नहीं है। स्वामी दयानन्द भी प्रारम्भ में नग्न रहते थे। समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने के लिए उन्हें वस्त्रधारण करना पड़ा था। अत: स्थान व काल की आवश्यकतानुसार कौपीन अथवा काषाय वस्त्र का धारण भी किया जा सकता है। यदि संन्यासयोगी अरण्यवास करता है तो उसे वस्त्र धारण की कम आवश्यकता होगी। जो संन्यासी इस मार्ग में नए आए हैं, समाज के ऊपर, क्षुत्पिपाशा निवृत्ति हेतु निर्भर हैं, उन्हें वस्त्र धारण करने में कोई दोष नहीं है। अत: उपर्युक्त वस्तुओं का धारण साधना की अवस्था में किया जा सकता है।

संन्यासयोगी का भोजन

अन्न का भक्षण ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी सभी के लिए अनिवार्य है। बालक, युवा या वृद्ध अन्न के बिना जीवित नहीं रह सकता। इसीलिए बृहदारण्यकोपनिषद् में अन्न को श्रेष्ठ कहा गया है। तथा आत्मा को 'अन्नाद:' कहा गया है।[143] यद्यपि जल, वायु आदि का भक्षण करके भी मनुष्य जीवित रहते हैं किन्तु अन्न के अभाव में शारीरिक, मानसिक व आत्मिक बल की प्राप्ति नहीं होती तथा बल के अभाव में आत्मज्ञान असम्भव है।[144] उपनिषदों में मन को अन्नमय, प्राणों को जलमय तथा वाणी को तेजोमय कहा गया है।[145]

विधाता ने समस्त प्राणियों के लिए सात प्रकार के अन्नों की रचना की है। ये सात अन्न इस प्रकार हैं—साधारण, हुत, प्रहुत, दुग्ध, मन, वाक् व प्राण। परमात्मा ने इनकी उत्पत्ति बहुत सोच-विचार कर मेधा और तप से की है।[146] साधारण अन्न मनुष्य, पशु आदि सबके लिए, हुत व प्रहुत देवों के लिए, दुग्ध नवजात मनुष्य व पशु शिशु के लिए तथा मन, वाक् व प्राण अपने लिए रचे हैं।

इन सप्तान्न सृष्टि के विवेचन का तात्पर्य इतना ही है कि अन्न की उपयोगिता परमात्मा तथा उसकी सम्पूर्ण सृष्टि के लिए है।[147] जीवात्मा के पाँचों कोशों में अन्नमय कोश प्रथम है।[148] संन्यासयोगी का देह भी अन्न के बिना जीवित नहीं रह सकता। स्वस्थ देह में ही स्वस्थ मन निवास करता है। यद्यपि गीता में निराहार मनुष्य के मन को विषयहीन बताया है[149] तथा चित्तशुद्धि के लिए आहार के परित्याग का भी निर्देश किया है किन्तु अन्न का सर्वथा परित्याग नहीं कहा है। युक्त आहार और विहार से ही योग की सिद्धि का उल्लेख है।[150]

अन्न की उपयोगिता जहाँ इतनी अपरिहार्य है, वहाँ इसकी ओर से सावधान रहने की भी आवश्यकता है। अन्न का सेवन देश, काल, परिवेश को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए। अनुचित आहार-विहार से इन्द्रियों का समत्व बिगड़ जाता है जिससे देह, मन व प्राण अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में शरीर अस्वस्थ हो जाता है तथा साधना के उपयोगी नहीं रहता क्योंकि दोषों का साम्य, अग्नियों का साम्य, धातु व मल की क्रियाओं का सही सम्पादन, आत्मा, इन्द्रिय और मन का प्रसन्न होना स्वस्थ का लक्षण है।[151] स्वस्थ व्यक्ति ही साधना कर सकता है।

अन्न के स्थूल, मध्यम व सूक्ष्म तीन रूप क्रमशः मल, माँस और मन बनते हैं।[152] इसी प्रकार जल मूत्र, लोहित और प्राण के रूप में परिवर्तन हो जाता है।[153] घृत के रूप में सेवन किए तेज का अस्थि, मज्जा और वाणी के रूप में परिवर्तन हो जाता है।[154] प्राणादि पंच वायु उक्त तीनों को शरीर के समस्त अंगों में भेजते हैं।

संन्यासी के लिए जो सबसे दुर्जेय शत्रु है, व मन है।[155] मन के वशीकरण के लिए जहाँ यम-नियमादि, अभ्यास-वैराग्य[156], प्रवण जप[157], भावना,[158] ईश्वर प्राणिधान[159] एकतत्वाभ्यास[160] आदि बताए हैं, वही आहार भी वशीकरण का एक उपाय है।[161]

सात्विक आहार से मन सत्वगुणी होता है। राजसिक भोजन से मन चंचल और उद्विग्न-होता है, जिससे संसार में प्रवृत्ति होती है। तामसिक भोजन से गुरुत्व, आलस्य, तन्द्रा, जड़ता आदि मानसिक दोष जन्म लेते हैं। इसीलिए संन्यासयोग पर आरुढ़ साधक को अन्न के विषय में सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। छान्दोग्योपनिषद् में मदिरापान को महापातक का नाम दिया गया है।[162] मादक पदार्थों का सेवन गृहस्थी के लिए भी त्याज्य है। संन्यासी की तो बात ही क्या है। घृत, मधु, तेल, लशुन, उड़द की दाल दुग्धादि पौष्टिक पदार्थ संन्यासी के लिए वर्जित हैं। कहा गया है कि योगी योगी घृत को कुत्ते के मूत्र के समान, मधु को सुरा, तेल को सुअर के मूत्र के समान, उड़द की दाल को गोमांस, दूध को स्वमूत्र

के समान समझे। यति को प्रयत्नपूर्वक इन्हें छोड़ देना चाहिए।[163] गीता में कटु, अम्ल, लवण, अत्युष्ण, तीक्ष्ण, रुक्ष, दाहकारक आदि दुःख, चिन्ता उत्पन्न करने वाले पदार्थों को राजसिक भोजन कहा है।[164] इन सबका त्याग करना संन्यास-योगी के लिए आवश्यक है। अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट, अपवित्र भोजन तामसिक होने के कारण त्याज्य हैं।[165] अन्न के प्रभाव से मन, इन्द्रियाँ, कर्मादि प्रभावित होते हैं।[166] अतः तामसिक व राजसिक अन्न का सर्वथा त्याग करके योगी को सात्विक अन्न[167] का ही भक्षण करना चाहिए।

आहार की मात्रा के विषय में कहा गया है कि आधा पेट भोजन करे अर्थात् उदर के चार हिस्सों में से दो हिस्से भोजन, एक हिस्सा जल और एक हिस्सा वायु के लिए रखे।[168] इसी को योगीजन मिताहार कहते हैं।[169] भक्तिसागर में स्वामी चरणदास ने संन्यासी के लिए 16 ग्रास भोजन का विधान किया है।[170] इसका तात्पर्य है कि संन्यासयोगी अल्पाहार करे ताकि उसमें आलस्य, निन्द्रा, प्रमाद की अवस्था न आने पाए तथा साधना में विघ्न उपस्थित न हो।

संन्यासयोगी के लिए आज्य व एकत्रान्न के त्याग का विधान है। इसके मूल में मेदोवृद्धि न होने देना ही कारण दृष्टिगत होता है। कहा गया है कि मधुकर वृत्ति से भोजन करके दुबला-पतला होकर मेदवृद्धि न करता हुआ विहार करे।[171] हठयोग प्रदीपिका में भी कहा है कि योगी का शरीर कृश, मुख पर प्रसन्नता, नाद की ध्वनि सुनाई पड़ने वाला होना चाहिए। उसके नेत्र निर्मल हों, स्वस्थ व बिन्दुजयी हों, उनकी जठराग्नि दीप्त तथा नाड़ियाँ शुद्ध हों।[172] इसमें शरीर की स्थूलता विघ्नकारी होने के कारण त्याज्य कही है। इसी कारण यति को पाथेय साथ न रखने का आदेश दिया गया है।[173] मेद की वृद्धि होने से गुरुत्व आने के कारण चित्त विक्षेप की स्थिति आ सकती है। अतः आज्यादि पोषक तथा मेदो-वृद्धिकारक पदार्थों का त्याग करना अपेक्षित है।

संन्यासयोगी के लिए त्याज्य वस्तुएँ

यति के लिए संन्यासोपनिषद् में आज्य, एकत्रान्न, गन्धलेपन, नमक, अभ्यंग, सुन्दर वस्त्र, मित्राह्लाद, स्पृहा, परिचित स्थान, स्त्री, सुवर्ण, सभास्थल, राजधानी आदि के त्याग करने का विधान किया गया है। इन वस्तुओं को त्याज्य कहने का कारण भी संन्यासी को साधना से विरत न होने देना ही है।

आज्यादि पौष्टिक पदार्थों के सेवन से शरीर में शक्ति का संचार होता है तथा उसकी उन्मत्तता में वृद्धि होती है। दुर्दमनीय चंचल मन रूपी अश्व वश में नहीं रहता। चित्त विक्षेप होकर साधना छूट जाती है। अतः त्याज्य हैं।

अन्न का एकत्र करके रखना मोहकारक है। परिग्रह की प्राप्ति होती है। उस साधक को उस एकत्र अन्न को लाने ले जाने में असुविधा होने से एकत्र संस्थान करना पड़ेगा। चौरादि का भय भी होगा। अत: साधना में व्यवधान होने के कारण त्याज्य कहा है।

गन्धलेपन, अभ्यंग और सुन्दर वस्त्र शरीर को सुन्दर व स्वस्थ बनाने वाले हैं। इनसे भी आसक्ति बढ़ती है। अहंकार आता है। नमक शरीर की अस्थियों को क्षीण करता है। अत: इन्हें त्याज्य कहा गया है।

मित्रों के साथ हंसी-मजाक करना भी वर्जित है क्योंकि पूर्व के साथ को स्मरण करके आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। मित्रों के साथ बीते क्षणों को स्मरण करके गृहासक्ति, सम्बंधियों व परिचितों से मेल होना आदि संभव है। इसी को ध्यान में रखकर योगी को परिचित स्थान को त्याग देने का आदेश किया गया है।

स्पृहा तो संन्यासयोगी के लिए वर्जनीय प्राथमिक तत्वों में से एक है। उसकी समस्त कामनाएँ नष्ट हुए बिना वह संन्यासयोग की साधना को स्वीकार करने का पात्र ही नहीं होता।

स्त्री को सर्प समझकर साधक को उससे दूर रहना चाहिए। सर्प के डसने पर मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार नारी के संसर्ग से साधक निज लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है। अत: साधक को नारी से दूर रहने का आदेश किया गया है।

सुवर्णादि धन संन्यासी के चित्त में लोभ, मोह, मद आदि कालुष्यों को उत्पन्न करते हैं। आसक्ति जागरित करने वाला तथा लक्ष्य भ्रष्ट करने वाला धन यति को सर्वथा त्याग देना चाहिए। अन्यथा विरक्ति भाव नष्ट होने पर एषणाएँ उसे अपने पाश में जकड़ लेंगी और वह साधना से विरत हो जाएगा।

सभास्थल में जनसंग होने के कारण विविध प्रकार की अनर्गल वार्ता होगी। किसी की निन्दा और स्तुति होगी। सांसारिक राग-द्वेष से व्याप्त वातावरण साधना के लिए अनुपयोगी है। अत: सांसारिकता के निकट लाने वाली सभा में साधक कभी न जाए।

राजधानी राजा की व्यवस्था का केन्द्र है। विभिन्न गतिविधियाँ तथा व्यवस्था में संलग्न कर्मचारियों का मुख्य केन्द्र होने के कारण अशान्त और भीड़-बहुल है। साधना की दृष्टि से एकान्त स्थल उपयोगी होता है। निर्जन स्थान में साधक को रहने का विधान किया है।[174] राजा के साथ योगी को अधिक सम्पर्क में भी नहीं आना चाहिए। क्योंकि प्रचार में आने से साधना छूट जाती है। इसी कारण सूरदास को जब अकबर ने बुलवाया तो उन्होंने कह दिया "संतन को कहा सीकरी सौं काम। आवत जात पनहियां टूटत बिसरि जाय हरिनाम ॥" अत:

राजधानी को भी त्याज्य कहा है।

उपर्युक्त वस्तुओं को त्यागने के लिए इनके प्रति जुगुप्सा की भावना जाग्रत करने हेतु कहा गया है कि घृत को रुधिर, एकत्रान्न को मांसपिण्ड, गन्धलेपन को गंदगीलेपन, नमक को शूद्र, सुन्दर वस्त्र को उच्छिष्ट, अभ्यंग को स्त्री सहवास, मित्राह्लाद को मूत्र, स्पृहा को गोमांस, ज्ञात स्थान को चाण्डालवाटिका, स्त्री को सर्प, सुवर्ण को विष, सभास्थल को श्मशान भूमि तथा राजधानी को कुम्भीपाक नरक के सदृश समझ कर त्याग दे।[175] इस प्रकार इनसे संन्यासयोगी सर्वथा पृथक् रहकर साधना करे।

बन्धनकारक षट्कर्म

संन्यासयोगी के लिए निम्नलिखित छह बन्धनकारक कर्म कहे गए हैं—आसन, पात्रलोप, संचय, शिष्यसंचय, दिवास्वाप और वृथालाप।[176] इनके धारण से संन्यास की साधना में व्यवधान उत्पन्न होता है, अतः प्रयत्नपूर्वक इनसे बचना अपेक्षित है। यहाँ संक्षेप में उन पर विचार करना उचित होगा।

1. आसन

आसन को एकत्र संस्थान के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।[177] वर्षा के अतिरिक्त एक स्थान पर वास करने का निषेध किया गया है। एक स्थान पर एक रात्रि से अधिक निवास करने से वहाँ के मनुष्यों, पशु-पक्षियों तथा उस स्थान के प्रति आसक्ति हो जाती है। लोगों से सम्मान प्राप्त होने के कारण उसमें अहंकार आ सकता है। इसी कारण ग्राम में एक रात्रि तथा नगर में पाँच रात्रि तक ठहरने का विधान है।[178] अतः योगी को सदा भ्रमण करते रहना चाहिए।[179]

2. पात्रलोप

पात्रलोप का अर्थ है—यति के काम में आने वाले अलाबु, शिक्य, चमस आदि पात्रों का मोह तथा उन्हें साथ लेकर घूमना।[180] इन पात्रों से भी संन्यासी को मोह हो सकता है। संन्यासी का तो एक ही पात्र है—कर। इसीलिए उसे कर-पात्री कहा जाता है।[181]

3. संचय

संन्यासी के लिए दण्ड व कमण्डलु उपयोगी उपकरण हैं किन्तु एक दण्ड के होते हुए दूसरे दण्ड का संग्रह यह समझकर करना कि एक दण्ड के टूटने पर कालांतर में यह काम आएगा। इसी प्रकार कन्था, कौपीन आदि का संग्रह करना भी संचय

कहलाता है।[182] यह संचय भी यति को बन्धन में डालता है। जिस संचय का त्याग करके वह संन्यासाश्रम में आया था, वही संचय पुनः करना तो मूर्खता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। संन्यासी को अपरिग्रही होना चाहिए।

4. शिष्य संचय

अपनी सेवा कराने अथवा अपने यश को लोक में फैलाने के लिए शिष्यों का संग्रह करना योगी के लिए अत्यन्त बन्धनकारक है।[183] संन्यासी प्रायः यह सोचकर शिष्य संग्रह करते हैं कि हमारी विद्या और यश को चारों दिशाओं में फैलाएँगे। किन्तु कालान्तर में यह उद्देश्य तो गौण हो जाता है। शुश्रूषा ही मुख्य लक्ष्य रह जाती है। शनैः-शनैः उन सेवाभावी शिष्यों से रागवति बढ़ती चली जाती है। संन्यासयोगी जिस राग से बच कर साधना के क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ था, वही राग उसे फिर अपने पाश में जकड़ने के लिए शिष्यों के रूप में उपस्थित हो जाता है। जब पशु, पक्षी, वृक्ष तथा निर्जीव पदार्थों से मोह हो जाता है तो मनुष्य जैसे विकसित बुद्धि प्राणी से क्यों न होगा ? उसकी विद्या फैले या न फैले, यशोगान हो या न हो, उसे इन सबसे कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिए। विशेष अवस्था में कारुण्यवश शिष्य कल्याण की दृष्टि से शिष्य बनाए जा सकते हैं किन्तु ऐसे ही शिष्य जो आत्मकल्याण हेतु साधना करना चाहते हैं, बनाए जाने चाहिएँ।

5. दिवास्वाप

शास्त्रीय भाषा में विद्या को दिवा व अविद्या को रात्रि कहा जाता है।[184] जिस समय संसार जागता है, उस समय योगी सोता है तथा जिस समय संसार सोता है उस समय वह जागता है।[185] विद्या के अभ्यास में प्रमाद कहना ही उसके लिए दिवास्वाप है।[186] संसार के दिवा और रात्रि से उसे कोई प्रयोजन नहीं होता। वह तो सतत् जागरित रहकर इन्द्रियों का प्रहरी बना रहता है। क्योंकि मन को वश में करना अत्यन्त कठिन है। इन्द्रियाँ अगर विषयासक्त हो गईं तो साधक योगी की साधना निष्फल हो जाएगी। इसी कारण शास्त्रों ने उसे दिवास्वाप से बचने का निर्देश दिया है।

6. वृथालाप

वृथालाप भी संन्यासी के लिए अकर्तव्य कर्म है। तत्वविचार के अतिरिक्त किसी पर अनुग्रह करने के लिए अथवा कुछ पूछने के लिए बोलना तथा भिक्षा कार्य हेतु बोलने के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की वार्ता वृथालाप कहलाती है।[187] वृथा-लाप का परिणाम भयंकर होता है। किसी तार्किक से वृथालाप करने पर वैराग्य भाव और श्रद्धाभाव शिथिल होता है क्योंकि तर्क श्रद्धा के लिए कुठार है। ज्ञान

भक्ति हेतु श्रद्धा आवश्यक कही गई है।[188] इसलिए न तो अपने शिष्यों से, न साधारण पुरुषों से और न ही विद्वानों से वार्तालाप करना चाहिए। परिपक्व विद्वान् भी वृद्ध स्त्री और पुरुषों से वार्तालाप करके अपने विश्वास को छिन्न-भिन्न कर लेता है। स्त्रियों पर तो उसे विश्वास ही नहीं करना चाहिए क्योंकि कभी-कभी पुरानी गुदड़ी में पुराना कपड़ा छिप जाता है। उसी प्रकार सुजीर्ण विद्वान् भी सुजीर्ण स्त्रियों में आसक्त हो जाता है।

उक्त षट् बंधनकारक कर्मों को सर्वथा परित्याग करने के पश्चात् ही संन्यास-योगी अपने साधनापथ पर निश्चित होकर बढ़ सकता है।

संन्यासयोग की साधना छुरे की तीक्ष्ण धार के समान अत्यन्त दुर्गम है।[189] अतः कोई धीर पुरुष ही इस मार्ग पर अबाध गति से चल सकता है। अविद्वान् लोग तो कामनाओं के पीछे दौड़ कर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं किन्तु विद्वान् पुरुष तत्व को जान लेते हैं और मरणधर्मा अस्थिर वस्तुओं में स्थिरता और अमरता की कामना नहीं करते।[190] इस साधना में तत्वज्ञान और वैराग्य का विशेष महत्व है। अतः साधक को चाहिए कि जो वैराग्यभाव को नष्ट करने के साधन हैं, उन सबका परित्याग कर दे। यदि साधनामार्ग में किसी भी प्रकार का विघ्न उपस्थित हो तो उसे अपने वैराग्यवान गुरु से सम्पर्क करके उसके निवारण का प्रयास करना चाहिए। अन्यथा लक्ष्य-भ्रष्ट होने पर वह महापातकी होकर पापियों की गति प्राप्त करता है।[191] अतः प्रत्येक साधक को सावधानीपूर्वक इसका पालन करना कर्तव्य है।

समीक्षा

प्रस्तुत प्रकरण में संन्यासयोग के आचरणीय तत्वों पर युक्तियुक्त प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। समस्त प्रकरण में संन्यासयोगी के लिए जिन कर्तव्यों और अकर्तव्यों का विधान किया गया है, उनके मूल में सर्वत्र एक यही लक्ष्य और यही भावना व्याप्त है कि जैसे भी हो सके माया, मोह, आसक्ति व एषणाओं के जाल को काटकर फेंक दिया जाए। इसके लिए हमने जो मार्ग निर्धारित किया है, उसके मूल में तितिक्षा ही प्रमुख है। विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या परम निःश्रेयस के लिए इन्द्रियों का दमन और सांसारिक विषय सुखों का सर्वथा परित्याग एक सत्यमार्ग है या कोई दूसरा मार्ग भी लोक और शास्त्र में माना गया है?

आत्यन्तिक मोक्ष रूप सुख की प्राप्ति के लिए जागतिक विषयों से वितृष्णा होना तो परमावश्यक है किन्तु इसके लिए कौन-सा मार्ग अपनाया जाए? इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। विचारोपरान्त तीन पक्ष सम्मुख आते हैं। प्रथम

पक्ष तो यह है कि विषयों का सर्वथा परित्याग कर दिया जाए। उनका स्पर्श तक भी न करें। यह अत्यन्त कठोर चर्या है। द्वितीय पक्ष यह है कि विषय सुखों का इतना अधिक उपभोग किया जाए कि मन विरत हो जाए। तृतीय पक्ष यह है कि सांसारिक विषय सुखों का उपभोग इस कुशलता से किया जाए कि सांसारिक ऐश्वर्यों से वंचित भी न रहना पड़े और ये वासनाएँ चित्त को बन्धन में न बाँध सकें।

समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो तीनों पक्षों में कुछ-न-कुछ सत्यता और तार्किक आधार विद्यमान है। प्रथम पक्ष श्रुति-स्मृति का अभिमत मार्ग कहलाता है। इस मार्ग के मानने वालों का तर्क यह है कि विषय-सुखों का उपभोग चाहे कितना ही अधिक क्यों न किया जाए और चाहे कितने ही अपरिमित काल तक क्यों न किया जाए उनसे भोग लालसा, कभी शान्त नहीं होती।[192] यदि सारे प्राणियों की युवावस्था भी संग्रहीत करके किसी एक पुरुष को दे दी जाए और उसे इन्द्रिय सुख के भोग के लिए निर्द्वन्द्व छोड़ दिया जाए तो भी अनन्तकाल बीत जाने पर भी कभी मन यह नहीं चाहेगा कि मुझसे यह इन्द्रिय सुख छिन जाए या कभी भी मन यह अनुभव नहीं करेगा कि बस इसके पश्चात् मुझे सुख नहीं चाहिए। ऋषि कहते हैं कि 'यं उदरदरी दुरन्तपूरा' अर्थात् इन भोगवांछाओं का उदर कभी नहीं भरता। भोगों की ओर तो सब प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है किन्तु वह प्रवृत्ति परिणाम में श्रेयस्करी नहीं है। अतः निवृत्ति ही महान् कल्याणकारिणी है।[193]

कामनाएँ अग्नि की ज्वाला के समान हैं, जो त्रैलोक्य का ऐश्वर्यरूपी ईंधन खाकर भी अतृप्त ही बनी रहती हैं। स्मृतियाँ कहती कि यह कामवासना कभी भी उपभोग से शान्त नहीं होती अपितु जैसे घृत से अग्नि और अधिक समिद्ध होती है, वैसे ही सुख भोग से ये कामनाएँ और प्रचण्ड होती हैं।[194] इसलिए इनसे विरत हो जाना ही श्रेयस्कर है। यह औपनिषदिक मत है। यही इस शोध का प्रतिपाद्य है।

दूसरा पक्ष भौतिकवादियों तथा आचार्य रजनीश जैसे कुछ आधुनिक चिन्तकों का है। यही मत शैवदर्शन के कौलाचार मतानुयायियों का भी है। इनकी मान्यता यह है कि इन्द्रियों के दमन से इन्द्रियाँ कभी शान्त नहीं होती अपितु उनमें और भी विकार बढ़ते जाते हैं। जैसे अश्व की शक्ति के वेग को रोकने से अश्व के शरीर में शैथिल्यादि अनेक रोग जन्म ले लेते हैं। वैसे ही बलपूर्वक जैसे-जैसे इन इन्द्रियों का दमन किया जाता है, ये और भी अधिकाधिक कुपथ की ओर भागती हैं। 'मालिनीविजय वार्तिक' में कहा गया है कि अनादरपूर्वक विरक्ति से इन्द्रियों की वृत्तियाँ अन्दर-ही-अन्दर सड़ती रहती हैं। उनमें धीरे-धीरे अनेक कुण्ठाएँ और व्याधियाँ बढ़ती रहती हैं और एक दिन भयंकर

कर्मों के रूप में फट पड़ती हैं ।[195]

इनका विचार यह है कि संसार से भागना नहीं चाहिए और न ही सांसारिक विषय भोगों से डरना चाहिए। इन्द्रियों के विषय भोग के सामर्थ्य की भी एक सीमा होती है। दिव्यातिदिव्य आस्वाद को निरन्तर ग्रहण करते-करते एक दिन उनसे इन्द्रियों का मोह छूट जाता है। फिर इन मधुर विषयों के भीतर ही दिव्य आनन्द का अनुभव क्यों न किया जाए ? शैवों की यह मान्यता है कि मधुर विषयों का सेवन करते हुए ही शिवभाव का अनुसंधान करना अधिक उपर्युक्त होता है। ऐसा करते हुए साधक के चित्त की परीक्षा भी साथ-साथ होती रहती है। जब अत्यन्त मधुर विषय भी उसे शिवभाव के अनुसंधान में बाधक न बने, तब समझना चाहिए कि अब विषयभोगों की लालसा पूर्ण हो गई है। भक्ष्याभक्ष्य, शुद्धाशुद्ध, पाप-पुण्य और शुभाशुभादि का नियम जनता के लिए हितकर तो होता है किन्तु सम्पूर्ण जीवन को इसी चिन्ता पर न्यौछावर कर देना तथा सुलभ मधुर विषयों का भी परित्याग कर देना बुद्धिमता नहीं है।

आधुनिक विचारकों में आचार्य रजनीश ने भी इसी विचारधारा को पुष्ट किया है। उन्होंने तर्क दिया है कि जिस विषय से हम दूर भागते हैं, वह विषय और अधिक हमारे पीछे भागता है। क्या कारण है कि विश्वामित्र जैसा ऋषि तो मेनका, उर्वशी के पीछे भागता फिरता है और जनक जैसा राजा रमणीय कान्ताओं के उपभोग से विरत होकर जंगल की ओर भागना चाहता है ? इस-लिए रजनीश कहते हैं कि विषय वासनाओं का खूब जी-भरकर उपभोग करना चाहिए और तब तक उपभोग करते रहना चाहिए जब तक मन उन विषयों से घृणा न करने लग जाए। रजनीश का तर्क है कि कामिनी के अंगों में हमें इसलिए आकर्षण प्रतीत होता है क्योंकि वह वस्त्रों से उन्हें ढक कर रखती है। यदि स्त्री व पुरुष अपने प्राकृतिक नग्नवेश में रहें तो यह आकर्षण ही समाप्त हो जाएगा। आदिम जातियों में ऐसा ही देखा गया है कि वे नग्न रहते हुए भी स्वाभाविक जीवन व्यतीत करते हैं। इसी कारण रजनीश ने नग्न होकर ध्यान करने पर बल दिया ।[196]

इस मत के अनुयायियों का मत है कि 'विषस्य विषमौषधम्'। भोग से विरत होना है तो भोगों को भोगना ही पड़ेगा। कीचड़ को साफ करने के लिए कीचड़ से दूर रह कर नहीं अपितु कीचड़ में प्रविष्ट होकर ही सफाई करनी पड़ती है। शीतल जल से अग्नि बुझ तो सकती है किन्तु उसके संस्कार बने रहते हैं। स्त्रियों के अत्यधिक सहवास से ही स्त्रियों के प्रति आकर्षण को समाप्त किया जा सकता है, उनसे दूर रहकर नहीं।

इस मान्यता को अविकल रूप में स्वीकार तो नहीं किया जा सकता किन्तु इस तर्क में भी सत्यता अवश्य है। इसलिए हमारे शास्त्रों द्वारा अर्थ व काम के

पश्चात् ही मोक्ष प्राप्ति का उपदेश दिया गया है।

तीसरी मान्यता इन दोनों के समन्वय को लेकर बनी है। समन्वयवादियों का तर्क यह है कि न तो विषयसुखों का अत्यधिक प्रयोग श्रेयस्कर है और न इनका सर्वथा परित्याग ही कल्याणकारी है। इन्द्रियों का दमन तो आवश्यक है किन्तु उन पर सहसा आक्रमण नहीं करना चाहिए। उनको धीरे-धीरे विषयसुख का आस्वादन कराते हुए ही उनसे विरत करने का प्रयास करना चाहिए। यह संसार भी परमेश्वर की रचना है। इसलिए इसे परमेश्वर का दिया हुआ वरदान ही समझना चाहिए। इन विचारकों के मत में वेद का यह दृष्टिकोण निहित है कि शताधिक वर्षों तक कर्म करते हुए जीवनयापन करें किन्तु उसमें लिप्त न हों। यही मोक्ष का मार्ग है।[197]

सांसारिक शुभाशुभ कर्म जब अवश्य ही करणीय हैं तो इन्हें इस ढंग से किया जाना चाहिए कि वे कर्म मनुष्य में लिप्त न हो जाएँ। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य तो मोक्ष ही होना चाहिए किन्तु मोक्ष पर पहुँचने के जो धर्म, अर्थ, काम रूपी सोपान बताए गए हैं, उन पर चढ़कर ही वहाँ तक पहुँचना उपर्युक्त होगा। कौलाचार मतानुयायियों का यह तर्क है कि जब मनुष्य परम शिव के द्वारा बनाए हुए इस संसार के रहस्य को समझ लेता है और उसकी लीलाओं का रसास्वादन करने लगता है तो फिर उसके बनाए हुए ये विषय भोग भी योग बन जाते हैं। पाप पुण्य हो जाता है और संसार ही मोक्ष का सुख प्रदान करता है।[198]

यदि इन तीनों पक्षों की समीक्षा की जाए तो निष्कर्ष रूप में औपनिषदिक मत ही बुद्धिगम्य प्रतीत होता है। जो भोगवादी विष को औषधि स्वीकार करते हैं वे भूल जाते हैं कि प्रत्येक रोग की चिकित्सा विष से नहीं हो सकती। विष व अमृत दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। विष भी किसी की अपेक्षा से अमृत है और अमृत भी किसी की अपेक्षा से विष हो जाता है। संसार में सर्पादि प्राणियों के मल को विष कहा जाता है किन्तु जब वही विष घातक रोग की चिकित्सा में प्रयुक्त होता है तो अमृत कहलाता है। संखिया, नीला थोथा आदि विष चिकित्सा हेतु प्रयोग में लाये जाते हैं। घृत, दुग्ध, मधु आदि को अमृत कहा जाता है किन्तु ज्वरातिसार से पीड़ित व्यक्ति के लिए विषतुल्य है। तभी तो कालीदास ने कहा है कि ईश्वरेच्छा से विष अमृत और अमृत विष हो जाता है।[199] संसाररूपी रोग का निवारण संसार के उपभोग से सम्भव नहीं है। यदि ऐसा होता तो समस्त जिह्वा लोलुप, कामी और भ्रष्टाचरण से धन कमाने वाले भोगियों को वैराग्य हो जाता किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता।

जो लोग भोग और वैराग्य में समन्वय की बात करते हैं, वे भी उचित मार्ग पर नहीं चल रहे। विष तो विष ही है, चाहे उसे स्वादिष्ट खीर में मिलाकर खाया जाए। उसका प्रभाव तो अवश्यमेव होता है। सांसारिक सुखों का उपभोग

करते हुए जो लोग थोड़ा बहुत धार्मिक आचरण कर लेते हैं, उनके परिणामस्वरूप उन्हें स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति तो हो सकती है किन्तु परम निःश्रेयस रूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। उनके लिए तो संन्यास के निवृत्तिपरक कर्तव्यों का सेवन व अकर्तव्यों का परित्याग आवश्यक ही है।

संदर्भ

1. महाभाष्य प्रथम आह्निक।
2. एकाकी चिन्तयेद् ब्रह्म मनोवाक्काप कर्मभिः।
   मृत्युं च नाभिनन्देत जीवितं वा कथंचन ।।
   कालमेव प्रतीक्षेत यावदायुः समाप्यते। ना० प० 3/60
   नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
   कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं मृतको यथा। मनु—6/45
   —नारदपरिव्राजको० 3/61
3. अजिह्वःषण्डक पंगुरन्धोबधिर एव च।
   मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः। वही—3/62
4. इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जति।
   हित सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ।। वही—3/63
5. अद्यजातां यथा नारी तथा षोडशवार्षिकीम्।
   शत्वर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः ।।
   नारदपरिव्राजको 3/64
6. द्वारं किमेकं नरकस्य ? नारी। —शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी
7. भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च।
   योजनान्न परं याति सर्वथा पंगुरेव सः।। नारदपरिव्राजको०3/65
8. तिष्ठतोव्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्।
   चतुर्युगां भुवं मुक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते।।
   नारदपरिव्राजको० 3/66
9. हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं तु यत्।
   श्रुत्वापि न श्रुणोतीव बधिरः स प्रकीर्तितः ।। वही 3/67
10. सान्निध्ये विषयाणां यः समर्थो विकलेन्द्रियः।
    सुप्तवद्वर्तते नित्यंसभिक्षु र्मुग्ध उच्यते ।। नारदपरिव्राजको० 3/68

11. विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरा: ।
कुमार सम्भवम्—पंचम सर्ग
12. नटादिप्रेक्षणं द्यूतं प्रमदां सुहृदं तथा ।
भक्ष्यं भोज्यमुदक्यां च षण्न पश्येत्कदाचन । नारदपरिव्राजको० 3/69
13. रागं द्वेष मदं मायां द्रोहं मोहं परात्मसु ।
षडेतानि यतिर्नित्यं मनसापि न चिन्तयेत् । वही 3/70
14. मंचकं शुक्लवस्त्रं च स्त्रीकथा लौल्यमेव च ।
दिवास्वापं च यानं च यतीनां पातनानि षट् ।। वही 3/71
15. नारदपरिव्राजको० 2/72-76
16. यदि नियतवासार्थं कंचिन्मठं संपादयेत्तदानीं तस्मिन् ममत्वे सति तदीयहानि वृद्धयोश्चितं विक्षिप्येत ।—जीवन्मुक्तिविवेक, पृ० 158-159 (धर्म० का इति० पृ० 500 पर उद्धृत)
17. (क) एक एव चरेन्नित्यं वर्षाष्वेकत्र संवसेत् । नारदपरिव्राजको० 3/31
(ख) वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत्---वही 4/15
(ग) वर्षाष्वेकत्र तिष्ठेत स्थाने पुण्यजलावृते ।—वही 4/21
18. मुनि: कौपीनवासा: स्यान्नग्नो वा ध्यान तत्पर: ।
नारदपरिव्राजको० 4/32
19. सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ।।—वही 3/40
20. गूढ़श्चरेद्यति:—वही 3/32
21. यन्न सन्तं—वही 4/34
22. (क) एक रात्रं वसेद् ग्रामे नगरे पंचरात्रकम्—वही—4/14 ।
(ख) ग्रामैकरात्रवासिनो नगरे तीर्थेषु पंचरात्रम् । आश्रमोप०—2
23. द्वि रात्रं वा वसेद् ग्रामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा ।
रागादय: प्रसज्येरंस्तेनासौ नारकी भवेत् ।।
नारदपरिव्राजको० 4/15-16
24. पर्यटेत् सदा योगी । वही—4/19
25. एक एव चरेन्नित्यं सिद्धयर्थमसहायवान् ।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ।
मनु० 6/42 नारदपरिव्राजको० 3/53
26. एकोभिक्षुर्यथोक्त: स्याद्द्वावेव मिथुनंस्मृतम् ।
त्रयो ग्राम: समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ।। वही 3/56
27. नगरं न हि कर्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा ।
एतत्त्रयं प्रकुर्वाण: स्वधर्मा च्च्यवते यति ।। वही 3/57

28. परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि ।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति ।।
नारदपरिव्राजकोपनिषद् 3/18

29. पूजितो वन्दितश्चैव सुप्रसन्नो यथा भवेत् ।
तथा चेत्ताड्यमानस्तु तदा भवति भैक्षभुक् ।। वही—3/19

30. आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः । —छा० 7/26/2

31. तपः श्रद्धे ये ह्यु पवसन्त्यरण्ये शान्ताविद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह् यव्ययात्मा ।।
मु० 1/2/11

32. एक कालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।
भैक्षे प्रसक्तो हि यति विषयेष्वपि सज्जति ।। मनु० 6/55

33. विधूमे च प्रशान्ताग्नौ यस्तु माधुकरीं चरेत् ।
गृहे च विप्रमुख्यानां यतिः सर्वोत्तमः स्मृतः ।। नारदपरिव्राजको० 6/6

34. यस्मिन्गृहे विशेषेण लभेद् भिक्षां च वासनात् ।
तत्र नो याति यो भूयः स यतिर्नेतरः स्मृतः ।। वही—6/8

35. औषधवदशनमाचरेत्—आरुणिको—3 ।

36. कुटीचकस्यैकान्नं माधुकरं बहूदकस्य हंसपरमहंसयोः
करपात्र तुरीयातीतस्य गोमुखं अवधूतस्याजगरवृत्तिः ।
नारदपरिव्राजको० 7/3

37. परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि ।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति ।। नारदपरिव्राजको० 3/18

38. (क) पूजितो वन्दितश्चैव सुप्रसन्नो यथाभवेत् ।
तथा चेत् ताड्यमानस्तु तदा भवति भैक्षभुक् ।। वही 3/19
(ख) स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितोन शपेत्परान्—संन्यासो० 4
(ग) निन्दास्तुति व्यतिरिक्तो—परमहंसपरिव्राजको०

39. अहमेव अक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम् ।
इतिभावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्षभुक् ।।
नारदपरिव्राजकोपनिषद् 3/20

40. यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा तदा भवति भैक्षभुक् ।। वही—3/22

41. दण्डभिक्षां च यः कुर्यात्स्वधर्मे व्यसनं बिना ।
यस्तिष्ठति न वैराग्यं याति नीच यतिर्हि सः ।। नारदपरिव्राजको० 6/7

42. प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम् । वही 3/16

43. यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्व वस्तुषु ।
तदा संन्यासमिच्छेत पतितः स्याद् विपर्यये ।। वही 3/12
44. सखा मा गोपायौजः सखायोऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेति—नारदपरिव्राजको० 4/38
45. पादादिमस्तकप्रमाणमव्रणं संम सौम्यमकालपृष्ठं सलक्षणं वैणवं दण्डमेक-माचमनपूर्वकं सखा मा—वही 4/38
46. जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं मा ते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्येति ।
—वही 4/38
47. (क) परम हंसादित्रयाणां न कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमण्डलुर्न दण्डः । नारदपरिव्राजको० 5/1
(ख) न दण्ड न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसो न शीतं न चोष्णम्—परमहंसो० ।
48. यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।। गीता 4/37
49. सर्वेषामेव पापानां संङ्घाते समुपस्थिते ।
तारं द्वादशसाहस्रमभ्भसेच्छेदनं हितत् ।। संन्यासो० 2/103
50. यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम् ।
तस्य द्वादशभिर्मासः परं ब्रह्मप्रकाशते ।। संन्यासो० 2/104
51. सहस्त्रार्णमतीवात्र मन्त्र एष प्रदर्शितः ।
एवमेतां समारुढ़ो हंसयोग विचक्षणः ।। नादबिन्दू० 5
52. धनुर्गुहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्यु पासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ।।
प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।। मुण्डको० 2/2/3-4
53. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । हठ० प्र०
54. तज्जपस्तदर्थभावनम्—योगसूत्र— 1/28
55. स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसंपत्या परमात्मा प्रकाशते इति ।।
योगसूत्रव्यासभाष्य 1/28
56. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च । योगसूत्र 1/29
57. द्रष्टव्य छान्दोग्य, वृहदारण्य, नारदपरिव्राजक, नादबिन्दु, ध्यानबिन्दु, तेजो बिन्दु, अमृतनाद आदि उपनिषद् ।
58. कपिला वा धवला वा । बृहज्जावालो० 3/1
59. रघुवंशम्

60. बृहज्जाबाल—3, 4, 5, 6—ब्राह्मण
61. भस्मान्तं शरीरम्—यजु० 40/18
62. तद्भस्मधारणादेव मुक्ति र्भवति तद्भस्मधारणादेव शिवसायुज्यमवाप्नोति न स पुनरावर्तते। बृहज्जाबाल 7/2
63. श्री गौतमविवाह काले तामहल्यां दृष्ट्वा सर्वे देवा कामातुरा अभवन्। तदा नष्ट ज्ञाना दूर्वासि सं गत्वा पप्रच्छु:। स तद्दोष शमयिष्यामी त्युवाच। ततः शतरुद्रेण मन्त्रेण मंत्रित भस्म वै पुरा—वही 6/5
64. विभूतिर्भसितं भस्म क्षरं रक्षेति भस्मानो भवन्ति पंच नामानि।

—वही

65. पंचभिर्नामभिर्मृश मैश्वर्य कारणाद्भूतिः—बृहज्जाबाल-1
66. भस्म सर्वाधभक्षणात्—वही
67. भासनाद्भसितम्—वही
68. क्षारणादापदांक्षारम्—वही
69. भूतप्रेत पिशाच ब्रह्मराक्षसापस्मार भवभीतिभ्योऽभिरक्षणाद् रक्षेति।

—वही

70. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ गीता—2/69
71. रुद्रस्य नयनादुत्पन्ना रुद्राक्षा इतिलोके ख्यायन्ते।

रुद्राक्षजाबालो० बृहज्जाबालो० 6/8

72. तद्रुद्राक्षे वाग्विषये कृते दश गो प्रदानेन यत्फलमवाप्नोति तत्फलमश्नुते स एष भस्मज्योती रुद्राक्ष इति तदुद्राक्षं करेग स्पृष्ट्वा धारण मात्रेण द्विसहस्र गोप्रदान फलं भवति। तदुद्राक्षे कर्णयोर्धार्यमाणे एकादशसहस्र गोप्रदानफलं भवति एकादशरुद्रत्वं च गच्छति। तदुद्राक्षे शिरसि धार्यमाणे कोटि गोप्रदान-फलं भवति। वही
73. श्वेतास्तु ब्राह्मणा ज्ञेयाः क्षत्रिया रक्तवर्णकाः।
पीतास्तु वैश्या विज्ञेयाः कृष्णा शूद्रा उदाहृताः॥ रुद्राक्षजाबालो० 1/9
74. रुद्राक्षजाबालो० 2/1-19
75. या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणा।

बृहदा० 3/5/1, 4/4/22

76. पुत्रैषणायाः पुत्रोर्थेषणा पुत्रैषणा पुत्रेणेमं लोकं जयमिति लोकजय साधनं पुत्रं प्रतीच्छा एषणादारसंग्रह.। बृहदा० (शांकर भाष्य) 3/5/1
77. उभे ह्येते एषणे एव भवतः। —बृहदा० 3/5/1, 4/4/22
78. सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत् विषादिव। नारदपरिव्राजको० 3/40
79. आशाम्बरो ननमस्कारो न दारपुत्राभिलाषी लक्ष्यालक्ष्य निर्वर्तकः परिव्राट्

परमेश्वरो भवति—याज्ञ०—1

80. सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति। नारदपरिव्राजको० 3/18

81. स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्ष शास्त्राध्ययनं वा।
योगसूत्र—2/1 (व्यास भाष्य)

82. स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः। वही 2/44

83. देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्येचास्य वर्तन्त इति—योगसूत्र 2/44 (व्यास भाष्य)

84. तज्जपस्तदर्थभावनम् —योगसूत्र—1/28।

85. ततः प्रत्यक्चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। योगसूत्र—1/29

86. स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते॥ योगसूत्र व्यास भाष्य 1/28

87. स्वाध्यायान्मा प्रमदः। तै० उ० 1/11/1

88. वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्—संन्यासो० 2/97

89. लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥ उ० रा० च०

90. कायदण्डे त्वभोजनम्—संन्यासो० 2/97

91. विषयाः विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। गीता—2/59

92. असंशयं महाबाहो मनोर्दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ गीता 6/35

93. चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥
हठयोगप्रदीपिका—2/2

94. मानसे तु कृते दण्डे प्राणायामो विधीयते। संन्यासो० 2/97

95. प्राणायामै र्दहेद्दोषान्। मनु० 6/72

96. दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ मनु० 6/71

97. ऋ० भाष्य भूमिका—उपासना विषय।

98. सत्यार्थ प्रकाश—तृतीय समु०

99. असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति में मति।
वश्यात्मना तु यतता शक्यो वाप्तुमुपायतः॥ गीता 6/36

100. संन्यासोपनिषद—2/102

101. हृदयमर्मच्छेदो ह्येते संसार भावाः येभ्यो वीभत्समानाः अरण्ये विश्राम्यन्तिमनीषिणः। उत्तर रामचरित।

102. यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
न सुवृतं न दुर्वृतं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ।। नारदपरिव्राजको० 4/34
103. अन्धवत्कुंजवच्चैवं बधिरोन्मत मूकवत् । वही 4/22
104. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः ।। कठो० 2/2/11
105. तदानीमपि पार्श्ववर्तिनमात्मजमिवानु शोचन्तमभिवीक्षमाणो मृग एवाभिनिवेशितमना विसृज्य लोकमिम सह मृगेण कलेवरं मृतमनु न मृतजन्मानुस्मृतिरितरवन्मृग शरीरमवाप ।
श्रीमद्भागवत पुराण 5/8/27
106. तिस्त्रोमात्रा मृत्युमत्य प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ।।
प्रश्नो० 5/6
107. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।
मुण्डको० 3/2/8
108. सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यं उद्विजेत् विषादिव । मनु—2/162
नारदपरिव्राजको०—संन्यासो०
109. अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ।। मनु० 6/58
110. श्रीमद्भागवत् पुराण—5/8-9
111. तस्मादलिंगो धर्मज्ञो ब्रह्मवृत्तमनुव्रतम् ।
गूढ धर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ।। नारदपरिव्राजको० 4/35
112. संदिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रम विवर्जितः ।
अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ।। वही 4/36
113. पूर्वजन्मावलिरात्मानमुन्मत्त जडान्धवधिरस्वरूपेण दर्शयामास लोकस्य—श्रीमद्भागवत्पुराण—5/9/3
114. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्या चार्य कुलवासी तृतीयोऽऽत्यन्तमात्मानमाचार्य कुलेऽवसाद यन्सर्वं एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति । छान्दो०—2/23/1
115. योऽधिकमभिमन्येत् स स्तेनो दण्डमर्हति । भागवत—7/14/8
116. जिस देश, काल में जिस वस्तु का अभाव हो । भूखे, प्यासे, अनाथ, दुःखी, रोगी असमर्थ व्यक्ति दान के पात्र हैं ।
117. दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ।। गीता—17/20

118. यतीनां कांचनं दद्यात्ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम् ।
चौराणामभयं दद्यात्स नरो नरकं व्रजेत् ।। स० प्र० पंचम समु० में उद्धृत
119. स्नानं दानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत् । संन्यासो० द्वितीय-4
120. अयाचितं तु तद्भैक्षं भोक्तव्यं च मुमुक्षुभि । संन्यासो० 2/68
121. उपस्थानेन यत्प्रोक्तं भिक्षार्थं ब्राह्मणेन तत् ।
तात्कालिकमिति ख्यातं भोक्तव्यं यतिभिः सदा ।।
सिद्धमन्नं यथानीतं ब्राह्मणेन मठं प्रति ।
उपपन्नमिति प्राहुर्मुनयो मोक्षकांक्षिणः ।। वही 2/69-70
122. (क) चरेन्माधूकरं भैक्षं यतिर्मलेच्छ कुलादपि ।
एकान्नं न तु भुंजीत बृहस्पति समादपि । वही 2/71
(ख) मधुकरवृत्याऽऽहारमाहरन्—संन्यासो० 2/59
123. सत्यार्थ प्रकाश—पंचम समु० ।
124. यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमांगतिम् ।। कठो० 2/3/10
125. ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठे निजोपयोगिताम् ।।
नैषधीय चरितम् 2/46
126. सर्वैषणा विनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति—
नारदपरिव्राजकोपनिषद् 3/18
127. न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।
महानारा० 12
128. मनः प्रसाद सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भाव संशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ।। गीता --17/16
129. स शीतोष्ण सुख दुःख मानावमान वर्जितः । स निन्दामर्षसहिष्णु ।
परमहंसपरि०
130. उद्योगे नास्ति दारिद्रयं जपतो नास्ति पातकम् ।
मौने च कलहो नास्ति-नास्ति जागरिते भयम् ।। विदुरनीति
131. नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्—संन्यासो० 2/102
132. मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्— गीता 10/?8
133. यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यं मेव—छान्दो० 8/5/2
134. मुनिरुमत्तबालवत् —नारदपरिव्राजको० 5/23
भैक्षाशनं च मौनित्वम् —वही 5/33
सर्वत्र विचरेन्मौनी—वही 5/37
135. वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्—संन्यासो० 2/97

136. कपालविवरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।। योगशिखो० 5/40
137. संन्यस्त सर्वसंकल्पः समः शान्तमना मुनिः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा ज्ञानवान्मोक्षवान् भव ।। अन्नपूर्णो० 5/47
138. आशायातु निराशात्वमभावं यातु भावना।
अमनस्त्वं मनो यातु तवासंगेन जीवतः ।। वही 5/38
139. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्चछिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। मुण्डको० 2/2/8
140. कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहम्।
शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा।।
पवित्र स्नान शाटीं चोत्तरासंगस्त्रिदण्डकम्
अतोऽतिरिक्तं यत्किंचित्सिर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ।। संन्यासो० 3
कुण्डिको० 9-10, कठरुद्रो०-2

141. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्—कालीदास
142. भस्मजाबालोपनिषद् व बृहज्जाबालोपनिषद्।
143. स वा एष महानजआत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद।
—बृहदा० 4/4/24
144. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः—मु० 3/2/4
145. अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्योति होवाच।
छा० 6/5/4
146. यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता।
एकमस्यसाधारणं—बृहदा० 1/5/1
147. (क) आन्नद्वै प्रजाः प्रजायन्ते—तै० 2/2
(ख) आन्नद् भूतानि जायन्ते—वही
148. स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः—तै० 2/1
149. विषयाः विनिवर्तन्ते निराहारस्यदेहिनः।
रसवर्णं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।। गीता 2/59
150. युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।। गीता 6/17
151. समदोषः समाग्निश्चसमधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनो स्वस्थ इत्यभिधीयते।
152. अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविस्ठोधातु स्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मासं योऽणिष्ठस्तन्मनः ।। छा० 6/5/1

153. आप: पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां य: स्थविष्ठोधातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठ: स प्राण:—छा० 6/5/2
154. तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य य: स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवतियो मध्यम: स मज्जा योऽणिष्ठ: सावाक्—वही 6/5/3
155. असंशय महाबाहो मनोर्दुनिग्रहं चलम्—गीता 6/35
156. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध:—यो० सू० 1/12
157. तज्जपस्तदर्थभावनम्—वही 1/28
158. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्— वही 1/33
159. ईश्वरप्रणिधानाद्वा—वही 1/23
समाधिसिद्धिरीश्वरप्र णिधानात्—वही
160. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यास:—वही 1/32
161. आहारशुद्धौ सत्वशुद्धि: सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृति:
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष:—छा० 7/26/2
162. स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा च।
एते पतन्ति चत्वार: पंचमश्चाचरंस्तैरिति—छा० 5/10/9
163. घृतंश्वमूत्रसदृशं मधुस्यात्सुरया समम्।
तैलं सूकरमूत्रं स्यात्सूपं लशुन समितम्।
माषापूपादि गोमांसं क्षीरं मूत्रसमं भवेत्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन घृतादीन वर्जयेद्यति:॥
घतृसूपादि संयुक्तमन्नं नाद्यात्कदाचन॥

संन्यासो० 2/75-76

164. कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्ष विदाहिन:।
आहारा राजसस्येष्टा दु:खशोकामयप्रदा॥ गीता 17/9
165. यातयामं गतरसं पूति पर्युसितं च यत्।
उच्छिष्ट मपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ गीता 17/10
166. अन्न ही बनावे मन, मन जैसे इन्द्रियाँ हों।
इन्द्रियों से कर्म, कर्म भोग भुगवाते हैं।

अन्न ही से वीर क्लीब क्लीब वीर होते देखे।
अन्न के प्रताप योगी भोगी हो जाते हैं।

अन्न के दूषण से तामसी ले जन्म जीव।
अन्न की पवित्रता से देव खिंच आते हैं।

मृत्युलोक से हे 'ब्रह्म' मोक्ष और बन्धन का
वेद आदि मूल तत्व अन्न ही बताते हैं ।।
पं० बाबूराम ब्रह्म (पातंजल योग प्रदीप, पृ० 306)

167. सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांश विवर्जितः ।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।। हठयोग प्रदीपिका

168. (क) आहारस्य च भागौ द्वौ तृतीयमुदकस्य च ।
वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत ।। संन्यासो० 2/59

(ख) अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम् ।
उदरस्य तुरीयांशं संरक्षेट्वायुचारणे ।। हठ० प्रदीपिका

169. सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांश विवर्जितः ।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।। हठयोग प्रदीपिका

170. वानप्रस्थ कैं हो संन्यासैं ।
भोजन सोलह ग्रास गिरासैं ।। भक्तिसागर

171. मधुकरवृत्याऽऽहारमाहरन्कृशी भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन्विरेत् ।
संन्यासो० 2/59

172. वपुः कुशत्वं वदने प्रसन्नता नादः स्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता विन्दुजयोऽग्नि दीपनं नाड़ी विशुद्धि र्हठयोगलक्षणम् ।।
हठयोग प्रदीपिका 2/78

173. नैवाददीत पाथेयं यतिः किंचिदनापदि ।
पक्वमापत्सु गृह्णीयाद्यावदन्नं न लभ्यते ।। संन्यासो० 2/92

174. एकान्ते मठिका मध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ।
हठयोगप्रदीपिका—1/12

175. आज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं पललमिव गन्धलेपनमशुद्धलेपनमिव क्षारमन्त्यजमिववस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यंगस्त्रीसंगमिव मित्राह्लादकंमूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचर देशं चाण्डालवाटिकामिव स्त्रियमहिमिव सुवर्ण कालकूटमिव सभास्थलं श्मशानस्थलमिव राजधानी कुम्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रन्नं न देवतार्चनम्। प्रपंचवृत्ति परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत् ।
संन्यासो०—2/79

176. आसनं पात्रलोपश्च संचयः शिष्यसंचयः । दिवास्वापो वृथालापो यतेर्बन्धकराणि षट् ।। संन्यासो० 2/79

177. वर्षाभ्योऽन्यत्र यत्स्थानमासनं तदुदाहृतम् । वही

178. एक रात्रं वसेद् ग्रामे नगरे पंचरात्रकम् । —नारदपरिव्राजको० 4/14

179. पर्यटेत् सदा योगी।—वही 4/19

180. उक्तालाब्वादिपात्राणामेकस्यापीह संग्रहः ।

यत्तेः संव्यवहाराय पात्रलोपः स उच्यते ।। संन्यासो॰ 2/79-80

181. प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले करपात्रेणान्येन वा याचिताहारमाहरन् ।
नारदपरिव्राजको॰ 3/86

182. गृहीतस्य तु दण्डादेर्द्वितीयस्य परिग्रहः ।
कालान्तरोप भोगार्थं संचयः परिकीर्तितः ।। संन्यासो॰ 2/81-82

183. शुश्रूषालाभ पूजार्थं यशोर्थं वा परिग्रहः ।
शिष्याणां न तु कारुण्याच्छिष्यसंग्रह ईरितः ।। वही—2/82-83

184. विद्या दिवा प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते । संन्यासो॰ 2/83

185. या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। गीता 2/69

186. विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते । संन्यासो॰ 2/84

187. आध्यात्मिकीं कथां मुक्त्वा भिक्षावार्ता विना तथा ।
अनुग्रहं परिप्रश्नं वृथा जल्पोऽन्य उच्यते ।। संन्यासो॰ 2/84-85

188. श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ।। गीता—4/39

189. क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।
कठो॰ 3/14

190. अथधीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ।
कठो॰ 4/2

191. अथ खलु सोम्येदं परिव्राज्यं नैष्ठिकमात्मधर्मं योविजहाति से वीरहा भवति । स ब्रह्महाभवति । स भ्रूणहा भवति । स महापातकी भवति ।
शाट्यायनीयो॰—26

192. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो। कठो॰ 1/1/27

193. प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफलाः । मनु॰—5/56

194. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्पति ।
हविषा कृष्णवर्त्म इव भूय एवाभिवर्धते ।। मनु॰— 2/94

195. स्वं पन्थानं ह्यस्येव मनसो ये निरुन्धते ।
तेषां तत्खण्डनायोगाद् धावत्युत्पथ कोटिभिः ।।
किं स्विदेतदिति प्रायो दुःखेऽप्युत्कण्ठते मनः ।।
सुखादपि विरज्येत ज्ञानादेतदिदं त्विति ।
तथाहि गुरुरादिशयद् बहुधास्वकशासने ।।
अनादर विरक्त्यैव गलन्तीन्द्रियवृतयः ।
यावतु विनियम्यन्ते तावत्तावद्विकुर्वते ।।
मालिनी विजय वार्तिक—2/109-112

196. संभोग से समाधि—आचार्य रजनीश
197. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

यजु० 40/2

198. भोगो योगायते सम्यक् पातकं सुकृतायते ।
मोक्षायते च ससार: कुलधर्मे कुलेश्वरी ।। कुलार्णवतन्त्र ।
199. विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ।

—रघु० पंचम सर्ग ।

5

भावना-विवेचन

संन्यासयोगी न कारक होता है, न प्रवर्तक। न प्रवृति का विषय होता है, न प्रेरक। अपितु वह भावक होता है। भावना करने वाले को भावक कहा जाता है। भावना एक विश्लेषण, आत्मविवेचन, आत्मदर्शन अथवा एक स्वालोचन का नाम है। लोक में भावना होना नितान्त दुष्कर है। संन्यासयोगी को भावक होना चाहिए। यद्यपि वह क्रांतदर्शी भी होता है किन्तु धीरे-धीरे उसे बाह्य दृष्टि का त्याग करके निज-दर्शन का अभ्यास करना चाहिए। इस निजदर्शन का नाम ही भावना है। संन्यासी के लिए भावना महानुपकारिणी है।

भावना वह अमोघ अस्त्र है जो अन्तस्थल में छुपे हुए अज्ञान के सूक्ष्म अंश को भी निकाल बाहर कर देता है और अन्तःकरण में छुपी हुई दिव्य शक्तियों को जागरित करता है। यह निश्चित है कि मनुष्य जैसी भावना करता है, वह वैसा ही हो जाता है। जो कुछ करने और जैसा बनने की भावना हम प्रतिक्षण करते रहते हैं, एक दिन हम वस्तुतः वैसा ही बन जाते हैं। यदि ऐसी भावना करते हुए हम दिवंगत भी हो जाएँ तो आगामी जन्मों में उस भावना के अनुरूप बन जाएँगे। नारदपरिव्राजकोपनिषद् में कहा है कि मनुष्य जिस-जिस भाव का चिन्तन करते हुए अन्त में शरीर का त्याग करता है, वह आने वाले समय में उसी को प्राप्त होता है।[1] इसी को गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा है।[2] इसीलिए कृष्ण का स्पष्ट आदेश है कि मेरा स्मरण करते हुए युद्ध कर। जिससे मुझे अर्पित मन, बुद्धि वाला होने के कारण तू मुझे ही प्राप्त होगा।[3]

भावना क्या है ?

भावना एक चमत्कारिणी वस्तु है। यह भावना क्या है ? विभिन्न ग्रन्थों में इसका क्या अर्थ गृहीत किया गया है और संन्यासयोग के सन्दर्भ में भावना से हमारा क्या अभिप्राय है ? इन सब प्रश्नों को जान लेना यहाँ पर प्रासंगिक होगा।

1. पूर्व मीमांसा

पूर्व मीमांसा पर चिन्तन करने वाले वैदिक विद्वानों की दृष्टि में भावना ही लोकांतर गमन, स्वर्ग कामना की प्राप्ति और ऐश्वर्य भोग का साधन मानी गई है। आपदेव ने भावना का लक्षण करते हुए कहा है कि भविता का भावक के प्रति व्यापार में पवित्र कराने वाला जो एक प्रेरक तत्व है, वह भावना है।[4] इस परिभाषा के अनुसार भावना प्रेरणा का दूसरा नाम है। प्रेरणा किसी उपदेशक के द्वारा भावक के अन्तःकरण में संक्रमित होती है। आस्तिक दार्शनिक तो सबसे बड़ा भविता या उपदेष्टा ईश्वर को ही मानते हैं किन्तु मीमांसा वेद से ऊपर किसी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। इसीलिए वेद ही उपदेष्टा है। वही भावना का प्रेरक है। वेद का अध्ययन करने वाले याज्ञिक पुरुष आदि भावक हैं। उन्हीं के हृदय में वैदिक वचनों के श्रवण से प्रेरणा उत्पन्न होती है। यह भावना मंन्त्रों में दो रूपों में निगूढ़ रहती है। धातु रूप में और लकार के रूप में। 'स्वर्गकामोयजेत'—यहाँ 'यजेत' पद् में धातु और विधिलिंग लकार दोनों की प्रधानता है। यज् धातु क्रिया की बोधिका है और लिंग लकार विधि का वाचक है। इस प्रकार मीमांसा में भावना के दो भेद हो जाते हैं—शाब्दी व आर्थी भावना। धात्वंश पर चिन्तन करना शाब्दी भावना है और लिंग लकार के अंश पर चिन्तन करना आर्थी भावना है।

संन्यासयोग में भावना के इस अर्थ का चिन्तन नहीं किया गया। क्योंकि संन्यासयोग में वैदिक वचनों से प्रेरणा अवश्य ली जाती है किन्तु उसका विश्लेषण संन्यासयोगी का अन्तःकरण ही करता है। इसमें मानस व्यापार की प्रधानता है। जबकि मीमांसा में 'चोदना' लक्षण रूप वैदिक वचन का ही प्राधान्य है।

2. योगदर्शन

योगदर्शन में भी भावना पर विचार किया गया है। प्रणव जप के प्रसंग में पतंजलि कहते हैं कि प्रणव के जप के साथ-साथ प्रणव के अर्थ का भी भावन करना चाहिए।[5] यहाँ भावना का अर्थ समालोचना नहीं है अपितु प्रणव का जो यथार्थ अर्थ है, उसी को अन्त-करण में दृढ़ करने का नाम भावना है। प्रणव 'ओऽम्' का वाचक है।[6] ओऽम में अकार, उकार और मकार तीन वर्ण हैं। अकार विष्णु का

वाचक है, जो परमेश्वर का पालक रूप है। उकार महेश्वर है, जो परमात्मा का संहारक रूप है, मकार ब्रह्मा का वाचक है, जो परमेश्वर का सृष्टिकर्ता का रूप है।[7]

इस प्रकार योगदर्शन में भी भावना के रूप स्वीकार किए गए हैं—शाब्दी व आर्थी भावना। शाब्दी भावना 'तज्जपः' से ग्रहण करनी चाहिए तथा आर्थी भावना का बोध 'तदर्थभावनम्' से करना चाहिए।

संन्यासयोग में योगदर्शन की इस भावना को भी आंशिक रूप से ग्रहण किया गया है। संन्यासयोग में भी प्रणवार्थ की भावना की जाती है किन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। वहाँ तो मुख्य लक्ष्य वैराग्य का लाभ करना है। उस वैराग्यभाव को दृढ करने वाले जितने भी विचार हैं, वे सभी संन्यासयोग में भावना कहे गए हैं। योगसूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना को चित्त का प्रसन्न करने वाला तथा वैराग्य भाव को दृढ़ करने वाला कहा गया है। अर्थात् सुखी जनों से मैत्री, दुःखीजनों के प्रति दया, पुण्यात्मा को देखकर प्रसन्नता तथा पापात्मा के साथ उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न होता है।[8] इस प्रकार की भावना संन्यासयोग की पूर्वावस्था है। इस भावना से वैराग्य की संपुष्टि होती है तथा संन्यासयोग की ओर गमन की प्रेरणा प्राप्त होती है किन्तु संन्यासयोग की अवधि में मैत्री, करुणा व मुदिता भाव तो त्याज्य हैं। हाँ, सांसारिक समस्त पदार्थों के प्रति उपेक्षा भाव रखना अवश्य ही आचरणीय है। संन्यासयोगी के लिए जड़वत् आचरण का निर्देश इसी भाव को दृष्टि में रखकर किया गया है। अतः योगसूत्र की इस भावना को संन्यासयोग में ग्रहण किया गया है।

3. गीता

श्रीमद्भगवद्गीता में भावना शब्द से आस्तिक्य-बुद्धि का ग्रहण किया गया है। कृष्ण ने कर्मयोग का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि अयोगी को सुबुद्धि नहीं मिलती और न ही अयोगी को भावना अर्थात् आस्तिक्य-बुद्धि का लाभ मिलता है। भावनाहीन को शांति नहीं मिलती तथा अशांत को कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता।[9]

गीता के इस अर्थ की उपयोगिता संन्यासयोग में अत्यल्प ही है। संन्यासयोगी में आस्तिक्य-बुद्धि तो होती ही है क्योंकि वह अपने समस्त कर्मों को ईश्वर को अर्पित कर देता है। किन्तु केवल आस्तिक्य-बुद्धि से संन्यासयोग सिद्ध नहीं होता।

4. आयुर्वेदशास्त्र

आयुर्वेदशास्त्र में भावना की उपयोगिता प्रचुरता से कही गई है। वहाँ पदार्थों को निर्दुष्ट करने के लिए तथा गुणों का आधान करने के लिए अग्निकार्य द्वारा भावना करने का विधान है। इस प्रकार आयुर्वेद में भावना एक संस्कार अथवा शुद्धिकरण की प्रक्रिया है।[10] पदार्थ के दोषों को नष्ट करने के लिए भावना की जाती है। संन्यासयोग में आयुर्वेद के इस अर्थ से भी कुछ अंश गृहीत किया गया है। जिस प्रकार आयुर्वेद की भावना द्रव्यों को शुद्ध करने के लिए प्रयुक्त होती है, वैसे ही संन्यासयोग में भी साधक की मानस भावना उसके राग द्वेषादि मूलों का छलन करके उसे निर्मल बना देती है।

5. काव्यशास्त्र

काव्यशास्त्र में भावना शब्द से गुण-दोष विवेचन रूपी समालोचना का अर्थ गृहीत किया जाता है। काव्यशास्त्रियों का कथन है कि कवि केवल कविता करता है, उसकी भावना नहीं करता। अर्थात् कोई भी कवि अपनी कविता के गुण-दोषों को स्वयं ही नहीं जान सकता। जो भावक अर्थात् समालोचक होता है, वह भी केवल कविता के गुण-दोषों का विवेचन ही कर सकता है, कविता नहीं कर सकता। भोजप्रबंध में कहा गया है कि कवि और भावक दोनों होना नितांत दुष्कर है।[11] पंडितराज जगन्नाथ, आनंदवर्धन, मम्मट आदि कुछ ही विद्वान् हैं, जो उच्चकोटि के समालोचक होने के साथ-साथ कवि भी थे।

संन्यासयोग में भावना का जो अर्थ हम ग्रहण करना चाहते हैं, उसका रहस्य काव्यशास्त्र की इस भावना में ही निहित है। संन्यासयोगी के लिए बाह्य पदार्थों का गुण-दोष विवेचन अत्यन्तावश्यक है। भावना के बल पर ही वह लौकिक और दिव्य उभयविध विषयों से वैतृष्ण्य प्राप्त करता है। भावना के बल पर ही याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को धन, पति, पत्नी, पुत्रादि की निस्सारता का उपदेश किया था।[12] इस प्रकार भावना एक परिणाम-दर्शन की क्रिया है। भावना ही बताती है कि जो सांसारिक पदार्थ विषय भोग के समय अमृततुल्य लगते हैं, वही परिणाम में विषतुल्य है तथा जो गुरु, ऋषि, शास्त्रादि के वचन प्रारम्भ में विषतुल्य लगते हैं, वही परिणाम में अमृततुल्य उपकारक होते हैं।[13] इसीलिए प्रसन्नराघवम् के कवि की उक्ति सार्थक प्रतीत होती है कि परिणाम में सुख चाहने वाले सत्पुरुष परनारी की भालपट्टिका को चतुर्थी के चन्द्र की लेखा के समान नहीं देखते [14]

संन्यासयोगी के लिए भावना एक दूरदृष्टि है, जिसके द्वारा वह आगे होने वाली घटनाओं को पहले ही जान लेता है। भगवान् कृष्ण ने संजय को जो दिव्य दृष्टि प्रदान की थी, वह भावना की ही दृष्टि होनी चाहिए। कृष्ण द्वारा अर्जुन

को अपने दिव्य स्वरूप के दर्शन हेतु दी गई दिव्य दृष्टि भावना की ही दृष्टि थी। इस प्रकार भावना संन्यासयोगी के लिए अत्यन्त चमत्कारिणी, उपयोगिनी और वैतरणी चिन्तन की पद्धति है, जिसके अवलम्बन से उसकी संन्यासयोग की यात्रा निर्विघ्न पूर्ण होती है।

संन्यासयोग की अवधि में की जाने वाली भावना के तत्व और उनकी व्याख्या

संन्यासयोग की अवधि में किन-किन तत्वों की भावना करनी चाहिए ? इसका विवेचन किया जाना आवश्यक है। यह भावना प्रतिक्षण, प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक काल में अप्रमत्त होकर की जानी चाहिए। इन्द्रिय रूपी चोरों को मन में कथमपि प्रवेश न मिले, इसके लिए योगी का सदैव अप्रमत्त रहना आवश्यक है। वस्तुतः योगी जागते हुए भी सोता है और सोते हुए भी जागता है।[15] उसका एक ही लक्ष्य होता है कि उसका मन किसी भी दोष से आकृष्ट होकर अपने लक्ष्य से च्युत न हो जाए। इसके लिए निम्नलिखित भावनाओं का किया जाना आवश्यक है :

1. वैराग्य-भावना

मूल रूप से तो संन्यासी की एक ही भावना होती है—वैराग्य भावना। सभी एषणाओं से निर्मुक्त[16] रहकर सांसारिक और दिव्य दोनों प्रकार के विषयों में योगी को अत्यन्त तृष्णारहित होना चाहिए। वह यह भावना करे कि मैं जिस मार्ग पर जिस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु चल पड़ा हूँ, वह कर्मकाण्ड से प्राप्त होने वाला नहीं है। अविद्या में वर्तमान लोग ही रागवश कर्म की ओर प्रवृत होते हैं। कर्म से प्राप्त लोक तो एक दिन क्षीण हो जाते हैं। इसलिए इनसे शाश्वत् सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसी भावना संन्यासी प्रतिक्षण करे।[17]

जो लोग शाश्वत सुख की खोज में इष्टापूर्त की ओर दौड़ते हैं और यह समझते हैं कि इसके अतिरिक्त अन्य कोई श्रेय नहीं है,[18] उनकी यह भावना अत्यन्त मोह की भावना है। वे कर्मीजन इष्टापूर्त के द्वारा स्वर्गीय सुखों को तो प्राप्त कर लेंगे किन्तु अन्त में इसी मृत्युलोक में अथवा इससे भी हीनतर लोक में उन्हें अवश्य प्रवेश करना पड़ेगा। तभी तो उपनिषदों के ऋषियों ने अग्निहोत्र आदि कार्यों को अनन्त छिद्रों वाली दुर्बल नौका बताया है।[19]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि जितनी दिव्य विभूतियाँ इस संन्यासमार्ग में प्राप्त होती हैं, उतनी विभूतियाँ किसी अन्य योग द्वारा प्राप्त नहीं होतीं।

क्योंकि महापुरुषों का कथन है कि वैभव और ऐश्वर्य उसके पीछे दौड़ते हैं, जो इनसे मुख मोड़कर दूर भागता है। जो पुरुष लोभवश इनके पीछे भागता है, ये सम्पतियाँ उससे दूर भागती हैं। इसलिए जब-जब इन ऐश्वर्यों का मोहक रूप आकर छल-बल से योगी को लुभाने लगे तो वैसी ही भावना करनी चाहिए जैसी नचिकेता ने यमराज के द्वारा दिए गए ऐश्वर्यों को पाकर की थी। उसने कहा था कि हाथी, घोड़े, नृत्यांगनाएँ, गीत और वादित्र केवल कल तक ही रहेंगे और जब तक रहेंगे, प्राणों के तेज को हरते रहेंगे। सहस्रों दिव्य कल्पों की आयु भी इन भोगों के लिए पर्याप्त नहीं है।[20] किसी को भी धन तृप्त नहीं कर सकता।[21] तृष्णाएँ कभी जीर्ण नहीं होती, मनुष्य उन्हें पूर्ण करने में ही अपनी आयु नष्ट कर देता है।[22]

2. शास्त्राभ्यास में अरति

उपर्युक्त वैराग्य भावना को पुष्ट करने के लिए ही अन्य सारी भावनाएँ वर्णित की गई हैं। उनमें एक भावना यह भी है कि संन्यासयोगी स्वरूपानुसंधान के अतिरिक्त अन्य समस्त शास्त्रों के अभ्यास को भी उष्ट्र पर लदे कुंकुम भारवत् भारकारी ही समझे।[23] क्योंकि शास्त्रों का अभ्यास भी संन्यासयोगी के चित्त को लक्ष्य से च्युत कर सकता है। शास्त्रों में विविध प्रकार की बातें कही गई होती हैं। उनमें अनेक ग्रन्थियाँ और अनेक संशययुक्त विरोधी वचन होते हैं। संशयी-वचन योगी के चित्त को संशयग्रस्त करते हैं। कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है और कौन-सा अश्रेष्ठ ? 'इदमाचरितव्यम् इदंवा' ऐसी शंका मन में होने पर संन्यासी क्या करेगा ? क्योंकि उस स्थिति में किसी गुरु के पास जाना भी निषिद्ध है। दूसरी ओर ग्रन्थों को सुरक्षित रखना भी एक क्लिष्ट कार्य है। कन्था और कौपीन धारण करने वाला संन्यासी ग्रन्थों को सुरक्षित कैसे रखेगा ? इसलिए संन्यास-योगी न योगशास्त्र में प्रवृति करे, न सांख्य शास्त्र का अभ्यास करे और न मंत्र-तन्त्र का व्यापार करे।[24] इतरशास्त्रों में प्रवृति तो शव के अलंकार के समान निष्फल हैं।[25]

3. जीवन और मरण के प्रति औदासीन्य

सभी प्राणी जीवन से प्रेम करते हैं और मृत्यु से उद्विग्न रहते हैं। मृत्यु का भय आबाल-वृद्ध, अशिक्षित और विवेकी, निरक्षर और शास्त्राभ्यासी सभी को होता है।[26] अतः संन्यासयोगी को चाहिए कि न तो वह जीवन की इच्छा करे और न मरण की चिन्ता करे। वह तो केवल काल की प्रतीक्षा करे। श्वासों की डोरी को न दीर्घ करे, न असमय में उनका उच्छेद करे। केवल यह प्रतीक्षा करे कि समय आने पर लक्ष्य पर पहुँच जाए।[27]

4. बाह्याचार से अश्रद्धा

प्राय: दुर्बल चित्त संन्यासी दण्डधारण, कापायवस्त्र तथा जटाओं से संतुष्ट होकर संन्यास की इति कर्तव्यता समझ लेते हैं। संन्यासी को इन बाह्याचारों से अत्यन्त निःस्पृह रहना चाहिए। दण्डधारण, काषाए वस्त्र धारण आदि से उसे अश्रद्धा करनी चाहिए। संन्यासयोगी के लिए इनका किंचित भी उपयोग नहीं है। ये तो इसके जीवन धारण के लिए सहायक तन्त्र हैं। संन्यासयोग के लक्ष्य में इनका उपयोग नहीं है। जब शिखासूत्र और अग्निहोत्र का भी त्याग कर दिया तो फिर दण्ड कमण्डलु और काषायवस्त्र के धारण से सन्तुष्ट होकर रह जाना तो नितान्त उपहासास्पद है।[28]

5. सम्मान से उद्विग्नता

संन्यासयोगी लोक से सदा अपमान की ही कामना करे, सम्मान की नहीं। सम्मान से उसे इस प्रकार डरना चाहिए जैसे विषधर को भुजंग से भय लगता है। अपमान की कामना ऐसी करनी चाहिए जैसे प्राणी अमृत की कामना करते हैं।[29] सम्मान की भावना का त्याग करने और अपमान की आशा करने से संन्यासयोगी सदैव अभय रहता है। वह सुख से सोता है और सुख से जागता है। सुख से ही लोक में विचरण करता है। यदि हानि होगी तो वह केवल अवमन्ता की होगी, अपमानित होने वाले पुरुष की नहीं।[30] सम्मान में तो उसके क्षय का भय बना रहता है किन्तु अपमान में कोई भय नहीं होता। इसलिए संन्यासी सब प्राणियों के प्रति आत्मभावना करके किसी के प्रति न क्रोध करे, न अपमान करे, न अनृतवाणी बोले, न किसी की हिंसा करे, और न सुख की कामना करे।[31]

6. देह में अनास्था

देह यद्यपि समस्त योगसाधनाओं का प्रमुख साधन है किन्तु फिर भी संन्यासयोगी इसमें ममत्व बुद्धि न रखे। देह आत्मा का वस्त्र है। यह एक दिन जीर्ण होकर अवश्य ही नष्ट हो जाएगा। जीर्ण वस्त्र की भाँति आत्मा इसे त्यागकर नवीन देहरूपी वस्त्र धारण कर लेता है।[32] इस त्वचा मांस, रुधिर स्नायु, मज्जा, मेद, अस्थि, मूत्र, पुरीषव, पीव के शरीर को जो प्रेम करता है, वह अवश्य ही नरक से प्रेम करेगा।[33] यही मांसपुरीषादि का आयतन शरीर जरा और शोक का कारण है। इसलिए रोग के आयतन व अनित्य इस शरीर का मोह त्याग देना चाहिए।[34] नहीं तो कीड़े और मनुष्य में क्या अन्तर ?[35] यह शरीर ही समस्त अनर्थों का मूल है। इसलिए योगी सशरीरता की अपेक्षा अशरीरत्व की कामना करते हैं, जिससे प्रियाप्रिय योगी को स्पर्श नहीं करते।[36]

नारदपरिव्राजकोपनिषद् में कहा गया है कि सर्वनाश का समय आने पर

प्रयत्नपूर्वक उस देह में ममत्वबुद्धि का त्याग कर देना चाहिए।[37]

7. जगत में आत्मभावना

हमारे शास्त्रों में जगत् की व्याख्या अनेक रूपों में की गई है। कहीं उसे शून्य कहा गया है, कहीं स्वप्नवत् मिथ्या बताया गया है, कहीं उसे व्यावहारिक सत्य के रूप में प्रतिपादित किया गया है तथा कहीं पर साक्षात् परब्रह्म के रूप में दर्शाया गया है। इन सब व्याख्याओं में आपात रूप से विरोध प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। इन सब व्याख्याओं का एक ही अभिप्राय है कि संसार को जिस दृष्टि से हम देखते हैं, यह संसार वैसा नहीं है। हमारी दृष्टि मोहवश उसे वैसा समझ लेती है। उदाहरणार्थ हम कभी प्रच्छन्न शत्रु को मित्र समझ बैठते हैं और कल्याण चाहने वाले अभिन्न मित्र को शत्रु समझ बैठते हैं। अपुत्र को पुत्र, कुलटा पत्नी को सदाचारिणी, साध्वी को मिथ्याचारिणी, अविश्वस्त को विश्वस्त व विश्वस्त को अविश्वसनीय समझ बैठते हैं। यह सब हमारे मोह का विलास है। वस्तुतः इस संसार में ममत्व का त्याग करना ही इन श्रुतियों का उद्देश्य है। संसार आत्मा नहीं है, वह अनात्मा है। किन्तु यह आत्मा नहीं है,[38] यदि इसे परमेश्वर का विकसित रूप मानें। कहा भी है कि यह जगत् सनातन अश्वत्थ वृक्ष है, जिसका मूल ऊपर तक शाखाएँ नीचे हैं।[39] यह समस्त जगत् प्राणरूप ब्रह्म से निकला है और उसी में गमन करता है।[40] अतः जगत् में आत्मभावना करके 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त की पुष्टि करनी चाहिए। योगी को तभी अमृतत्व की प्राप्ति हो सकती है।[41]

8. अध्यात्म में रति

संन्यासयोगी को आत्माराम, आत्मरति, आत्मक्रीड आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। क्योंकि संन्यासयोगी के प्रेम, क्रोध, घृणा और ग्लानि का विषय कोई अन्य पदार्थ नहीं होता अपितु उसकी आत्मा ही होती है। न वह बाह्य विषयों से प्रसन्न होता है, न म्लान अपितु पाषाणवत्, जड़वत्, उन्मत्तवत्, मूकवत् व बालवत् व्यवहार करता है।[42] वह तो अपने आत्मा में रमण करता है, अपने आप में खेलता है, उसी से वार्तालाप करता है, स्वयं से ही पूछता और उत्तर देता है, अपनी सहायता स्वयं करता है। इसलिए उसे उदासीन, निरपेक्ष, निराशिष, निस्पृह, आत्मसहाय आदि कहा गया है।[43]

उपर्युक्त भावनाओं से भावित होकर संन्यासयोगी का चित्त समस्त क्लेशों से रहित हो जाता है और अमृत्व का भागी बनता है। यह भावना अहर्निश करते रहने से चित्त उसका अभ्यासी हो जाता है। फिर मूल से भी राग-द्वेष, काम, क्रोध, मद, मात्सर्य आदि बन्धनकारक दोष चित्त में प्रवेश नहीं कर सकते क्योंकि

चित्त जब खाली होता है, तभी वह बाह्य विषयों का चिन्तन करता है। किन्तु उक्त भावनाएँ जब उसे सर्वदा व्यस्त रखती है तो उसे अनिष्ट चिन्तन का अवसर ही नहीं मिल पाता।

यहाँ जिज्ञासुओं को यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि भावना भी संन्यासयोग का एक साधन है, लक्ष्य नहीं। लक्ष्य तो निःश्रेयस ही है। उपर्युक्त भावनाएँ तो बन्धनकारक अनिष्ट भावनाओं को दूर करने के लिए की जाती हैं। जैसे कि योगसूत्र में कहा गया है कि वितर्क-भावनाओं को नष्ट करने के लिए प्रतिपक्ष भावना की जाती है।[44] इसी प्रकार जिन भावनाओं का उल्लेख किया गया है, वे भी कलुषित भावनाओं को दूर करने के लिए हैं। शनैः-शनैः ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि ये भावनाओं के तत्व न्यून से न्यूनतर और न्यूनतर से न्यूनतम होकर निश्शेष हो जाएँ और एक दिन चित्त भावनाशून्य होकर परमपद में प्रतिष्ठित हो जाए।

तप, स्वाध्याय और श्रद्धा की संन्यास में उपयोगिता

संन्यासमार्ग विघ्नबहुल और क्लेशबहुल बताया गया है। बीच-बीच में विषय-वासनाओं की झंझा योगी के चित्त को चलायमान करती है, जिससे लक्ष्यभ्रष्ट होने का भय सदा बना रहता है। विषय-वासनाओं की आँधी जब-जब संन्यासी के वैराग्य दीपक को बुझाने का प्रयास करे, तब-तब उसे तप, स्वाध्याय और श्रद्धा के अंकुश से उस आँधी को रोकने का प्रयास करना चाहिए। तप, स्वाध्याय और श्रद्धा की यह शीतल वारिधारा विषयों की इस ज्वाला को तत्काल शान्त कर देगी।

1. तप

तप के बिना केवल संन्यासयोग ही नहीं, अपितु कोई भी योग सिद्ध नहीं हो सकता।[45] चित्त में अनादि काल से संचित शुभाशुभ कार्य और अविद्यादि क्लेशों की वासनाओं का जो जाल फैला हुआ है, वह तप के बिना नहीं कट सकता।[46]

आचार्य शंकर ने भी श्रुति के उद्धरणपूर्वक ब्रह्मज्ञान में तप की उपयोगिता मानी है।[47] किन्तु इसका अर्थ शरीर को सुखाने वाला अनुष्ठान कर्म नहीं है अपितु जो चित्त को प्रसन्न रखे और शरीर को अधिक पीड़ित न करे, वैसा ही तप संन्यासयोगी के लिए सेवनीय है।[48] गीता में शास्त्रविधि से रहित दम्भाहंकारयुक्त तप को वर्जित कहा है।[49]

2. स्वाध्याय

स्वाध्याय भी संन्यासयोगी के लिए महान उपयोगी है । स्वाध्याय के दो अर्थ हैं—मोक्षशास्त्रों का अध्ययन तथा प्रणव जाप ।[50] संन्यासयोग में मोक्षशास्त्रों का अध्ययन अपेक्षित नहीं है । अतः स्वाध्याय से प्रणव जप का अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। 'ओऽम्' ही उस प्रभु का वाचक है ।[51] उसी का जाप तथा अर्थ चिन्तन करना अपेक्षित है ।[52] क्योंकि यही शब्द योगी के चित्त को हल्की-हल्की चोट देकर विषयों से प्रत्याहरित करता है ।

3. श्रद्धा

श्रद्धा से हमारा अभिप्राय ईश्वर प्रणिधान से ही है । वस्तुतः श्रद्धा ही ईश्वर प्राणिधान है । ईश्वर का अर्थ है—परमगुरु और प्रणिधान का अर्थ है—सर्व कर्म समर्पण । जैसे आचार्यकुल का निवासी ब्रह्मचारी काम और अकाम से किए गए अपने समस्त कर्मों को और समस्त भिक्षावृत्ति को आचार्य के प्रति समर्पित कर अपनी श्रद्धा का प्रस्फुरण करता है, वैसे ही संन्यास-योगी को भी चाहिए कि वह परमगुरु परमेश्वर को ही अपने समस्त कर्म अर्पित कर दे। वहाँ ऐसी भावना करे कि हे परमेश्वर ! मैं जो भी सकाम अथवा निष्काम भाव से शुभाशुभ कर्म करता हूँ, उन कर्मों में मैं तुम्हारे ही द्वारा प्रयुक्त किया गया हूँ । इसलिए वे सभी कर्म तुम्हें ही समर्पित हैं ।[53] सब कर्मों को अर्पित करने वाला साधक संन्यासयोगी मुक्त होकर प्रभु को प्राप्त कर लेता है ।[54] प्रभु को समर्पित करके कर्म करने वाले को जल में कमलपत्र की भाँति सांसारिक राग द्वेषादि लिप्त नहीं होते ।[55] यही कर्मों को समर्पण बुद्धि से करना संन्यास है ।[56] आचार्य विज्ञान भिक्षु ने कूर्मपुराण को उद्धृत करते हुए इस समर्पणभाव को स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्म ब्रह्म को देता है, ब्रह्म ही देता है, ब्रह्म को ही अर्पण करता है। मैं कर्ता नहीं, ब्रह्म ही कर्ता है ।[57] यही नवधाभक्ति में आत्मनिवेदन या शरणागति अथवा पराप्रपत्ति कही जाती है। गीता में अनेक स्थलों पर श्रद्धा का महत्व प्रतिपादित किया गया है ।[58] वेद में श्रद्धासूक्त के द्वारा श्रद्धा की महिमा का वर्णन किया गया है ।[59] इस प्रकार श्रद्धा का महत्व संन्यासयोग की साधना में अपरिहार्य रूप से वर्णित किया गया है । इससे सिद्ध होता है कि श्रद्धा ही कार्य की निर्विघ्न परिसमाप्ति का साधन है ।

वाक्, मन, ज्ञानात्मा व महदात्मा का नियमन

आचार्य शंकर ने संन्यासयोग के प्रकरण में वाणी, मन, ज्ञानात्मा और महदात्मा

(बुद्ध्यात्मा) के नियमन का निर्देश किया है । कठोपनिषद में कहा गया है कि :

> यच्छेद्वांगमनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
> ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।।[60]

अर्थात् वाणी को मन में नियमित करे, मन को ज्ञानात्मा में, ज्ञानात्मा को महदात्मा में और महदात्मा को शान्तात्मा में नियमित करे ।

यहाँ पर उक्त वचन का अर्थ स्पष्ट नहीं है। कल्याणाभिनिवेशी योगी को इसका अभिप्राय विशद रूप से जान लेना चाहिए। इस श्रुति में आत्मा को वाक्, मन, ज्ञान, बुद्धि और शान्त इन पाँच रूपों में अभिव्यक्त किया गया है। विचार कर देखा जाए तो आत्मा के ये पाँचों रूप पंचकोशों के ही परिचायक हैं। वाणी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण है।[61] वाणी का अर्थ है—समस्त इन्द्रियाँ । इस श्रुति में संन्यासयोग की साधना को पाँच सोपानों में विभाजित किया गया है ।

इसका तात्पर्य है कि योगी को सर्वप्रथम अपनी ज्ञानेन्द्रियों का मन में नियमन करना चाहिए अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटाकर केवल मनोमय कोश तक केन्द्रित करे। जब इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से मन में नियन्त्रित हो जाएँ तो मन को भी स्वतन्त्र न छोड़ें अपितु उसे विज्ञानमय आत्मा में नियमित कर दें । मन अनेक संवेदनाओं का कोष है। उन्हीं संवेदनाओं को विज्ञानमय कोश कहा जाता है। उक्त श्रुति में इसी को ज्ञानात्मा कहा गया है। ज्ञानात्मा भी अपने में स्थिर नहीं है। उसे भी बुद्धिरूपी आत्मा से जोड़कर स्थिर करना पड़ेगा। सकल ज्ञानों में जो निश्चयात्मक ज्ञान है, उसे बुद्धि कहते हैं। बुद्धि को महान् भी कहते हैं। बुद्धि की इस महत्ता के दो कारण हैं—सर्वप्रथम उत्पन्न होना और स्वच्छ स्वभाव वाला होना । चूंकि बुद्धि समस्त अन्तःकरणों में सबसे पहले उत्पन्न हुई है, इसलिए वह महान् है। अहंकार, मन इत्यादि की अपेक्षा उसका स्वभाव निर्मल है, अतः उसे महान् कहा जाता है।[62] उस महानात्मा में ज्ञानात्मा का विलयन करके योगी समस्त संशयों से दूर हो जाता है। हृदयग्रन्थि का भेदन इसी अवस्था में होता है।[63] इसी अवस्था में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है। साधना की यह अवस्था भी अपूर्ण है । बुद्धि स्वतः प्रकाशवती नहीं है । आनन्दमय आत्मा के सान्निध्य से ही बुद्धि आभासवती कहलाती है। बुद्धि में आभासन क्षमता स्वतः होती तो योग की पूर्णता हो सकती थी किन्तु कठोपनिषद् के ऋषि ने बुद्धि का भी नियमन शान्तात्मा में बताया है। शान्तात्मा चैतन्य की स्वरूपावस्थिति का नाम है। यहीं पर पहुँचकर योगी कृतकृत्य होता है। संन्यासयोगी की भावना का पर्यवसान भी यहीं पर होता है। यही उसका परम लक्ष्य है।

सर्व कर्म परित्याग विषयक विभिन्न मत

संन्यास विषयक शास्त्रों के अध्ययन से यह बात तो निर्विवाद ज्ञात हो जाती है कि संन्यासयोग में कर्मों का त्याग किया जाता है किन्तु यह जिज्ञासा बनी रहती है कि क्या संन्यासयोग में शुभाशुभ अनिवार्य और स्वाभाविक, ऐच्छिक व अनैच्छिक सभी कर्मों का त्याग कर देना चाहिए या कुछ कर्म ऐसे भी हैं, जिनका आचरण किया जा सकता है ? गीता में तो यह कहा गया है कि मनुष्य कर्म के बिना एक पल भी नहीं रह सकता । वह कर्म करने के लिए विवश है ।[64] दूसरी ओर शास्त्र यह कहते हैं कि 'संन्यास: सर्वकर्मणाम्' अर्थात् समस्त कर्मों का त्याग ही संन्यास है । ऐसी स्थिति में जिज्ञासु किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते । स्वामी दयानन्द जी कहते हैं कि शुभ कर्मों का आचरण प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक आयु में और प्रत्येक आश्रम में करना चाहिए ।[65] संन्यासधर्म के प्रकरण में मनुस्मृति के उद्धरण-पूर्वक स्वामी जी कहते हैं कि संन्यासयोग में वैदिक कर्म का अनुष्ठान अवश्य ही करना चाहिए ।[66]

उपनिषदों में भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन को ब्रह्मज्ञान में अनिवार्य रूप से सेवनीय माना गया है ।[67]

'तपसा चीयते ब्रह्म:'[68] 'ब्रह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन'[69] 'तप: श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये'[70] 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञास्व'[71] आदि वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि संन्यासयोग में भी यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए । प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इनमें से किसी मत को ग्राह्य माना जाए और किसका त्याग किया जाए ?

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व विभिन्न दार्शनिकों के मत जान लेना समीचीन होगा ।

1. सुरेश्वराचार्य का मत

आचार्य सुरेश्वर का मत है कि कर्म की उपयोगिता केवल चार स्थानों पर होती है—किसी कार्य को उत्पन्न करने के लिए, किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए, किसी वस्तु की शुद्धि करने के लिए अथवा किसी वस्तु को विकृत करने के लिए । किन्तु मोक्ष न उत्पाद्य है, न प्राप्य है, न संस्कार्य है और न ही विकार्य । तो फिर मोक्ष में कर्म की उपयोगिता क्यों मानी जाए ?[72] संन्यासयोगियों का मुख्य लक्ष्य मोक्ष ही है । संन्यास शब्द से भी यही ध्वनित होता है । इसलिए संन्यासयोग में कर्म उपेक्षित नहीं है ।

2. आचार्य शंकर का मत

आचार्य शंकर मोक्ष में तो कर्म की उपयोगिता लेशमात्र भी स्वीकार नहीं करते किन्तु चित्तशुद्धि में कर्म की उपयोगिता मानते हैं। मोक्ष का साक्षात् साधन ज्ञान है। कर्म तो चित्त शुद्धि में थोड़ी सहायता करके बहुत पीछे छूट जाता है। आचार्य शंकर के मत में कर्म शब्द का अर्थ ही व्यापक है। जो कर्म बहुवित्तायास साध्य होते हैं, वे तो निश्चितरूपेण त्याज्य हैं क्योंकि उन कर्मों से सुख तो मिल सकता है, मोक्ष नहीं। ऐसे कर्म चित्तशुद्धि में भी उपयोगी नहीं हैं। चित्तशुद्धि में जो कर्म अपेक्षित हैं, वे केवल संध्या-वंदन आदि नित्यकर्म हैं जो निष्काम भावना से किए जाते हैं।[73]

3. पद्मपादाचार्य का मत

आचार्य पद्मपाद विज्ञानदीपिका में कहते हैं कि मोक्ष के लिए संन्यासयोग अपेक्षित है और संन्यासयोग के लिए कर्म का निर्हरण अर्थात् समूल नाश अपेक्षित है। कर्म का निर्हरण कर्म से ही हो सकता है। लौकिक और वैदिक दोनों कर्म ही त्याज्य हैं। इसलिए जिन कर्मों से लौकिक और वैदिक कर्मों का निर्हरण होवे, वे ही कर्म आचरणीय हैं। कर्म का निर्हरण करने वाले, कर्म मनसा अनुष्ठेय हैं, देह-व्यापार से नहीं। मानस कर्म ये हैं—योग, ध्यान, सत्संग, जप और परिणाम दर्शन।[74]

4. मीमांसा का मत

मीमांसक लौकिक और वैदिक कर्मों को स्वर्ग प्राप्ति का साधन मानते हैं। जिन कर्मों से अभ्युदय की प्राप्ति होती है और जिन कर्मों से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, ये दोनों ही कर्म भिन्न-भिन्न हैं। इन दोनों ही कर्मों को एक स्तर पर लाने के लिए मीमांसकों ने सकामता और निष्कामता की उपाधि लगा दी है। अर्थात् जब लौकिक या वैदिक कर्म फल प्राप्ति की कामना से किए जाते हैं तो इनसे स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। जिनमें पुण्यों के तारतम्य से सुख का तारतम्य होता है। किन्तु यह सुख नश्वर माना गया है। लेकिन जब ईश्वरार्पण बुद्धि से फलप्राप्ति की कामना को छोड़कर नित्य कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है तब वे कर्म निःश्रेयस के हेतु होते हैं।[75] इतना ही मीमांसा का सार है।

5. वैष्णवाचार्यों का मत

रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ आदि आचार्य नवधा भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं। इस नवधा भक्ति में सर्वत्र कर्मानुष्ठान अपेक्षित है किन्तु इसमें भी शर्त वही है जो मीमांसकों ने स्वीकार की है। अर्थात् भगवदर्पण बुद्धि से किए

गए कर्म ही मोक्षाधायक हैं। कर्मों का त्याग तो कथमपि किया ही नहीं जा सकता। जब कर्मों के विषय में मनुष्य इतना असहाय है तो फिर यह सोच कर ही कर्म क्यों न किया जाए कि ये सब कर्म ईश्वर ही करा रहा है। वैष्णव दार्शनिक गीता के उस वचन को प्रमाण मानते हैं, जिसमें कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि हे अर्जुन ! तू जो करता है, जो खाता है, जो यज्ञ करता है, जो दान करता है और जो भी तप करता है, वह सब तू मेरे अर्पित कर दे।[76]

रामानुज मतानुयायी यामुनाचार्य भी 'आलवन्दार-स्तोत्र' में कपि किशोर के दृष्टान्त से कर्मों का अनुष्ठान प्रत्येक योग में अनिवार्य रूप से आचरणीय मानते हैं। उनका मत है कि कपि किशोर का योगक्षेम उसकी माता करती तो अवश्य है किन्तु इसके लिए कपि किशोर का प्रयत्न भी अपेक्षित है। वानरी अपने शिशु को अपने साथ ही रखती है। उसे सर्वत्र अपने पेट से चिपकाए हुए छलांग लगाती रहती है किन्तु वह उसे अपने हाथों से पकड़ती नहीं है। वह दायित्व शिशु का ही है कि वह मजबूती से अपनी माता तो पकड़े रहे। इसी प्रकार यामुनाचार्य कहते हैं कि भगवान् अपने भक्त का योगक्षेम अवश्य करते हैं किन्तु यह दायित्व भक्त का ही है कि वह सर्वात्मना भगवान् की स्मृति को अपने हृदय में बसाए रखे और भगवान् के द्वारा दिए हुए लौकिक और वैदिक समस्त कर्मों का अनुष्ठान भगवदर्पण बुद्धि से करता रहे।[77]

सिद्धान्त पक्ष

इस विषय में हमारा व्यक्तिगत मत यह है कि यह तो निश्चित है कि मोक्ष ज्ञान-स्वरूप है और संन्यासयोग से ही वह प्राप्य है। यह भी सत्य है कि कर्म आत्मा का बन्धन है। उसका नाश प्रव्रज्या से ही हो सकता है किन्तु सर्व कर्म परित्याग न तो सम्भव है और न ही आचरणीय है। कर्म को किसी भी स्थिति में नहीं छोड़ा जा सकता। इसलिए बृहदारण्यक का यह कथन ही हमें सत्य प्रतीत होता है कि निष्काम कर्मों से संस्कृत महात्मा आत्मा को सरलता से जान सकते हैं। कर्म त्याज्य तो अवश्य हैं किन्तु काम्य और निषिद्ध कर्म ही वर्जनीय हैं। नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित और उपासना—इन कर्मों से बन्धन नहीं होता। अपितु ये कर्म आत्म ज्ञान की उत्पत्ति करके मोक्ष की साधना करते हैं।[78]

हमारे इस मत की पुष्टि महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांगयोग से भी होती है। अष्टांगयोग में कोई भी योगांग ऐसा नहीं जिसमें दैहिक और मानस व्यापार न होता हो। धारणा, ध्यान व समाधि को भले ही दैहिक व्यापार में परिगणित न किया जाए क्योंकि ये तो अन्तरंग साधन हैं।[79] किन्तु इनसे पूर्व के जो पाँच बहिरंग साधन हैं, उनमें कर्म की परिवर्जना नहीं की जा सकती। यम,

नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार की महत्ता धारणा, ध्यान व समाधि से कथमपि न्यून नहीं है। स्वामी दयानन्द का यह कथन समीचीन ही प्रतीत होता है कि शुभ कर्मों का अनुष्ठान संन्यासी को भी करते रहना चाहिए। आत्मोपकार की भावना को छोड़कर जब लोकोपकार की भावना से संन्यासी कर्म करेगा तो उसके लिए वह कर्म बन्धन का कारण नहीं होगा। 'न कर्म लिप्यते नरे'[80] इस आगम वचन से कर्माभ्यासियों के लिए वेद ने यह चेतावनी दी है कि ऐसा न हो कि कर्म करते-करते कर्म मनुष्य में लिप्त हो जाए ? यदि ऐसा हुआ तो कर्म साधन न होकर साध्य हो जाएगा। जबकि लौकिक और वैदिक समस्त कर्म मोक्ष के साधक हैं। कर्म से भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है।[81] इसलिए कर्म को साध्य न बनाकर साधन रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

यज्ञोपवीतादि का त्याग

संन्यासयोग को ग्रहण करते समय यज्ञोपवीत, शिखा तथा अन्य बाह्य लिंगों का त्याग अपेक्षित होता है। जहाँ अन्य बाह्याडम्बर संन्यास में त्याज्य माने गए हैं, वहीं पर शिखा और सूत्र भी अग्राह्य कहे गए हैं। नारदपरिव्राजकोपनिषद् में कहा गया है कि संन्यासयोग सबसे उत्तम योग है। इस योग में स्थित होकर बाह्य सूत्र का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि वह भी एक लिंग है।[82] लिंग धर्म का कारण नहीं होता। सूत्र का वास्तविक अर्थ है—परब्रह्म।

'सूचनात् सूत्रमित्याहुः' अर्थात् सबको धारण, पालन और संहरण करने के कारण ब्रह्म को सूत्र कहा गया है। यह सूत्र ही परमपद है। जिस प्रकार सूत्र में मणि प्रोत रहती है, वैसे ही ब्रह्म में यह समस्त संसार ओतप्रोत है। उस ब्रह्मरूपी सूत्र को जो धारण करता है, वही सच्चा संन्यासयोगी है।[83]

बाह्यसूत्र को इसलिए त्याज्य कहा गया है क्योंकि यह असावधानीवश अशुचि हो सकता है किन्तु ब्रह्मरूपी सूत्र के धारण में अशुचिता का भय नहीं है।[84]

इसी प्रकार शिखा भी त्याज्य बताई गई है क्योंकि उत्तम योग की अवस्था में अग्नि की शिखा के समान ज्ञानमयी शिखा ही वास्तविक शिखा हो जाती है। उसी ज्ञानमयी शिखा को धारण करने वाला योगी ही शिखी कहलाता है, अन्य केशधारी शिखी नहीं कहलाते।[85]

ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि जो ब्राह्मण वैदिक कर्म में अधिकृत हैं, उनके लिए ही शिखा और सूत्र धार्य कहे गए हैं क्योंकि शिखा और सूत्र अग्निहोत्र-क्रिया के अंग हैं। किन्तु जिसकी ज्ञानमयी शिखा है और ब्रह्मज्ञान उपवीत है, उसके लिए किसी अन्य शिखा-सूत्र की आवश्यकता नहीं है।[86]

शिखा और सूत्र के समान अग्निहोत्र को भी त्याज्य माना गया है। क्योंकि अग्निहोत्र देवऋण की मुक्ति के लिए माना गया है किन्तु संन्यासयोगी संन्यास-ग्रहण से पहले ही देवऋण, ऋषिगण और पितृऋण से उऋण हो चुका होता है। पुत्रोत्पादन से पितृऋण, अग्निहोत्रादि से देवऋण और गुरु-शुश्रूषा से ऋषिऋण से मुक्ति होती है। छान्दोग्योपनिषद् ने ब्रह्मज्ञानी के लिए स्पष्ट रूप से अग्निहोत्र के लिए मना कर दिया है। वहाँ कहा गया है कि उस अवस्था में किया गया अग्निहोत्र उसी प्रकार निष्फल है, जैसे कोई अंगारों को हटाकर राख में आहुति देने लगे।[87] इसलिए शिखासूत्र व अग्निहोत्र को संन्यासयोग में अनपेक्षित कहा है।

उपर्युक्त मत विवाद-रहित नहीं हैं। कुछ दार्शनिक संन्यासयोग में अग्निहोत्र को कर्तव्य कर्म मानते हैं। उनका तर्क यह है कि अग्निहोत्र एक शुभकार्य है और वह संन्यासदशा में भी करणीय हो सकता है। स्वामी दयानन्द का यही मत है।[88] शिखा और सूत्र को तो वे भी त्याज्य मानते हैं किन्तु अग्निहोत्र सर्वथा त्याज्य नहीं माना गया है। यद्यपि अग्निहोत्र का आचरण अनिवार्य नहीं है किन्तु उसके करने में दोष भी नहीं है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि यह अग्निहोत्र नित्यकर्मों से भिन्न है। हम जिस अग्निहोत्र की बात कर रहे हैं, वह घृत, सामग्री, सुगन्धित द्रव्यादि को प्रज्वलित अग्नि में मन्त्रोच्चारपूर्वक समर्पित करने का नाम है। किन्तु नित्यकर्म में संध्या-वन्दन ही अपेक्षित होते हैं। नित्यकर्मों में परिगणित यज्ञ बाह्यद्रव्यों से साध्य नहीं माना गया है। यद्यपि गृहस्थ में बाह्य-द्रव्यों से सम्पादित यज्ञ भी नित्य कर्मों के अन्तर्गत मान लिये जाते हैं किन्तु यह सर्वथा अनिवार्य नहीं है। क्योंकि द्रव्ययज्ञ नित्ययज्ञ के प्रतीक मात्र हैं। वह नित्ययज्ञ तो पिण्ड में व ब्रह्माण्ड में प्रतिक्षण हो रहा है। केवल उसकी भावना करने से ही नित्यकर्म का यज्ञ सम्पन्न हो जाता है।

समीक्षा

शिखासूत्र और अग्निहोत्र के त्याग के सन्दर्भ में हमारी समीक्षा दृष्टि यही कहती है कि संन्यास बन्धनकारक कर्मों से छूटने का ही नाम है। संन्यासयोगी कर्मों का अर्जन ही नहीं करता अपितु कर्मों का निर्हरण करता है। फिर अग्निहोत्रादि के सम्पादन से कर्मों का अर्जन क्यों किया जाए ? इसलिए अग्निहोत्र संन्यासयोग में सर्वथा वर्जित ही होना चाहिए। वैसे भी घृत सामग्री आदि द्रव्यों का संग्रह संन्यासी के लिए दुष्कर तो है ही धर्मविरुद्ध भी है। इसी प्रकार यज्ञोपवीत भी तीन ऋणों का सूचक है। पूर्वोक्त ऋणों की सूचना देने के लिए सूत्र को धारण किया जाता है। वे ऋण पहले ही पूर्ण हो चुके हैं। इसलिए अब उस सूचना का

कोई औचित्य नहीं रह जाता।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जो वीतरागी ब्रह्मचर्याश्रम से ही प्रव्रज्या ग्रहण कर लेता है, उसको तो यज्ञोपवीत धारण करना ही चाहिए क्योंकि वह अभी ऋणमुक्त नहीं हुआ है। हमारी दृष्टि में यह शंका निर्मूल है। संन्यासयोग में प्रवृति सहसा नहीं होती। अवश्यमेव उसके पीछे जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य कारण होते हैं। जिस ब्रह्मचारी की प्रवृति गृहस्थाश्रम में प्रवेश किए बिना ही संन्यासयोग में हो गई है, वह निश्चित रूप से उन ऋणों से पूर्वजन्मों में मुक्त हो चुका होगा। पितृऋण के बदले जो वह अपारज्ञान राशि का अर्जन करने वाला है, उसकी तुलना में वह ऋण कुछ भी नहीं है। शास्त्र कहते हैं कि जो दृढ़ हृदय से 'संन्यस्तं मया' इस वाक्य का तीन बार उच्चारण करता है, वह पूर्व व पश्चात के साठ-साठ कुलों का उद्धार कर देता है।[89]

शिखा का धारण उर्ध्वगमन की सूचना देने के लिए किया जाता है। संन्यास-योगी की वृत्तियाँ ब्रह्ममयी होती हैं और उसका चित्त ब्रह्मनाड़ी में निवास करता है। जिसका अन्तिम छोर शिखा के नीचे बताया गया है। शिखा बन्धन भी चित्त-वृत्तियों के बन्धन का सूचक है। शिखा बन्धन के समय यह भावना रखनी चाहिए कि मैं अपनी चित्तवृत्तियों को वाह्य विषयों से प्रत्याहरित करके केवल ब्रह्म में केन्द्रित कर रहा हूँ। संन्यासयोग में शिखा का त्याग इसलिए उचित बताया गया है क्योंकि इस समय योगी का मुख्य उद्देश्य ही वृत्तियों पर विजय पाना है। अत: शिखासूत्र व अग्निहोत्र का त्याग उचित ही प्रतीत होता है।

संन्यासयोग की दुर्गमता

संन्यासयोग के मार्ग पर आरुढ़ पुरुषों को उपनिषदों में धीर और वीर कहा गया है। दुर्बल और निकृष्ट पुरुषों के द्वारा बहुत बार चिन्तित करने पर भी यह संन्यासयोग सुविज्ञेय नहीं है। इसके अतिरिक्त मोक्ष का दूसरा साधन भी कोई नहीं है। यह योग अत्यन्त अणीयान और अतर्क्य है।[90] इस योग को केवल तर्कों के अस्त्रों से ही प्राप्त नहीं किया जा सकता।[91] संन्यासयोग की दुर्गमता का प्रति-पादन करते हुए किसी योगी ने कहा है कि यह योग कृपाण की धारा पर चलने, व्याघ्र के कानों को खींचने तथा विषधर भुजंग को धारण करने से भी अधिक दुष्कर है।[92] किन्तु जो धीर पुरुष होते हैं, वे कृपाण की धार पर भी चलते हैं, व्याघ्र के कानों को भी खींच लेते हैं और भुजंगों को भी निर्भीक होकर पकड़ लेते हैं। संन्यासयोग तो इन सबसे कठिन है। उस मार्ग पर तो कोई बिरला ही चलता है। उपनिषदों में कहा गया है कि इस योग विद्या का वक्ता अत्यन्त कुशल होना चाहिए। इसका श्रोता तो और भी दुर्लभ है और इसका बोद्धा तो नितान्त

ही प्राप्तमशक्त है ।[93] यदि किसी प्रकार निरन्तर प्रयत्न के द्वारा कोई धीर पुरुष संन्यासयोग के कुछ सोपानों को पार कर भी लेता है तो फिर स्थानी देवगण उसके मार्ग में अनेक विघ्न उपस्थित करते हैं ।[94] वे कहते हैं कि हे महाभाग ! आइए इस स्वर्ग लोक में आपका स्वागत है । यहाँ बैठिए यहाँ रमण कीजिए, यह भोग बहुत कमनीय है, यह कन्या अत्यन्त रूपवती है, इस रसायन का सेवन कीजिए जो जरा और मृत्यु का नाश कर देगा, यह आकाशचारी विमान है, यह कल्पद्रुम है, यह पवित्र मन्दाकिनी है, सिद्ध महर्षि आपके सेवक हैं, ये उत्तम गुणों से भरपूर अनुकूल अप्सराएँ हैं, आपके श्रोत्र और चक्षु दिव्य हो चुके हैं, आपका शरीर वज्र तुल्य है, अपने गुणों से ही आपने यह सब अर्जित किया है, आप इन्हें स्वीकार कीजिए ।[95]

देवों के इन मोहक वचनों को सुनकर अत्यन्त धैर्यशाली का धैर्य भी डिग जाता है । यदि संन्यासयोगी वास्तव में बुद्धिमान होगा तो उनमें संग और अभिमान नहीं करेगा । किन्तु यदि उनके कमनीय वचनों से आकृष्ट होकर अपने योग मार्ग को छोड़ बैठा तो फिर कदम-कदम पर विनिपात ही विनिपात होता रहेगा ।

यही बात परम संन्यासयोगी तुलसीदास ने भी कही है । वे कहते हैं कि ज्ञान का मार्ग कृपाण की धार है । इससे गिरते हुए देर नहीं लगती । जो इस मार्ग पर निर्विघ्न अपनी यात्रा पूर्ण कर लेता है, वही कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है ।[96]

योग के मार्ग में अनेक ऋद्धियाँ व सिद्धियाँ तृण के समान बिखरी पड़ी होती हैं, जो प्रतिक्षण योगी की बुद्धि को लुभाती हैं । वे छल करके उसके पास जाती हैं और अवसर पाकर उसके योग दीपक को बुझाने का प्रयास करती हैं । यदि संन्यासयोगी की बुद्धि तत्व-अतत्व का विवेक करना जानती है तो वह उनकी ओर देखती ही नहीं । किसी प्रकार बुद्धि उन सिद्धियों पर विजय प्राप्त कर भी ले तो सर्वदा दूसरों के सामर्थ्य से शंकित रहने वाले देवता उसके मार्ग में विघ्न उत्पन्न करना प्रारम्भ कर देते हैं ।[97]

इस प्रकार संन्यासयोग एक महान दुर्गम पथ है । इसका प्रत्येक चरण कण्टकाकीर्ण है । आहार और विहार दोनों ही दुबलों के द्वारा असेव्य है । संन्यासयोगी यद्यपि दूध, दही, चावल का त्याग करके जल, पत्र, वायु का भक्षण करता है किन्तु फिर भी उद्दाम इन्द्रियाँ तस्करों की भाँति उसके धैर्य को चलायमान करने का प्रयास करती रहती हैं । महाकवि भर्तृहरि कहते हैं कि विश्वमित्र, पराशर और जमदग्नि आदि योगी केवल वायु, जल और पत्रों का भक्षण करते थे तथापि स्त्रियों के रूप लावण्य को देखकर वे भी मोह में पड़ गए थे । यदि चावल, दही, दुग्ध, घृत आदि का सेवन करने वाला मनुष्य मोह में फँस जाए तो क्या आश्चर्य ? यदि उनका इन्द्रिय निग्रह हो जाए तो एक दिन विन्ध्य पर्वत समुद्र में तैरने

लगेगा।[98]

उपर्युक्त संन्यासयोग की दुर्गमता के प्रतिपादन का हमारा मात्र इतना ही अभिप्राय है कि जिसे हम संन्यासयोग कहते हैं, वह केवल गृह, पुत्र कलत्रादि को छोड़ने का नाम नहीं है, यह तो प्रतिक्षण अपने आन्तरिक शत्रुओं से संघर्ष करने का नाम है। विश्व विजेता भी इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं कर सके। संन्यासयोगी को तो इन्हें समूल नाश करना है। अतः संन्यासयोगी को इस मार्ग में सोच-समझकर ही आना चाहिए। वज्रतुल्य शरीर एवं दृढ़ मन बनाकर ही इस पथ पर चलने का प्रयास करना चाहिए।

भावना का समय

मन का यह स्वभाव है कि वह कभी निर्विषय नहीं रहता। उसे कुछ-न-कुछ विषय-वस्तु सोचने के लिए अवश्य ही अपेक्षित है। संन्यासयोगी के लिए भावना ही वह विषयवस्तु है, जिनमें निरत रहकर संन्यासी का मन बाह्य विषयों से असम्पृक्त रह सकता है। भावना मन रूपी अश्व के लिए एक बन्धन स्तम्भ है। इस भावना रूपी स्तम्भ से मन का बन्धन अहर्निश प्रतिक्षण होना चाहिए। वृत्तिभेद से चित्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। ये तीनों ही अवस्थाएँ मन के त्रिबन्ध कहलाते हैं। जिस प्रकार अष्टांगयोग में प्राणायाम के लिए मूल-बन्ध, उड्डीयानबन्ध और जालंधरबन्ध—इन तीनों बन्धों का अत्यन्त महत्व है क्योंकि इन बन्धनों में बँधकर प्राणाग्नि इन्द्रियों के दोषों को जलाने में समर्थ होती है। वैसे ही मन के बन्धन के लिए जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इस त्रिकाल बन्ध की आवश्यकता है। मन को स्वतंत्र घूमने का अवकाश न मिले, इसलिए संन्यासयोगी को तीनों कालों में मन के ऊपर भावना का बंधन लगाना चाहिए।

जाग्रतावस्था में जीव बहिःप्रज्ञ होता है।[99] स्वप्नावस्था में अन्तःप्रज्ञ होता है।[100] किन्तु सुषुप्तावस्था में वह प्राज्ञ होता है।[101] प्राज्ञ का अर्थ होता है कि वह प्रकृष्ट अज्ञान में निमग्न रहता है।[101] बहिःप्रज्ञ की अवस्था में चित्त का नाम विश्व होता है क्योंकि वह विषयों में व्याप्त रहता है। स्वप्नकाल में वह तेजस् कहलाता है क्योंकि बाह्य इन्द्रियों के अभाव में मन अग्निमय होकर चारों दिशाओं में गमन करता है। सुषुप्ति अवस्था में जीव को प्राज्ञ कहा जाता है।[103] मन की एक तुरीयावस्था भी होती है, जिसमें चित्त जाग्रतावस्था में भी सुषुप्ति की अवस्था जैसा अनुभव करता है, जो-जो वह देखता है, जो-जो सुनता है और जो-जो अनुभव करता है, वह सब उसके लिए अश्रुत, अदृष्ट और अज्ञात जैसा होता है। यह जीवन्मुक्ति की अवस्था है।[104]

जाग्रतावस्था नेत्रस्थ होती है, क्योंकि नेत्र ही सर्वाधिक उद्भूत इन्द्रिय है।

इसीलिए जागने और सोने का पता आँखों से चलता है। श्रोत्र, घ्राण, त्वक् और रसना—ये चारों इन्द्रिय देह के अन्दर स्थित हैं। इसलिए इनसे न जागने का पता चलता है, न सोने का। स्वप्नावस्था कण्ठ में स्थित होती है। क्योंकि स्वप्न में कण्ठ का स्वर बदला होता है। सुषुप्ति की अवस्था हृदय में स्थित होती है क्योंकि चित्त के विश्राम का स्थल हृदय ही है। तुरीयावस्था मूर्धा में निवास करती है।[105]

इन चारों ही अवस्थाओं में भावित चित्त संन्यासयोग के लिए अपेक्षित है। इसी अवस्था के लिए गीता में 'सदा तद्भावभावित:'[106] कहा गया है।

भावना की उपयोगिता

यह बात बहुश: प्रतिपादित की जा चुकी है कि संन्यासयोग की साधना में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अन्त:करण की होती है। कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियों की भूमिका नितान्त गौण है। क्षिप्त, मूढ़ व विक्षिप्त चित्त से कोई योगसाधना सम्भव नहीं है। अन्य साधना पद्धतियों में तो कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों का न्यूनाधिक योगदान हो सकता है और प्राय: होता है किन्तु संन्यासयोग का प्रासाद केवल अन्त:करण पर आधारित है क्योंकि यह प्रवृतिमार्ग नहीं है अपितु निवृतिमार्ग है। प्रवृतिमार्ग में तो शारीरिक चेष्टाएँ अनिवार्य होती हैं किन्तु निवृतिमार्ग में औदासीन्य ही प्रमुख होता है। इसलिए संन्यासयोग में भावना का ही एक सम्बल होता है। भावना संन्यासयोग में किस प्रकार उपयोगी हो सकती है, इसका किंचित निदर्शन यहाँ पर दिया जा रहा है।

1. चित्त शुद्धि

चित्त शुद्धि का प्रमुख उपाय भावना है। यद्यपि बाह्य शौच भी चित्त शुद्धि में सहायक होता है किन्तु वह परम्परया ही चित्त की शुद्धि कर सकता है। चित्त शुद्धि का साक्षात् उपाय भावना ही है। योगसूत्र में यह भावना चार स्तरों पर उपयोगिनी बताई गई है। ये चार स्तर हैं : मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा।[107] मैत्री की भावना से समस्त प्राणियों से निर्भीकता प्राप्त होती है। 'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु'[108] तथा 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे'[109] की जो कामना वेद ने की है, वह कामना मैत्री भावना से ही पूर्ण होती है। करुणा की भावना से चित्त का द्रवीभाव होता है, जिससे चिरकाल से संचित मालिन्य करुणा के द्रव से क्षालित हो जाते हैं तथा चित्त निर्मल होता है। मुदिता की भावना से अपुण्य कार्यों से विरति होती है तथा पुण्य कार्यों में गति होती है। पुण्यशाली पुरुषों को देखकर हृदय में जो सौहार्द उत्पन्न होता है, वही मुदिता कहलाती है।

उपेक्षा की भावना से प्रवृत्ति का मार्ग अवरुद्ध होता है और निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। यह उपेक्षा भावना ही संन्यासी की सबसे बड़ी पूँजी है।[110]

2. तन्मयता की प्राप्ति

आचार्य मण्डन मिश्र ने 'भावना विवेक' नामक ग्रन्थ में तथा कुमारिल भट्ट ने 'तन्त्र-वार्तिक' में भावना की महिमा का वर्णन ऊहापोह के साथ किया है। वहाँ बताया गया है कि जिस प्रकार नमक की खान में उत्पन्न होने वाला कोई भी पदार्थ लवणमय ही होता है तथा सुमेरु पर्वत पर होने वाले द्रव्य रत्नामय ही होते हैं, उसी प्रकार भावना के समुद्र में निमग्न व्यक्ति भावनामय ही हो जाता है।[111] ब्रह्म की भावना से व्यक्ति ब्रह्ममय, शृंगार की भावना से व्यक्ति शृंगारमय और सांसारिकता की भावना से पुरुष संसार ही बन जाता है। 'ब्रह्म-वित् ब्रह्मैव भवति'[112] का वास्तविक तात्पर्य ब्रह्ममय होना ही है। 'मयट्' प्रत्यय स्वरूपार्थक होने के साथ-साथ प्राचुर्यार्थक भी है।[13] इस प्रत्यय के आधार पर ब्रह्ममय का अर्थ ब्रह्म के गुणों की प्रचुरता से युक्त होना है।

संन्यासयोग में भावना के अवलम्बन से जो तत्परता की प्राप्ति होती है, उससे संन्यासी संसार में रहते हुए भी जलकमल के समान संसार से अस्पष्ट रहता है। परमात्मा के साथ सर्वात्मभाव के आचरण से वह परमेश्वरमय हो जाता है। योगिराज कृष्ण ने श्रीमद्भागवतपुराण में कहा है कि जो व्यक्ति सर्वात्मभाव रूपी भावना के द्वारा मेरी शरण में आ जाता है, वह तन्मय होकर अकुतोमय हो जाता है अर्थात् फिर उसे किसी से भय नहीं होता।[114]

3. ऐश्वर्यदर्शन की योग्यता

इन चर्मचक्षुओं से सांसारिक रूप का ग्रहण हो सकता है किन्तु परमात्मा के स्वरूप का दर्शन भावना के चक्षुओं से ही हो सकता है। इसीलिए भगवान ने अर्जुन से कहा था कि हे अर्जुन ! इन चक्षुओं से तुम मेरे आलौकिक रूप को नहीं देख सकते। इसीलिए मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ, जिससे तुम इन आँखों के बिना ही मेरे रूप को देख सकोगे।[115] यदि विचार कर देखा जाए तो यही सिद्ध होता है कि वह दिव्य दृष्टि भावना ही थी। क्योंकि इन चक्षुओं के बन्द कर लेने पर जो आन्तरचक्षु उद्घाटित हो जाता है, उसे भावना ही कह सकते हैं। यही शिव का तृतीयनेत्र भी है और यही शास्त्रलोचन है, यही अर्जुन की दिव्य दृष्टि है। जिसके पास यह दिव्य दृष्टि नहीं है, वह संन्यासयोग के मार्ग में निर्विघ्न यात्रा नहीं कर सकता।

4. असंगत्व की प्राप्ति

यह तो निश्चित ही है कि असंगत्व का नाम ही संन्यासयोग है किन्तु यह असंगता केवल भावना से उत्पन्न होती है। यह भावना विषयों की भावना से पृथक् है। बाह्य विषयों की भावना से तो संसार प्रबल होता है किन्तु संन्यासयोग में की जाने वाली भावना से अनासक्ति की प्राप्ति होती है। यद्यपि संन्यासी सांसारिक कर्मों से सर्वथा बच तो नहीं सकता क्योंकि देहयात्रा के लिए किंचिद् कर्म तो करणीय ही हैं, किन्तु अनासक्ति से किए गए कर्मों से मनुष्य संसार में लिप्त नहीं होता।[116] इसीलिए योगीराज कृष्ण ने कर्मों की अनिवार्यता को देख कर कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को श्रेष्ठ बताया है। यद्यपि निःश्रेयस की प्राप्ति दोनों से होती है—कर्मसंन्यास से भी और कर्मयोग से भी। किन्तु कर्मसंन्यास से कर्मयोग को विशेष बताया है।[117] विचार कर देखें तो कर्मसंन्यास और कर्म-योग में विशेष भेद नहीं है। कर्म संन्यास का अर्थ है कर्मों में कर्तृत्व बुद्धि का त्याग और कर्मयोग का अर्थ है समत्व बुद्धि से भगवदर्थ कर्मों का सम्पादन। अर्थात् निष्काम भाव से जो कर्म किए जाते हैं, वे कर्मयोग के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार कर्म संन्यास और कर्मयोग दोनों में अनासक्ति-भाव ही निहित है। यह अनासक्ति केवल निरन्तर चिन्तन, विचारमन्थन, दोष-दर्शन आदि की भावना से ही अधिगत हो सकती है।

5. समदर्शन

जब पुरुष निरन्तर भावना करते-करते भावनामय हो जाता है तो उसे विद्वान्-अविद्वान् सवर्ण-असवर्ण, गौ-शूकर, हस्ति-पिपीलिका आदि समस्त प्राणियों में एक ही परमात्मा के दर्शन होते हैं। विषमता उच्छिन्न हो जाती है। समरसता की प्राप्ति होती है। कृष्ण ने समदर्शन की बुद्धि में युक्त पुरुष को ही वास्तविक पण्डित कहा है।[118] जो किसी को गुणयुक्त या सदोष समझकर न किसी से द्वेष करता है, न प्रेम करता है, अपितु सबके लिए एकत्व की भावना रखता है उसे नित्य संन्यासी कहा है।[119] एकत्व का दर्शन करने वाले पुरुष को ही उपनिषदों में निर्भय कहा है।[120] इस प्रकार भावना के बल पर योगी केवल कल्याण के ही दर्शन करता है। उसके लिए न कोई अपना है, न पराया है। सभी अपने हैं और सभी पराए हैं। संन्यासयोगी को जो बाल, मूक, उन्मत्त और जड़ के समान शास्त्रों में प्रतिपादित किया है, वह जड़ता, उन्मत्तता, मूकता और बालपन केवल भावना के स्तर पर ही प्राप्त होती है।[121] प्रवृत्ति के मार्ग पर चलकर यह पारम-हंस्य की स्थिति प्राप्त नहीं होती। इसीलिए आगे की जाने वाली भावनाओं को संन्यासयोगी सदैव अपने अन्तःकरण में स्थान देवें।

समीक्षा

शास्त्रीय उद्धरणों एवं तर्कों का अवलम्ब लेकर हमने संन्यास विषयक भावना की उपयोगिता प्रतिपादित की है। अनुभूति और लौकिक व्यवहार रूप प्रमाण को दृष्टि में रखकर समीक्षा करने पर भावना उपयोगिनी सिद्ध होती है। संन्यास ही नहीं अपितु भावना तो प्रत्येक सिद्धि के लिए संजीवनी है। भावना तथा विचार में तादात्म्य होते हुए भी इसमें थोड़ा-सा अन्तर है। भावना का सम्बन्ध हृदय से है तो विचार बौद्धिक स्तर पर कार्य करता है। भावना श्रद्धा की भित्ति पर आरुढ़ है तो विचार तर्क का अवलम्ब लेकर अग्रसर होता है। विचार किसी विशेष काल तथा परिस्थिति में जन्म लेता है तो भावना सर्वदेश तथा सर्वकाल में की जाती है। इसलिए भावना विचार से उत्कृष्ट है। विचार एक नूतन उन्मेष है तो भावना उस उन्मेष का बार-बार मंथन करने का नाम है। भावना किसी तत्व को हल्की-हल्की चोट देकर मन में उसे स्थान दिलाती है तो विचार सहसा प्रज्ञा से उद्भूत होकर त्वरित आघात उत्पन्न करता है। यद्यपि भावना भी एक विचार ही है किन्तु उनमें स्तर का भेद है। यह भेद वैसा ही है जैसा बुद्धि अहंकार, चित्त और मन के मध्य है।

हमारा दैनंदिन अनुभव भी बताता है कि हम प्रतिक्षण जैसी भावना करते हैं, हमारा मन शनैः-शनैः उसी रंग में रंग जाता है। वह प्रभाव इतना चिरस्थाई होता है कि नैराश्य, उद्विग्नता, क्षोभ और विषय-वासनाओं की झंझा से भी वह विचलित नहीं होता। भावना को पुटपाक सदृश ही समझना चाहिए। जैसे किसी वस्तु में दिव्य गुणों का स्थाईत्व स्थापित करने के लिए आयुर्वेदज्ञ लोग पुटपाक प्रक्रिया में उसे संस्कारित करते हैं, वैसे ही भावना भी चित्त को पुटपाक सदृश अन्दर-ही-अन्दर पकाती रहती है तथा उसके दोषों को जला कर भस्मसात कर देती है। फिर उस चित्त पर वासनाओं का मल नहीं ठहर पाता।

यदि हम भाषा को एक तरफ रख कर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो भावना का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। भावना 'भू' धातु से उत्पन्न हुई है। बकार के विस्फोट से भकार जन्म लेता है। जैसे परमाणु के विस्फोट से ऊर्जा उत्पन्न होती है, वैसे ही बकार जब दोनों ओष्ठों से आघात से फटता है तो उससे निकलने वाली ऊर्जा ही भकार का रूप ले लेती है। इसलिए 'भ' में 'ब' की अपेक्षा अधिक ऊष्मा है। उस 'भ' में जब ऊकार की ऊष्मा और मिल जाती है तो 'भू' धातु बनती है जो अधिक स्थाई होती है।[122] जो लोग बीजाक्षरी विद्या को जानते हैं, वे इसे अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। अकार, इकार व उकार—इन तीन वर्णों में अकार का अर्थ परमेश्वर, इकार का अर्थ शक्ति तथा उकार का अर्थ ऊष्मा है। इस प्रकार 'भू' शब्द में द्विगुणित ऊष्मा निवास करती है। 'भू' का

विस्तार करने पर 'भो' तथा उसका विस्तार करने पर 'भाव' शब्द बनता है। भाव को साधन मानकर जब उसमें करणवाची 'ल्युट' प्रत्यय जुड़ता है तो 'भावन' शब्द निष्पन्न होता है। पुनः इसमें शक्तिवाचक 'टाप्' प्रत्यय लगाने पर भावना शब्द बनता है। यदि उपर्युक्त रहस्य हमारी समझ में आ जाए तो हम भावना को पुटपाक सदृश कहने का तात्पर्य जान सकेंगे।

यह भावना वास्तव में एक ऊर्जा है और चित्त उसमें पड़ा हुआ कंचन है। चूँकि संन्यास में निर्मल और उज्ज्वल चित्त ही उपयोगी होता है, इसलिए वहाँ भावना की आवश्यकता जीवन में काम आने वाले अन्य तत्वों से अधिक है। यह भावना ही चित्त को तपाकर निर्मल और उज्ज्वल बनाती है। तप भी चित्त की एक भावना है। तप की गति ऊपर की ओर होती है क्योंकि अग्नि का स्वभाव ही ऊपर को जलना है। यदि हम तप का विपर्यय कर दें तो पत् शब्द बनता है जो कि पतन का वाचक है। इसलिए भावना एक तप है तथा उसका विपर्यय पतन है।

दम भी भावना का अपर पर्याय है। जिस प्रकार अश्व की बल्गा अश्व को नियन्त्रण में रखती है और सन्मार्ग पर चलाती है, वैसे ही भावना भी इन्द्रिय रूपी अश्वों का नियमन करके उसे निवृत्तिमार्ग में प्रवर्तित करती है। इसलिए भावना भी दम है। भावना का विपर्यय दम का विपर्यय है। दम के विपर्यय से मद बनता है और यह मद भावना रहित व्यक्ति को ही होता है।

हमने इस अध्याय में सर्व कर्म परित्याग पर विचार किया है तथा निष्कर्ष रूप में यह प्रतिपादित किया है कि संन्यासयोगी को आसक्ति त्याग कर अनिवार्य नित्यकर्म ही करने चाहिएँ। समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह तथ्य भी समीचीन प्रतीत होता है कि कर्म का अर्थ चेष्टा नहीं है। अपितु कर्म का अर्थ फलासक्ति की दृष्टि से किए जाने वाले विशिष्ट कर्म ही हैं। उन कर्मों का परि-त्याग तो प्रत्येक दशा में होना ही चाहिए अन्यथा संन्यास का अर्थ ही कुछ न रह जाएगा।

इसी प्रकरण में शिखा, सूत्र और अग्निहोत्र का त्याग भी संन्यासी के लिए विहित बताया गया है। इसका वैज्ञानिक रहस्य बहुत कम लोग समझते हैं। शिखा और सूत्र विशिष्ट कर्मों के सूचक हैं। जीवन में कर्तव्य कर्मों की पल-पल स्मृति दिलाने के लिए इन्हें धारण करने का उपदेश दिया गया है किन्तु संन्यास में जब कोई विशिष्ट कर्म ही शेष नहीं रह जाता तो फिर इनका धारण अकिंचित्कर हो जाता है। इन लौकिक शिखा सूत्र के स्थान पर संन्यास में दिव्य शिखासूत्र धारणीय बन जाते हैं। 'खे आकाशे शेते इति शिखा' कहा जाता है। 'ख' नाम ब्रह्मरंध्र का है।[123] उसमें शयन करने वाली ज्ञानाग्नि ही वास्तविक योग शिखा है, वही संन्यासी के लिए धारणीय है। सूत्र भी लोक में त्रिविध कर्मों का सूचक

माना जाता है किन्तु संन्यास में यह सूत्र भी दिव्य हो जाता है। उस दिव्य सूत्र का नाम ब्रह्म है। 'सूत्रणात् सूत्रमित्याहु:' इस कथन का अर्थ यही है कि ब्रह्म चराचर निखिल ब्रह्माण्ड का सूत्रण अर्थात् अनुग्रह और निग्रह करने के कारण सूत्र कहलाता है। वही ब्रह्म संन्यासी का ध्येय है। इन दिव्य शिखा सूत्रों के धारण करने के उपरान्त बाह्य शिखा सूत्र की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसलिए इनका परित्याग उचित ही है। जब यह सब छूट जाता है तो फिर अग्निहोत्र की भी क्या आवश्यकता रह जाती है। संन्यासी तो स्वयं अग्निरूप ही है। उसकी अग्नि से तो आकाशस्थ सूर्य भी डरता है। उसकी अग्नि तो सूर्यद्वार भेदकर पार निकल जाती है। इसीलिए तो कहा गया है—'सूर्यद्वारेण तेविरजा: प्रयान्ति'। इस प्रकार इस प्रकरण में बताए गए कर्तव्य केवल श्रद्धा के स्तर पर ही समीचीन नहीं हैं अपितु श्रुति, स्मृति, अनुभूति और व्यावहारिक स्तर पर भी सर्वथा युक्तियुक्त है।

संदर्भ

1. यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
   तं तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुतिशासनम्।। नारदप्रव्रिाजको० 5/1
2. यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
   तं तमेवति कौन्तेय सदा तद्भाव भावित:।। गीता 8/6
3. तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च।
   मय्यर्पितमनो बुद्धिर्ममिवैष्यस्य संशयम्।। वही 8/7
4. भवितुर्भवनानुकूलो भावक व्यापार विशेष: भावना:।
   —मीमांसा न्यायप्रकाश, पृ० 2
5. तज्जपस्तदर्थभावनम्—योगसूत्र 1/28
6. तस्य वाचक: प्रणव:—वही—1/27
7. अकरो विष्णुरुद्दिष्ट: उकारस्तु महेश्वर: मकारस्तु स्मृतो ब्रह्मा।
   —स्फुट
8. मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्। योगसूत्र 1/33
9. नास्ति बुद्धिरयुक्तस्यन चायुक्तस्य भावना।
   न चाभावयत: शान्तिरशान्तस्य कुत: सुखम्।। गीता—2/66
10. (क) भावनं तन्मतं विज्ञैर्भावना च निगद्यते। —रसतरंगिणी 2/49

(ख) संस्कारो हि नाम गुणान्तराधानम्। —चरक संहिता 1/21/2

11. यः सम्यक् विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः।
सोऽस्मिनः भावक एव नास्त्यथभवेद् दैवान्न निर्मत्सरः।। भोजप्रबंध

12. न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो·········

जायायै कामाय······

पुत्राणां कामाय······

वित्तस्य कामाय······

ब्रह्मण कामाय······

क्षत्रस्य कामाय······

लोकानां कामाय······

देवानां कामाय······

भूतानां कामाय······

सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

बृ० 2/4/5

13. यत्तदग्रे विषमिव परिणामे अमृतोपमम्। गीता—18/37

14. उदर्क भूतिमिच्छभिः सद्भिः खलु न दृश्यते।
चतुर्थी चन्द्रलेखैव परस्त्री भालपट्टिका।। प्रसन्नराघवम्।

15. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। गीता—2/69

16. सर्वेषणा विनिर्मुक्तः।—नारदपरिव्राजको० 3/18

17. अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते।।

मु० 1/2/9

18. इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ाः वही—1/2/10

19. प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरा मृत्यं ते पुनरेवापियन्ति।

वही—1/2/7

20. श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।।—कठो० 1/1/26

21. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो—वही—1/1/27

22. तृष्णा न जीर्णाः वयमेव जीर्णाः—वै० श०—12

23. (क) स्वरूपानुसंधानव्यतिरिक्ताऽन्यशास्त्राभ्यासैरुष्ट्राकुंकुभ भारवद् व्यर्थो

—नारदपरिव्राजको० 5/1

(ख) न चाध्ययनशील स्यात्—वही 3/73

24. न योगशास्त्रप्रवृतिर्न सांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्रव्यापार: ।
नारदपरिव्राजको॰ 5/1

25. इतरशास्त्र प्रवृतिर्यतेरस्ति येच्छवालंकारवत् । वही

26. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारुढ़ोऽभिनिवेश: । योगसूत्र 2/9

27. (क) मरणं जीवितं वा न कोक्षेत कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशभृतक न्यायेन परिव्राडिति—नारदपरिव्राजको॰ 5/1

(ख) नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ।। वही 3/61

28. न दण्डधारणे न न मुण्डेनेन न वेषेण न दम्भाचारेण मुक्ति ।
नारदपरिव्राजको॰ 5/1

29. सम्मानादब्राह्मणो नित्यमुदिवजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ।। वही 3/40 मनु॰—2/162

30. सुखं ह्यवमत: शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुख चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ताविनश्यति ।। वही 3/4 मनु॰ 2/163

31. अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ।।
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाकुष्ट: कुशलंवदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृता वदेत् ।। नारदपरिव्राजको॰ 3/42-43

32. वासांसि जीर्णानि यथाविहाय नवानिगृह्णातिनरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानिसंयाति नवानि देही ।।
गीता—2/22

33. मांसासृक्पूयविण्मूत्र स्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।
देहे चेन्प्रीतिमान्मूढ़ो भविता नरकेऽपि स: ।। नारदपरिव्राजको॰ 3/48

34. अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणित लेपितम् ।
चमविनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्र पुरीषयो: ।।
जराशोसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ।। नारदपरिव्राजको॰ 3/46-47

35. त्वङ् मांसरुधिरस्नायुमज्जा मेदोस्थि संहृतौ ।
विण्मूत्रपूये रमता क्रिमीणां कियदन्तरम् ।।—वही 4/26

36. न वै सशरीरस्य सत: प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत: । छान्दोग्यो॰—8/12/1

37. सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशेऽप्युपस्थिते । नारदपरिव्राजको॰ 3/50

38. सर्वं खल्विदं ब्रह्म—छा॰ 3/14/1

39. उर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।। कठो० 6/1
40. इदं जगत् सर्वं प्राणे परस्मिन्ब्रह्मणि सत्येजति कम्पते । तत एव निःसृतं निर्गतं सत्प्रचलति नियमेन चेष्टते—कठो० 6/2 (शांकरभाष्य)
41. य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति—कठो० वही 6/2
42. श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्तवा च दृष्ट्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृदयति ग्लायति वा स विजेयो जितेन्द्रियः ।।
नारदपरिव्राजको० 3/38
43. अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निराशिवः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ।। वही 3/44
44. वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्—योगसूत्र 2/33
45. नातपस्विनो योगः सिद्धयति—योगसूत्र 2/1 (व्यासभाष्य)
46. अनादिकर्मक्लेशवासना चित्राप्रत्युपस्थित विषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत—वही
47. तपसा ब्रह्म विजिज्ञास्व इत्यादिश्रुतेः—ऐतरेयोप० शांकरभाष्य (भूमिका)
48. (क) तच्च चित्तप्रसादनमबाधमान मनेनाऽऽसेव्यमिति मन्यन्ते ।
योगसूत्र 2/1
(ख) तावन्मात्रमेव तपश्चरणीयम् न यावताधातु वैषम्यमापद्येत ।
—वही 12/1 (तत्व० वै०)
49. अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकार संयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।। गीता—17/5
50. स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा ।
योगसूत्र (व्यासभाष्य) 2/1
51. तस्य वाचकः प्रणवः—योगसूत्र—1/27
52. तज्जपस्तदर्थ भावनम्—वही 1/28
53. (क) कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ।। गीता
(ख) यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। वही—9/27
54. शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।। वही 9/28
55. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा । गीता 5/10
56. त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहमिति चिन्तनमेव संन्यासः योगसूत्र (योगवार्तिक) 2/1

57. ब्रह्मणा दीयते देयं ब्रह्मणे संप्रदीयते ।
ब्रह्मैव दीयते चेति ब्रह्मार्पणमिदं परम् ।।
नाहं कर्ता सर्वमेतत् ब्रह्मैव कुरुते तथा ।
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्वदर्शिभिः ।। योगसूत्र (योगवार्तिक) 2/1
58. (क) श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्—गीता 4/39
(ख) अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति वही—4/40
59. श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ।। ऋग्वेद 10/151/1
60. कठोपनिषद्—1/3/13
61. वागत्रोपलक्षणार्थी सर्वेषामिन्द्रियाणाम्—कठो० (शां० भा०) 1/3/13
62. प्रथमजवत्स्वच्छ स्वभावकमात्मनो विज्ञानमापादयेदित्यर्थः ।
कठो० शां० भा० 1/3/13
63. (क) भिद्यते हृदयग्रन्थिश्च छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।। मु० 2/2/8
(ख) यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद् ह्यनुशासनम् ।। कठो० 2/3/15
64. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। गीता 3/5
65. सत्यार्थ प्रकाश—पंचम समु०
66. अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैस्साधयन्तीह तत्पदम् ।। मनु० 06/75
67. आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः बृहदा०— 2/4/5
68. मुण्डको० 1/1/8
69. बृहदा० 4/4/22
70. मुण्डको० 1/2/11
71. तैतिरीयो० 3/2
72. उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम् ।
नैवं मुक्तिर्यतस्त स्मात् कर्मतस्या न साधनम् ।। नैष्कर्म्यसिद्धि 1/53
73. नित्यैश्चकर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुद्धयति ।
विशुद्धं प्रसन्नमात्मालोचनक्षमं भवति । गीता 18/10 (शां० भा०)
74. कर्मतो योगतो ध्यानात् सत्संगात् जपतोऽर्थतः ।
परिपाकावलोकाच्च कर्म निर्हरणं जगुः ।। विज्ञानदीपिका—22
75. ईश्वरार्पण बुद्धयाक्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतु ।
मीमांसा न्यायप्रकाश, पृ० 197

76. यत्करोसि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। गीता 9/27

77. उभयपरिकर्मित स्वान्तस्य ऐकान्तिकात्यन्तिक भक्तियोगलभ्य:—
आल० स्तोत्र

78. कर्मभि: संस्कृता हि विशुद्धात्मान: शक्नवन्ति आत्मानं प्रतिबन्धेन वेदितुम् एवं काम्य वर्जितम् सर्वात्मज्ञानोत्पतिद्वारेण मोक्षसाधकत्वं प्रतिपद्यते ।
—बृहदा०

79. त्रयमन्तरंगपूर्वेभ्य: योगसूत्र— 3/7

80. यजु० 40/2, ईशो० 2

81. एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति—ई० 2

82. बहि: सूत्रं त्यजेद् विद्वान् योगमुत्तममास्थित: । नारदपरिव्राजको० 3/80

83. येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्वदर्शन: ।। नारदपरिव्राजको०—3/79

84. धारणात्तस्य सूत्रस्य नोचछिष्टो नाशुचि भवेत् । वही 3/80

85. अग्नेरिव शिखा नान्य यस्व ज्ञानमयी शिखा ।
स शिखीत्युच्यते विद्वान् नेतरे केशधारणि: ।। वही 3/83

86. शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य ज्ञति ब्रह्मविदो विदुरिति ।। वही 3/85

87. सय इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाऽङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्ता-हक्तत्स्यात्—छ० 5/14/1

88. सत्यार्थ प्रकाश— पंचम समु०

89. श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसोवृणीते—कठो० 1/2/2

90. न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमान: ।
अनन्य प्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ।। कठो० 1/2/8

91. नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्ये नैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमाप: सत्यधृतिर्बतासि त्वाहृंगन्यो मूयान्नचिकेत: प्रष्टा । वही 1/2/9

92. कृपाणधारागमनात्व्याघ्रकर्णाबलम्बना त्भुजंगधारणान्न्यूनमशक्यं योग-सेवनम्—स्फुट

93. (क) आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट: ।
कठो० 2/7

(ख) आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवदवदति तथैव चान्य: ।
आश्चर्यवच्चैनमन्य: श्रृणोति श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कश्चित् ।।
गीता 2/29

94. स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्ट प्रसंगात् । योगसूत्र 3/51

95. "भो इहास्यतामिह रम्यतां कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या रसायनमिदं जरामृत्यू बाधते वैहायसमिदं ज्ञानममी कल्पद्रुमा पुण्यामन्दाकिनी सिद्धा महर्षय उत्तमा अनुकूला अप्सरसो दिव्ये श्रोत्र चक्षुषी वज्रोपमः कायः। स्वगुणैः सर्वं मिदमुपार्जितमायुष्मता प्रतिपद्यतामिदमक्षय मजरममरस्थानं देवानां प्रियम्" इति। वही (व्यासभाष्य)

96. ज्ञानपंथ कृपान कैधारा। परत खगेस होइ नहीं बारा।।
जो निर्विघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परमपद लहई।।
रामचरित० उ० का०

97. होई बुद्धि जो परम सयानी। तिन्ह सन चितवन अनहित जानी।।
जो तेहि विघ्न बुद्धि नहीं बांधी। तो बहोरि सुरकरहि उपाधि।। वही

98. विश्वामित्र पराशरप्रभृतयो र्वाताम्बु पर्णाशनाः।
तेऽपि स्त्री मुख पंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहंगताः।।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतंभुंजन्ति ये मानवाः।
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेत्सागरे।।
शृंगारशतक—65

99. जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञ—माण्डूक्यो० 3

100. स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः—माण्डूक्यो—4

101. सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः —वही—5

102. मांडू०—5

103. मांण्डू० 9-11

104. अमात्रश्चतुर्थो व्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ् कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद—माण्डू—12

105. नेत्रस्थं जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समाविशत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्।। नारदपरिव्राजको० 5/1

106. श्रीमद्भगवद्गीता—8/6

107. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् —योगसूत्र 1/33

108. अथर्व०—19/15/6

109. यजु० 36/18

110. तत्र सर्वप्राणिषु सुख संभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्। दुखितेषु करुणाम्। पुण्यात्मकेषु मुदिताम्। अपुण्य शीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतःशुक्लोधर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति। प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते।।
योगसूत्र (व्यासभाष्य)—1/33

111. यथारुमायां लवणाकरेषु मेरोयथावोज्ज्वल रत्न भूमौ ।
यज्जायते तन्मयमेव तत्स्यात् तथा भवेत वेदविदात्मतुष्टिः ।।
तन्त्रवार्तिक, पृ० 207

112. छांदोग्योपनिषद—

113. 'प्रचुरार्थे मयड्'— अष्टाध्यायी ।

114. मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्यादकुतो भयः ।। भागवत 11/13/15

115. न तु मां शक्यसे दुष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षु पश्य मे योगमैश्वर्यम् ।। गीता 11/8

116. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।। गीता—3/19

117. संन्यास कर्मयोगश्य निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते । वही—5/2

118. विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। गीता 5/18

119. ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी सो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।। वही 5/3

120. तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत् । इशो०—7

121. अव्यक्तलिंगो व्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्तबालवत् ।
कविर्मूकवदात्मानं स दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ।
श्रीमद्भागवतपुराण 7/13/10

122. 'भू सत्तायाम्'—अष्टाध्यायी

123. स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान । मनु० 2/82

6

संन्यासयोगी—भेद-विवेचन

संन्यास एवं संन्यासयोगियों के भेद

अब प्रसंग प्राप्त संन्यास व संन्यासयोगियों के भेद की विवेचना की जाती है। भेद-विवेचन से पूर्व हमारा यह विशेष मंतव्य अवश्य ही ध्यातव्य है कि प्रस्तुत प्रबन्ध केवल संन्यास और संन्यासियों की व्याख्या नहीं करता अपितु संन्यास को संन्यास-योग की उपाधि से विभूषित करके उसकी अनन्य लोकोत्तर योग्यता को प्रतिष्ठित करता है। भगवान् कृष्ण ने स्वयं गीता में कहा है कि लोक में जिसे संन्यास कहा जाता है, वस्तुतः वह योग है। योग अर्थात् संकल्पों का त्याग, त्रिविध एषणाओं का त्याग और निखिल योगैश्वर्यों से वितृष्णा का आत्यन्तिक मोक्ष। कोई भी योगी उक्त संकल्पों का त्याग किए बिना योगी नहीं कहला सकता।[1] इसलिए जहाँ-जहाँ हम संन्यास की बात करते हैं, वहाँ-वहाँ उससे संन्यासयोग का ही ग्रहण करना चाहिए। सम्पूर्ण संन्यास संन्यासयोग नहीं है। संन्यास में जितना योग का अंश है, उसकी व्याख्या करना ही हमारा लक्ष्य है। नीचे हम जिस संन्यास का भेद, उनका प्रकार और उनका स्वरूप प्रतिपादित करने जा रहे हैं, उसमें संन्यासयोग का ही भेद-व्याख्यान समझना चाहिए।

यहाँ पर इस कथन की आवश्यकता इसलिए हुई क्योंकि संन्यासियों के भेदों में कुछ ऐसे संन्यासियों का भी वर्णन किया जाएगा जो केवल संन्यास में ही परि-गणित होते हैं, संन्यासयोगियों में नहीं। प्रायः लोक में गृह-पुत्र-कलत्रादि का त्याग करना ही संन्यास कहा जाता है। वस्तुतः वह है भी संन्यास ही। किन्तु संन्यास-

योग में तो धर्माधर्म, सत्यावृत आदि सभी का त्याग किया जाता है । जिस दृढ़ भावना से इन सबका त्याग किया जाता है, अन्ततः उसे भी छोड़ना पड़ता है ।[2]

भेद का आधार

वस्तुतः संन्यास तो एक ही है। उसका भेद सम्भव नहीं है । किन्तु साधकों के गुण-दोष, अज्ञान, अशक्ति और कर्मलोप की दृष्टि में रखकर संन्यास के भेद कल्पित कर लिये गए हैं ।[3] संन्यास का जो स्वरूप है, उसका भेद अथवा वर्गीकरण नहीं किया जा सकता । जैसे अग्नि स्वरूपतः एक है किन्तु आश्रय-भेद, गृहीत-भेद व काल-भेद से अनेक रूप वाली हो जाती है ।[4] वैसे ही साधकों के गुण-दोष, उनके व्यवहार, उनके क्रियाकलाप और सामर्थ्य के तारतम्य को देखकर ऋषियों ने संन्यास के भेद कर डाले हैं। इन भेदों के प्रतिपादन करने में ऋषियों का अपना कोई स्वार्थ नहीं था, अपितु साधकों का उत्साहवर्धन करने के लिए ही ये भेद किए गए हैं। यदि कोई साधक परमहंस बनना चाहता है, किन्तु उसके कर्म साधारण योगी के भी नहीं हैं तो समालोचक ऋषि उसे साधारण कोटि का संन्यासी कहेगा । इस प्रकार उसको साधारण योगी कहकर उसे दोष बतलाना ही ऋषि का उद्देश्य नहीं है अपितु उसका उद्देश्य यह है कि उसे परमहंस बनने के लिए और अधिक कठोर साधना करनी चाहिए । तभी तो कहा गया है कि संन्यासयोगी अपमान को अमृत की तरह स्नेह करे ।[5]

चतुर्विध संन्यासी

संन्यासधारण के समय चित्त में जो मौलिक प्रेरणा अथवा जो लक्ष्य निहित होता है, उसको ध्यान में रखकर संन्यासियों के मुख्य रूप से चार भेद किए गए हैं—वैराग्य संन्यासी, ज्ञान संन्यासी, कर्म संन्यासी तथा ज्ञान वैराग्य संन्यासी ।[6] संन्यासयोग का मुख्य लक्ष्य निःश्रेयस की प्राप्ति है । किन्तु प्रारम्भ में समस्त संन्यासियों का यह लक्ष्य नहीं होता । वह तो जैसे-जैसे वैराग्यभाव और उत्थान की योग्यता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उसकी चित्तवृत्ति निःश्रेयस की अभिलाषा में ही जाकर विश्राम लेती है । ऐसा हम इसलिए कह रहे हैं क्योंकि उक्त चारों प्रकार के संन्यासियों के संन्यासधारण के मौलिक प्रेरणा स्रोत भिन्न-भिन्न हैं :

1. वैराग्य संन्यासी

जब साधक दुष्ट काम वासना के अभाव में पूर्व जन्म के विशिष्ट पुण्यकर्मों के

कारण लौकिक और वैदिक दोनों ही विषयों से वैतृष्ण्य (घृणा या निर्वेद) प्राप्त करता है तथा संन्यासधारण कर लेता है। वह साधक वैराग्य सन्यासी होता है।[7]

वैराग्य संन्यासी में वासनाएँ उत्पन्न ही नहीं होतीं। उत्पन्न होती हैं तो इतनी दुर्बल होती हैं कि उन्हें प्ररोह का अवसर ही नहीं मिल पाता। इस कारण उनकी प्रवृत्ति स्वभाव से ही विषय वैतृष्ण्य की ओर अग्रसर होती है। वैराग्य संन्यासी ने इस जीवन में संन्यासधारण के लिए कोई प्रयास नहीं किया होता।[8] पूर्वजन्म के पुण्य कर्म ही उसकी चित्तवृत्ति को बलात् उधर खींच ले जाते हैं। इसीलिए वह ब्रह्मचर्य से ही संन्यास धारण कर लेता है।[9] ऐसा विरले भाग्यवान् साधकों के विषय में घटित होता है। महर्षि बादरायण के पुत्र शुकदेव जन्मजात वैराग्य संन्यासी थे।

2. ज्ञान संन्यासी

जो साधक शास्त्राध्यय न करने के पश्चात् रौरव आदि नरकों की भीषण यातनाओं को जानकर तथा कर्मप्राप्त पुण्यलोकों के दायित्व को जानकर संसार यात्रा से उपराम हो जाते हैं, क्रोध, असूया, ईर्ष्या, अहंकार तथा अभिमान आदि से निवृत्त होकर त्रिविध एषणाओं को जीतकर, देह-वासना, शस्त्र-वासना और लोकवासना को छोड़कर समस्त प्रकृति को वमन किए हुए अन्न के समान समझकर, साधन चतुष्ट्य से युक्त होकर संन्यास धारण करते हैं, वे ज्ञान संन्यासी कहलाते हैं।[10] यह ज्ञान संन्यास सहसा प्राप्त नहीं होता। इसमें पूर्वजन्मों के कर्मों का योगदान अत्यल्प ही होता है। इसकी प्रेरणा गुरु-चरणों में बैठकर ही हृदय में प्रवेश पाती है। यद्यपि ज्ञान संन्यासी लोकानुभव से रहित होता है, फिर भी उसका शास्त्र-श्रवण इतना गहन और प्रभावशाली होता है कि वह संसार के कष्टों को स्वतः ही जान लेता है। जैसे स्वामी दयानन्द ने गृहस्थाश्रम का अनुभव नहीं किया था, फिर भी उनके द्वारा वर्णित गार्हस्थ्य के रहस्य इतने विशद हैं कि उनका वर्णन कोई लोक-विचक्षण विद्वान् भी नहीं कर सकता। यह उनके दृढ़ शास्त्राभ्यास का ही चमत्कार था। यदि सद्‌गुरु की अनुकम्पा से साधक शास्त्रों का अभ्यास निष्ठा से कर लेता है तो सकल विद्याओं के रहस्य क्षण-भर में ही उसे ज्ञात हो जाते हैं किन्तु इस अनुकम्पा की प्राप्ति के लिए महान् गुरु शुश्रूषा, अद्वितीय धैर्य और कठिन ब्रह्मचर्यव्रत के पालन की आवश्यकता है।

उपर्युक्त साधन चतुष्ट्य में नित्यानित्यवस्तु विवेक, इहामुत्रफल-भोग-विराग, शमादिषट् सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व का ग्रहण करना चाहिए। इन चार साधनों से देह की वासना, शास्त्रवासना और लोकवासना दुर्बल हो जाती है। इनका समूल नाश तो संन्यास द्वारा होगा किन्तु इनकी ओर से अरुचि अवश्य हो जाती है।

अशुचिता के ज्ञान से देह वासना,[11] विभिन्न संशयों से ग्रस्त होने के कारण शास्त्रवासना,[12] कर्मों की नश्वरता के ज्ञान से लोकवासना का क्षय होता है।[13]

3. ज्ञान वैराग्य संन्यासी

जिस साधक के संन्यासग्रहण के मूल में ज्ञान और वैराग्य दोनों प्रकार की सम्पत्ति निहित होती है, जिससे प्रेरित होकर वह प्रव्रज्या की ओर चरण बढ़ाता है, ऐसा संन्यासी ज्ञान वैराग्य संन्यासी कहलाता है।[14] ऐसे संन्यासी ने पूर्वजन्मों में महान् तपोरूप पुण्यकर्मों का अर्जन भी किया होता है और इस जन्म में प्रारब्धवश गुरु के चरणों में बैठकर शास्त्राभ्यास भी किया होता है। पूर्वकर्मों के कारण उसकी वैराग्य भावना तो पहले से ही दृढ़ होती है। वर्तमान जन्म में किया हुआ शास्त्राभ्यास उसे और भी दृढ़ कर देता है। ज्ञान वैराग्य संन्यासी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थाश्रम में विभिन्न लौकिक और वैदिक कर्मों का अनुष्ठान भी करता है तथा नहीं भी करता। यह आवश्यक नहीं कि वह तीनों आश्रमों के अनन्तर ही संन्यासयोग धारण करे। संभव है कि वह ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् ही संन्यास ले ले। पूर्वजन्मोपार्जित वैराग्यभाव वर्तमान जन्म के ज्ञानाभ्यास से जिस समय भी प्रबुद्ध हो जाए, वही समय उसके संन्यासग्रहण का होता है। ऐसे संन्यासी बाल संन्यासी भी हो सकते हैं और प्रौढ़ संन्यासी भी। उपनिषद् में कहा गया है कि जब तक वैराग्य और ज्ञान के द्वारा अज्ञान की ग्रन्थियों का भेदन नहीं हो जाता तब तक उसका मोक्ष सम्भव नहीं है।[15] ज्ञान वैराग्य संन्यासी स्वरूपानुसंधान के साथ देहमात्र से अवशिष्ट रहता है। उसका देह विभिन्न शास्त्रों के अभ्यास से सुवर्ण की कांति से युक्त हो जाता है। इसलिए ज्ञानवैराग्य संन्यासी पूर्व वर्णित ज्ञान संन्यासी और वैराग्य संन्यासी से श्रेष्ठतर है।[16]

4. कर्म संन्यासी

चतुर्थ कोटि के संन्यासी कर्म संन्यासी होते हैं। ऐसे संन्यासी क्रम से इस अवस्था तक पहुँचते हैं। वे पहले ब्रह्मचर्याश्रम में माता-पिता की प्रेरणा से गुरु के पास जाकर कठोर विद्याभ्यास करते हैं। युवावस्था आने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके उद्दाम वासनाओं का भोग द्वारा क्षालन करते हैं। फिर वानप्रस्थाश्रम में जाकर तपश्चर्या से देह को कर्कश करते हैं और पुनः संन्यासयोग का पालन करते हैं। कर्म संन्यासी के लिए वीतराग होना आवश्यक नहीं है। वैराग्य न होने पर भी वह संन्यास इसलिए धारण करता है क्योंकि अब उसका क्रम आ गया है।[17] वानप्रस्थाश्रम के बाद में संन्यासाश्रम उसके लिए अनिवार्य है। उस संन्यासाश्रम में ही वह संन्यासयोग की साधना करता है। चूँकि उसके मूल में न वैराग्य होता है, न ज्ञान होता है अपितु केवल कर्म ही अपेक्षा करके केवल कर्मनिष्ठा ही होती है। उस कर्तव्यकर्म का आदर

करते हुए उसे अनिच्छा से भी संन्यासधारण करना पड़ता है, इसीलिए वह कर्म-संन्यासी कहलाता है। संन्यास लेना उसकी विवशता है, आवश्यकता नहीं। इसलिए कर्मसंन्यासी सबसे अवर कोटि का संन्यासी माना गया है। उसे कर्म-संन्यासी इसलिए भी कहा जाता है क्योंकि उसने पूर्व के तीन आश्रमों में वैदिक और लौकिक समस्त कर्मों का अनुष्ठान किया होता है और अब क्रम प्राप्त संन्यास के लिए वह बाध्य होता है। बाध्य वह इस दृष्टि से है कि न तो इस समय उसके पास भोग का साधन पुष्ट देह है, न पर्याप्त अर्थ है, न पर्याप्त पुत्रों का सम्मान है। इसलिए उसे विवश होकर संन्यासधारण करना होता है।

ज्ञान वैराग्य संन्यासी की श्रेष्ठता

उपर्युक्त चारों प्रकार के संन्यासियों में ज्ञान वैराग्य संन्यासी ही श्रेष्ठ है। क्योंकि उसने पूर्वोपार्जित वैराग्य भावना से शास्त्राभ्यास की दिशा में प्रवेश किया है और शास्त्राभ्यास से वैराग्य भावना को पुष्ट किया है। ज्ञान और वैराग्य परस्पर एक-दूसरे के सम्पोषक हैं। वैराग्य के अभाव में ज्ञान में प्रवृति नहीं होती और ज्ञान के अभाव में वीतराग पुरुष लक्ष्यच्युत हो सकता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में ज्ञान और वैराग्य दोनों को ही प्रव्रज्या और नि:श्रेयस के लिए उपयोगी बताया है। कृष्ण ने चार प्रकार के भक्तों की व्याख्या की है—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी व ज्ञानी।[18] रोग, शोक, परिताप के पीड़ित होकर जब मनुष्य प्रभु की शरण में जाता है तो ऐसा भक्त आर्त भक्त कहलाता है। प्रभु भक्ति में उसका लक्ष्य भी रोगादि की निवृत्ति ही होता है, प्रभु से प्रेम मुख्य नहीं होता। जो साधक जिज्ञासावश प्रभु को भजते हैं, वे जिज्ञासु भक्त होते हैं। भगवान कैसा है? कहाँ रहता है? क्या वह भक्तों का कल्याण करेगा? क्या वह मेरे दु:ख दूर करेगा? यदि वह मेरा दु:ख दूर कर देगा तो मैं उस पर विश्वास करूँगा, अन्यथा नहीं। इन जिज्ञासाओं और शंकाओं के साथ प्रभु की भक्ति करने वाला साधक जिज्ञासु होता है। जो रजोगुणी साधक धनलाभ के लिए, राज्य प्राप्ति के लिए, दिव्य ऐश्वर्यों के भोग के लिए, इन्द्रादि पद के लाभ के लिए अथवा त्रैलोक्याधिपति बनने के लिए प्रभु भक्ति करते हैं, वे अर्थार्थी भक्त होते हैं। जो केवल निस्वार्थ भाव से ईश्वर के स्वरूप को अच्छी प्रकार जानकर प्रभु की भक्ति करते हैं, वे ज्ञानी होते हैं।

भगवान् कृष्ण कहते हैं कि मुझे इन चारों भक्तों में ज्ञानी ही सर्वाधिक प्रिय है क्योंकि मैं उसे प्रिय हूँ। यद्यपि भगवान् पहले के तीनों भक्तों से भी प्रेम करते हैं और उनकी मन:कामना को भी पूर्ण करते हैं तथापि स्वार्थ प्रेरित होने के कारण उनकी भक्ति क्षयिष्णु होती है। स्वार्थसिद्धि होने पर उक्त तीनों प्रकार

के भक्त भक्ति से विरत हो जाते हैं किन्तु ज्ञानी सर्वदा सर्वात्मना प्रभु भक्ति में निमग्न रहता है।[19]

वास्तव में ज्ञानपूर्वक वैराग्य प्राप्त करना महान् पुण्यों के कारण सम्भव हो पाता है। हजारों मनुष्यों में कोई विरला ही निःश्रेयस की सिद्धि के लिए अथवा प्रभु भक्ति के लिए यत्न करता है। यत्न करने वालों में भी कोई विरला ही उसके रहस्य को जान पाता है।[20]

ज्ञान के समान कोई भी वस्तु पवित्र नहीं मानी जाती।[21] ज्ञान एक ऐसा तत्व है जो अनन्त, अविनाशी और शाश्वत है। ज्ञानी कभी भगवान् को नहीं छोड़ सकता। क्योंकि वह किसी स्वार्थ को लेकर वैराग्य धारण नहीं करता।

उपर्युक्त चारों संन्यासियों का भेद स्वरूप की दृष्टि से नहीं है अपितु प्रेरणा-स्रोत को लेकर किया गया है। स्वरूप चारों का एक ही है। कर्मत्याग, निष्काम कर्म, विषय वैतृष्ण्य और निःश्रेयस की दिशा में अग्रसर होना यही संन्यास का स्वरूप है। इस दिशा में चारों संन्यासी ही प्रयत्न करते हैं। आचरण-भेद, व्यवहार-भेद और सामर्थ्य-भेद से संन्यासयोगियों का जो भेद अपेक्षित है, उसका वर्णन आगे किया जाएगा।

षड्विध संन्यासयोगी

उपर्युक्त चारों प्रकार के संन्यासयोगियों के पुनः छह भेद हो जाते हैं :[22]

1. कुटीचक या कुटीचर
2. बहूदक
3. हंस
4. परमहंस
5. तुरीयातीत
6. अवधूत

इस प्रकार संन्यासयोग चौबीस प्रकार का माना गया है। यहाँ इन षड्विध संन्यासियों का स्वरूप जान लेना आवश्यक होगा :

1. कुटीचक या कुटीचर

कुटीचक या कुटीचर दोनों ही पाठ मिलते हैं। 'कुट्यां चकास्ति' अथवा 'कुट्यां चरति'। इन दोनों व्युत्पत्तियों के आधार पर जो संन्यासी प्रायः कुटी बनाकर रहते हैं, उन्हें कुटीचक संन्यासी कहा जाता है। यद्यपि ऐसे संन्यासी भ्रमण भी करते हैं किन्तु जहाँ भी जाते हैं, कुछ समय के लिए अस्थाई कुटी बना लेते हैं। क्योंकि इनके कर्तव्यों में कुटिया की उपयोगिता आवश्यक होती है।

कुटीचक संन्यासी शिखा व यज्ञोपवीत धारण करता है। दण्ड, कमण्डलु भी साथ रखता है। कौपीन और कन्था का प्रयोग भी करता है। यह संन्यासी अपने माता-पिता को भी साथ रखता है और निरन्तर उनकी सेवा करता है। माता-पिता को साथ रखना उसकी विवशता है, कर्तव्य नहीं। विकलेन्द्रिय, अशक्त, साधनरहित माता-पिता को अकेले छोड़ देना उसे उचित प्रतीत नहीं होता। इसलिए वह अपने संन्यासधर्म के साथ-साथ उनकी सेवा को भी कर्तव्यबुद्धि से करता है। इसलिए वह पिठर (हांड़ी), फावड़ा, खुरपा, झोली, छींका आदि साधन सामग्रियों को अपनी कुटिया में रखता है तथा आवश्यकतानुसार उनका उपयोग करता है। मन्त्रादि की साधना में भी उसकी रुचि होती है। वह भोजन के लिए घर-घर नहीं घूमता अपितु एक स्थान पर ही रहकर भोजन पकाता है। स्वयं खाता तथा माता-पिता को खिलाता है। मस्तक पर तीन लकीरों में श्वेत तिलक लगाता है।[23] भिक्षुकोपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि कुटीचक आठ ग्रास भोजन करता हुआ मोक्ष हेतु प्रार्थना करता है।[24]

जिज्ञासा हो सकती है कि जब कुटीचक संन्यासी शिखा, यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु, कौपीन, कन्था आदि वस्त्र माता-पिता, पिठर, खनित्र आदि गृहस्थोपयोगी वस्तुओं को साथ रखता है तो फिर उसे संन्यासी क्यों कहा जाए ? क्यों न उसे गृहस्थ ही मान लिया जाए ? उपर्युक्त शंका निराधार नहीं है। कुटीचक संन्यासी गृहस्थ तुल्य ही प्रतीत होता है, किन्तु वह न तो पूर्ण रूप से गृहस्थ ही होता है और न ही पूर्ण संन्यासी। यह तो गृहस्थ से कुछ ऊपर तथा उत्तम संन्यास से कुछ नीचे की अवस्था है। संन्यास के प्रारम्भ की अवस्था भी संन्यास ही होती है। यद्यपि उसका लक्ष्य भी पूर्ण संन्यास की ओर अग्रसर होना होता है। तथापि गृहस्थ के समस्त चिह्न अभी दूर नहीं हुए हैं। गार्हस्थ्य का मोह अभी छूटा नहीं है, अतः वह न तो पूर्णरूपेण गृहस्थ बन पाए और न ही पूर्ण संन्यासी। किन्तु उसके हृदय में वैराग्य भावना है। उत्थान की ओर जाने की इच्छा है। इसलिए वह क्रमशः अपने बंधनों को काटने का प्रयास करता रहता है। चूंकि संन्यास का कोई बाह्य लिंग नहीं होता। वह केवल एक अभ्यन्तर भाव है और वह भाव हृदय में धारण कर चुका है। इसलिए वह संन्यासी ही है। लक्ष्य की ओर बढ़ाया हुआ उसका चरण अन्त में अवश्य ही लक्ष्य पर पहुँचेगा। यद्यपि वह अभी तक कुटीचक है। अपनी पर्णकुटी में ही शोभित होता है। पर्णकुटी से ही अपना संरक्षण प्राप्त करता है, किन्तु ऐसा नहीं है कि वह सदा कुटीचक ही रहेगा। वह कुटीचक से बाहर भी आएगा। कुटीचक से बनेचर और बनेचर से यायावर भी बनेगा। किन्तु 'वैशेष्यात्तदवादः' इस न्याय के अनुसार नामकरण किसी विशिष्टता के आधार पर ही होता है। कुटी के साथ सम्बन्ध होने के कारण वह कुटीचक या कुटीचर कहलाता है किन्तु यह उसका प्रारम्भिक और औपाधिक नाम है। उपाधि शाश्वत

नहीं हुआ करती। इसलिए हमें कुटीचक संन्यासी को भी उतना ही आदर देना चाहिए जितना कि उत्तम संन्यासी को दिया जाता है।

2. बहूदक

'उदक' शब्द का अर्थ 'जल' और 'रस' है। 'बहु उदकं यस्य' इस व्युत्पत्ति के आधार पर बहुत रस वाले व्यक्ति को 'बहूदक' कहते हैं। बहूदक संन्यासी कुटीचक की अपेक्षा संन्यास में अधिक रस लेता है क्योंकि उसका संन्यासयोग शनैः-शनैः प्रौढ़ता की ओर बढ़ता जाता है। अब वह उसके लिए भारयुक्त आचरण नहीं रह जाता अपितु वह सरस हो जाता है। जिसके फलस्वरूप योगी की रुचि उत्थान की ओर अपेक्षाकृत अधिक हो जाती है।

हलन्त ककारान्त 'उदक्' शब्द 'उत्तर' अर्थ वाला भी है। उत्तर का अर्थ है—उत्तर दिशा और श्रेष्ठ। 'बहु अत्यधिकं उदक् उत्तरदिशं प्रतिपद्यते' अथवा 'बहु उदक् अत्यधिकः श्रेष्ठः'। इन दोनों व्युत्पत्तियों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि बहूदक संन्यासी कुटीचक की अपेक्षा उत्तर अर्थात् श्रेष्ठतर होता है। श्रेष्ठ तो कुटीचक भी था किन्तु बहूदक अवस्था में उसने संन्यास के कुछ और सोपानों को भी पार कर लिया है। इसलिए अब वह उसकी अपेक्षा उत्तर अर्थात श्रेष्ठतर हो गया है। कुटीचक की दशा निम्न से उत्तरवर्तिनी हो गई है। इस प्रकार यह शब्द बहूदक संन्यासी की श्रेष्ठता सिद्ध कर रहा है।

'बहूदक' संन्यासी का बाह्य क्रियाकलाप कुटीचक जैसा ही होता है। जैसे वह भी कुटीचक की तरह शिखा, यज्ञोपवीत और कन्था का धारण करता है। त्रिपुण्ड लगाता है। सबके साथ समान व्यवहार करता है। कौपीन पहनता है किन्तु बहूदक में एक अन्य गुण का विकास होता है जो कि उसके भोजन से सम्बन्ध रखता है। जहाँ कुटीचक केवल एक स्थान पर रहकर ही स्वेच्छा से भोजन करता था। वहाँ बहूदक की अवस्था में वह मधुकर वृत्ति से भोजन करना प्रारम्भ कर देता है। जैसे भ्रमर विभिन्न पुष्पों के पास जाकर उनसे थोड़ा-थोड़ा पराग ग्रहण करता है। वैसे ही बहूदक संन्यासी घर-घर जाकर थोड़ा-थोड़ा भोजन का संग्रह करता है और आठ ग्रास मुख में पहुँचाता है। केवल इसी विशेषता के कारण बहूदक संन्यासी कुटीचक से उत्तम कोटि का कहलाता है।[25]

भोजन पर नियन्त्रण रखना एक असाधारण गुण है। जीवन-भर स्वादिष्ट और पौष्टिक भोजन का स्वाद लेने वाली जिह्वा को उसके मनोभिलषित स्वाद से वंचित करके नीरस और अतिन्यून भोजन के लिए विवश कर देना एक महान् तप है। हमारे ऋषियों ने भोजन के नियन्त्रण को महान् तप माना है। समस्त आधिव्याधि का मूल अनुचित आहार ही है। इसलिए यदि मधुकर वृत्ति से भोजन करने के कारण कुटीचक संन्यासी बहूदक कोटि में आ जाता है तो यह सर्वथा उचित ही है।

3. हंस

'अहं स' की भावना करने वाला संन्यासी 'हंस' कहलाता है। यह अवस्था कुटीचक और बहूदक से उत्कृष्ट है। इस अवस्था में आकर संन्यासयोगी और अधिक तपी, सहिष्णु और संकुचित हो जाता है। अब वह शिखा, यज्ञोपवीत, कन्था आदि स्थूल सामग्री का त्याग कर चुका होता है। अब उसके पास केवल कौपीन-खण्ड और मस्तक पर त्रिपुण्ड शेष रह जाता है।[26] सिर पर लम्बी-लम्बी जटाएँ हो जाती हैं। क्योंकि हंस संन्यासी को केशकर्तन के प्रति अरुचि हो जाती है। हंस संन्यासी एक स्थान पर नहीं ठहरता। वह तो गाँव में एक रात्रि, नगर में पाँच रात्रि और जिले में सात रात्रि तक ठहरता है। गोदुग्ध से बने पदार्थों का सेवन तथा गोमूत्र का पान करता है।[27] कुटीचक और बहूदक संन्यासी भोजन के प्रति सावधान रहते हुए भी भोजन के मोह से रहित नहीं हुए थे। हंसावस्था में संन्यासी का भोजन पहले से भी अधिक संक्षिप्त हो जाता है। यद्यपि वह मधुकर वृत्ति से ही भोजन ग्रहण करता है किन्तु अब वह मधुकर से भी कम भोजन करता है। इसलिए उसे 'असंक्लृप्तमाधुकरान्नाशी' कहा जाता है। असंक्लृप्त शब्द का अर्थ है—अपूर्ण अर्थात् मधुकर से भी न्यून भोजन करने वाला।

इस प्रकार हमने देखा कि संन्यास की उत्तरोत्तर दशा में आहार अल्प से अल्पतर होता है। ज्यों-ज्यों उसका भोजन कम होता है, त्यों-त्यों उसकी वासनाएँ कम होती जाती हैं और मन विषयों से निवृत्त होकर परमेश्वर में केन्द्रित होने लगता है।[28] भोजन ही वह तत्व है जिससे मन मांसल होता है।[29] मांसल मन संन्यासी का शत्रु है। उसकी मांसलता आहार त्याग से ही कम होती है। चूंकि आहार जीवन धारण के लिए आवश्यक है इसलिए उसे सहसा छोड़ा भी नहीं जा सकता। उसे क्रमशः ही छोड़ना पड़ता है। इस प्रकार हंस संन्यासी का भोजन अत्यल्प हो जाता है।

4. परमहंस

परमहंस की अवस्था हंस की अपेक्षा अत्यधिक उन्नत है। इस अवस्था में आकर संन्यासी शिक्षा, यज्ञोपवीत, कन्था आदि से सर्वथा रहित हो ही जाता है। साथ ही उसका भोजन भी पहले की अपेक्षा न्यून से न्यूनतम होता जाता है। अब वह किसी पात्र में भिक्षा माँगकर नहीं लाता। अपितु हाथ में ही जितना आ गया, उतना ही अन्न लेकर वह खा लेता है, जिससे उसकी जीवनयात्रा चलती रहती है।[30]

परमहंस संन्यासी देह के अन्य वस्त्रों से तो निस्पृह तथा आवश्यकता रहित हो चुका होता है किन्तु कौपीन का धारण उसके लिए अब भी अपेक्षित होता है। अधिक-से-अधिक वह बिछाने या ओढ़ने के लिए एक शाटी धारण करता है। उसी

को धारण कर वह स्नान करता है, उसी को बिछाता है तथा उसी से वस्त्र की समस्त आवश्यकताएँ पूर्ण करता है। बाँस का एक डण्डा भी उसकी शोभा बढ़ाता है। वेणुदण्ड का धारण उसके लिए यात्रा के समय रक्षा हेतु काम आता है। वह कुक्कुर, सर्प, मृगादि से उसकी रक्षा करता है। जब परमहंस संन्यासी देह से सर्वथा समर्थ होकर वस्त्र का त्याग कर देता है, तब वह भस्मोद्धूलन को अपना आश्रय बना लेता है। चिता की राख उसके अंगों का भूषण बन जाती है और वह सर्वत्यागी कहलाने लगता है।[31]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि संन्यासियों की यह उत्तरोत्तर अवस्था उन्हें संसार से पृथक् करती जाती है अर्थात् ज्यों-ज्यों संन्यासी वैराग्य के उत्तरोत्तर सोपानों को पार करता जाता है, त्यों-त्यों वह संसार के लिए अजनबी, अशिष्ट और अनुपयोगी-सा होता जाता है। वस्तुतः तो वह पृथ्वी का शृंगार होता है क्योंकि ऐसे ही संन्यासियों से यह पृथ्वी वसुधा, धरित्री आदि नामों से पुकारी जाती है। किन्तु स्वयं संन्यासी के लिए यह संसार एक रोग बन जाता है। संसार में भी भोजन, वस्त्र और निवास ये तीनों ही बड़े-बड़े रोग होते हैं, जो संन्यासी के चित्त को पाशबद्ध कर लेते हैं। इन रोगों से आक्रान्त होकर संसार के मनुष्य परमपद की ओर से आँखें फेर लेते हैं। भोजन, वस्त्र और निवास का आधार लक्ष्मी को माना गया है। यह लक्ष्मी ही अनर्थों का मूल है। इसी से आक्रान्त होकर शुकनास ने इसकी महानिन्दा की है।[32] जब हम परमहंस संन्यासी की अवस्था पर विचार करते हैं, तब हम देखते हैं कि संसार में ये तीनों रोग इस अवस्था में बहुत क्षीण हो चुके होते हैं। परमहंस के लिए करपात्री शब्द का प्रयोग होता है जिसका अर्थ यह है कि उसका भोजन अब अत्यन्त सीमित हो चुका है। उसके लिए 'एक कौपीनधारी' विशेषण यह सिद्ध करता है कि उसका वस्त्र-मोह भी अब समाप्त होने को ही है। 'भस्मोद्धूलन परः' इस विशेषण से यह प्रकट होता है कि श्मशान की भूमि ही उसका निवास स्थान हो गया है! पर्णकुटी अथवा एकत्र संस्थान उससे बहुत पहले ही छूट चुके होते हैं। उसके लिए सर्वत्यागी विशेषण यह सिद्ध करता है कि वह संन्यास की उत्कृष्टतम अवस्था पर पहुँचने ही वाला है।[33]

5. तुरीयातीत

अपने उत्कर्ष से पूर्वोक्त चारों प्रकार के संन्यासियों का अतिक्रमण करने वाला संन्यासी तुरीयातीत कहलाता है। तुरीयातीत का अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि वह संन्यासी पूर्वोक्त चारों संन्यासियों के विपरीत आचरण करता है अपितु इसका अर्थ यह है कि तुरीयातीत संन्यासयोगी के उग्रतप, पवित्राचरण और लोकोत्तर ऐश्वर्य के सम्मुख पूर्व संन्यासी दूर तक भी नहीं ठहरते।

तुरीयातीत संन्यासयोगी अन्न का भक्षण नहीं करता अपितु केवल फल

खाता है। उसकी खाने की प्रक्रिया भी गोमुखीवृति है।[34] जैसे गौ मुख से भोजन करती है, मुख से ही अभक्ष्य पदार्थ को निकालती है और मुख से ही शत्रु का प्रतिकार करती है, वैसे ही संन्यासयोगी भोजन का मुख से ही आहरण करता है, मुख से ही अभक्ष्य का त्याग करता है। तुरीयातीत संन्यासी के लिए सामान्यतया भोजन वर्जित है। विशेष अवस्था में जीवन का संकट उपस्थित होने पर वह तीन घरों में जाकर भोजन कर सकता है किन्तु वहाँ भी गोमुखवृत्ति से ही भोजन करना चाहिए। यह केवल तप की दृष्टि से विधान है। भोजन की अत्यल्पता बताना ही इस विधान का उद्देश्य है। इस अवस्था में संन्यासयोगी देहमात्र से अवशिष्ट रहता है। वस्त्रों का मोह विनष्ट हो जाता है। यह उसकी दिगम्बर अवस्था होती है।[35] दिगम्बरत्व की प्राप्ति कोई साधारण कार्य नहीं है। सिद्ध ऋषि और महर्षि भी वस्त्रों के मोह से सहसा रहित नहीं हो पाते। अपने अंगों में अस्मिता का भाव बुद्धिजीवियों में इतना प्रबल होता है कि शतकल्पों का तप भी उसे निश्शेष नहीं कर पाता। यदि सचमुच 'मैं आत्मा हूँ' तो अस्थि चर्ममय इस देह में अस्मिता की भावना से क्या प्रयोजन? किन्तु देह में आसक्ति एक महान् रागात्मिका चित्तवृत्ति है। तुरीयातीत संन्यासी ही इस अस्मिता के रोग से मुक्ति पाने में समर्थ होता है।

तुरीयातीत संन्यासी कुणप (शव) के समान इस शरीर में व्यवहार करता है।[36] जिस प्रकार शव चिन्ता, लज्जा, मान, अपमान आदि समस्त आभ्यन्तर और बाह्य संवेदनाओं से सर्वथा रहित होता है। तुरीयातीत संन्यासी भी इन बाह्याडम्बरों से रहित होकर निश्चेष्ट, निश्चेतन और अमनस्क हो जाता है।

तुरीयातीत संन्यासी की यह अवस्था बलात् आरोपित नहीं होती। न ही उसे यह प्रतीत होता है कि मैं इस अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ अथवा मैं तुरीयातीत हो चुका हूँ। अपितु यह अवस्था तो उसे शनैः-शनैः स्वतः प्राप्त हो जाती है। यदि उसे यह ज्ञात हो जाए कि मैं संन्यासयोग की इस उत्कृष्ट सीमा को पहुँच चुका हूँ कि मैं वस्त्रों के मोह से वंचित हो गया हूँ। मैं नग्न हूँ। लोग मुझे क्या कहेंगे? क्या मुझे इस दिगम्बरावस्था में समाज में जाना चाहिए? क्या स्त्रियाँ और बच्चे मुझे अशिष्ट, असभ्य और निर्लज्ज नहीं कहेंगे? इन सब संवेदनाओं को अनुभव करने की शक्ति ही उसके अन्दर से निकल जाती है। संन्यासयोग की यह परिपक्वावस्था है।

6. अवधूत

तुरीयातीत संन्यासी से एक चरण आगे की अवस्था अवधूत संन्यासी की होती है। 'अव' उपसर्गपूर्वक 'धूञ् कम्पने' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके अवधूत शब्द

निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ यह है कि जिसकी उग्र तपश्चर्या से कम्पित होकर समस्त नियम, समस्त चेष्टाएँ, समस्त संवेदनाएँ और समस्त दोष विनष्ट हो चुके हैं, वह संन्यासी अवधूत होता है। अवधूत की एक ही परिभाषा है कि वह नियमरहित है। भोजन की दृष्टि से भी अवधूत संन्यासी पूर्व संन्यासियों से अधिक कठोर होता है। वह न तो पतित गृहस्थों का अन्न ग्रहण करता है और न ही अत्यन्त अभिशस्त (स्वादिष्ट और पौष्टिक) भोजन करता है अपितु अजगर-वृति से स्वतः प्राप्त भोजन को ही ग्रहण करता है।[37] जैसे अजगर अपने स्थान से विचलित न होते हुए स्वतः सम्प्राप्त प्राणियों को आकृष्ट करके खा लेता है, वैसे ही अवधूत संन्यासी किसी के द्वार पर भोजन माँगने नहीं जाता अपितु जो कुछ उसके समीप होता है या स्वयं भोजन कोई दे जाता है, वह केवल उसी को खाकर संन्तुष्ट होता है। यदि महीनों तक भी उसे भोजन न मिले तो उसके मन में कोई तृष्णा, विकृति अथवा दोष नहीं आता। यही उसकी विशेषता है।

इसके अतिरिक्त अवधूत संन्यासी की कुछ अन्य भी आभ्यन्तर विशेषताएँ होती हैं, जो उसे पूर्व के संन्यासियों से उत्कृष्ट और विलक्षण सिद्ध करती हैं, वह सोचता है कि 'मैं जगत् नहीं हूँ' क्योंकि वह जड़ है और मैं विभु हूँ। न ही मैं अचेतन देह हूँ, न ही मैं शब्द हूँ, न त्वचा हूँ, न स्पर्श हूँ, न रस हूँ, न रूप हूँ, न गंध हूँ, अपितु मैं तो समस्त कलाओं से वर्जित स्वतः प्रकाश, निष्कल, निरंजन, शुद्ध चेतन तत्व हूँ। मेरे ही तेज से सूर्य पर्यन्त समस्त पदार्थ प्रकाशित होते हैं। मेरी ही चेतना से सब चेतन हैं। वह सोचता है :

न मे भोग स्थितौ वाञ्छा न मे भोग विसर्जने।
यदा याति तदा यातु यत् प्रयाति प्रयातु तत्।।[38]

इस उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त संन्यासयोगी ही पूर्ण संन्यासयोगी होता है। इससे आगे कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। जीवन का लक्ष्य पूर्ण हो जाता है और साधक कृतकृत्य होकर केवली बन जाता है।

षड्विध संन्यासियों का गति वर्णन

पूर्वोक्त संन्यासियों की तपश्चर्या का फल भी पृथक्-पृथक् है। जिस-जिस क्रम से तपश्चर्या उग्र से उग्रतर होती जाती है, वैसे-वैसे उसका फल भी ऊर्ध्व से ऊर्ध्वतर होता जाता है। कुटीचक संन्यासी सबसे अवर कोटि का संन्यासी है। इसलिए जब वह संन्यासी अपनी आयु पूर्ण करके लोकान्तर-गमन करता है, तो वह पुन-र्जन्म प्राप्त करके फिर इसी भू-लोक में आता है।[39] क्योंकि अभी तक उसकी तपश्चर्या पूर्ण नहीं हुई है।

बहूदक संन्यासी उससे उत्कृष्ट संन्यासी है, इसलिए वह मृत्यु के अनन्तर

स्वर्गलोक का सुख भोगता है।[40] और पुण्य क्षीण होने पर फिर इसी लोक में लौटता है किन्तु उसका जन्म उत्तम कुल में होता है, जिससे उसे पुन: अपने योग को पूर्ण करने का अवसर प्राप्त होता है। छांदोग्य में कहा गया है, कि योगी के कुल में कोई भी संतान अब्रह्मवित् नहीं होती।[41]

हंस संन्यासी इन दोनों से उत्कृष्ट आचरण वाला होता है। उसने कठोर तपश्चर्या की होती है। अत: उसे देहपातानन्तर तपोलोक की प्राप्ति होती है।[42] तपोलोक की विशेषता यह है कि वहाँ से सहसा निम्न लोको में पतन नहीं होता अपितु वहाँ भी उसे तपश्चर्या के योग्य देह धारण की योग्यता प्राप्त होती है।

परमहंस संन्यासी की तपश्चर्या तीव्रतम होती है। वह इस पृथ्वी का आभूषण होता है। उसका जीवन सत्यमय होता है। इसीलिए मरणानन्तर भी उसे सत्य-लोक की प्राप्ति होती है।[43] सत्यलोक का एक आनन्द स्वर्गलोक के सहस्रों आनन्दों के बराबर होता है।[44] सत्यलोक से भी जीव का पतन नहीं होता। वहाँ जाकर वह उत्तरोत्तर ऊर्ध्वलोक की प्राप्ति के लिए चेष्टा करता है। अन्य लोक जहाँ पुण्यकर्मियों के लिए हैं, वहीं सत्यलोक ज्ञानियों के लिए होता है। ज्ञानियों का पतन नहीं होता।

तुरीयातीत और अवधूत संन्यासयोगियों को किसी लोक की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि उनके कर्म इतने उत्कृष्ट होते हैं कि उनका फल भोगने के लिए समस्त लोकों के सारे सुख भी थोड़े हैं। उसके लिए तो ऐसा लोक चाहिए, जहाँ कोई आनन्द न हो अपितु वह स्वयं ही आनन्द हो जाए। ऐसा आनन्द तो केवल आत्मानन्द ही हो सकता है। इसलिए तुरीयातीत और अवधूत संन्यासी अपनी आत्मा में ही लीन हो जाते हैं। वहाँ उन्हें केवल सुख नहीं मिलता अपितु केवल भाव प्राप्त हो जाता है।[45]

यह कैवल्य एकत्व का नाम है। एकत्व आत्मा, मोक्ष, ज्ञान, आनन्द, चिदानंद ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। तुरीयातीत अवधूत संन्यासी की तुलना भ्रमर कीट से दी जाती है। जैसे भौंरा लकड़ी को काटता है किन्तु उसे काटकर बाहर नहीं निकलता अपितु उसी में घर बनाकर रहने लगता है। वैसे ही तुरीयातीत और अवधूत संन्यासी आत्मज्ञान के लिए प्रयास करते हैं, इसलिए वे देहपातान्तर आत्मा में ही लय को प्राप्त करते हैं।

समीक्षा

शोध-प्रबन्ध के प्रारम्भ में ही हम स्पष्ट कर आए हैं कि इस शोध का प्रयोजन केवल साधारण संन्यास का विवेचन करना नहीं है, अपितु संन्यासयोग को सर्वोत्कृष्ट योग के रूप में प्रतिष्ठापित कर उसका स्वरूप विवेचन करना हमारा

लक्ष्य है। इस दृष्टि से उपर्युक्त षड्विध संन्यासियों में अन्तिम तीन ही संन्यास-योग की कोटि में परिगणित होने के योग्य हैं। प्रारम्भ की तीन अवस्थाओं को हक संन्यास की साधारण संज्ञा दे सकते हैं। संन्यासयोग की नहीं। क्योंकि जब तक कर्मों में कुशलता नहीं आती, तब तक कोई भी कर्मयोग की संज्ञा को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् ने कर्मों में कुशलता को ही योग कहा है।[46] संन्यासी के कर्मों की कुशलता के अन्तिम तीन अवस्थाओं में ही पूर्ण होती है। योग की अवस्था परमहंसावस्था से प्रारम्भ होती है। तुरीयातीत अवस्था में वह प्रौढ़ता का लाभ करती है और अवधूतावस्था में आकर उसकी परिणति होती है। तुरीयातीत और अवधूतावस्था में विशेष भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। फिर भी नियम और अनियम का भेद इन दोनों को पृथक् करता है। नियम साधक को परतंत्र बनाता है किन्तु अनियम उसे ईश्वरता की कोटि में लाकर खड़ा कर देता है। यही वह अवस्था है जब साधक निर्द्वन्द्व, नित्य, सत्वस्थ और समदर्शन हो जाता है।[47] यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि समदर्शनता गोमुखी वृत्ति के बिना प्राप्त नहीं होती। मनुष्य में और अन्य प्राणियों में यह एक महान् अन्तर है कि दूसरे प्राणी तो भोजन को सीधे मुख से ही पकड़ते हैं, केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो हाथ से पकड़ कर पदार्थ को मुँह में रखता है। इसलिए जब तक हाथ से उठाने की इस वृत्ति को न छोड़ा जाएगा, तब तक वह पशु-पक्षियों की समता में खड़ा नहीं हो सकता। यद्यपि पशु-पक्षियों की यह विवशता होती है कि वे हस्तविहीन होते हैं। अपने कृष्ण कर्मों के परिणाम-स्वरूप प्रभु ने उन्हें यह दण्ड दिया है कि वे मुख से ही खाएँगे और कुछ प्राणियों को यह दण्ड भी दिया है कि वे मुख से ही मलोत्सर्जन करेंगे। केवल मनुष्य को ही यह सुविधा दी गई है कि वह हाथ से उठाकर भोजन को मुख तक पहुँचाए और मुख से उदर तक पहुँचाए तथा मल द्वार से मल को बाहर फेंक दे। यदि मनुष्य सचमुच समरस और समदर्शन होना चाहता है तो उसे यह सुविधा स्वेच्छा से छोड़ देनी पड़ेगी। पशुओं की तरह वह भी मुख से ही उठा कर भोजन करे। यह एक महान् तपश्चर्या है जो साधक के गहरे अन्तस्तल में छिपे हुए अहंकार के भाव को और अपनी उत्कृष्टता के विचार को खोज-खोज कर नष्ट कर देती है। यही बात नारदपरिव्राजकोपनिषद में कही गई है कि जब मुनि पशु के समान अपने मुख से भोजन का अन्वेषण करता है, तभी वह सब प्राणियों में समदृष्टि होता है और मोक्ष प्राप्ति के योग्य हो जाता है।[48]

तुरीयातीत और अवधूत संन्यासी की ही वह अवस्था होती है, जब प्राप्ति से कोई हर्ष नहीं होता और अप्राप्ति से कोई विषाद नहीं होता।[49] इसी अवस्था के लिए भर्तृहरि ने कहा है कि समदृष्टि संन्यासी सर्प अथवा हार में, मणि अथवा लोष्ठ में पुष्पशय्या अथवा पाषाण में, शव और नारी में कोई भेद नहीं करता।[50]

इसी चरमावस्था की प्राप्ति के लिए दशानन ने शिवस्तुति में कहा था कि वह समय कब आएगा जब मैं पाषाण और कोमल शय्या में, भुजंग और मौक्तिमाला में, श्रेष्ठ रत्न और मृत्पिण्ड में, शत्रु और मित्र में, तृण और कमलनयनी में, राजा और रंक में कोई भेद नहीं करूँगा ।[51]

संदर्भ

1. यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
   न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।। गीता—6/2
2. त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
   उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ।। संन्यासो० 2/12
3. तत्ववस्त्वेक एव संन्यासः अज्ञानेनाशक्तिवशात् कर्मलोपश्च त्रैविध्यमेत्य ।
   —नारदपरिव्राजको० 5/1
4. अग्निर्यथैको भुवनं प्रतिष्ठो रुपं-रुपं प्रतिरुपो बभूव—कठोपनिषद् 2/2/9
5. सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
   अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ।। नारदपरिव्राजको० 3/40
6. वैराग्यसंन्यासो ज्ञान संन्यासो ज्ञानवैराग्यसंन्यासः कर्मसंन्यासश्चेति चातुर्विध्यमुपागताः—वही, 5/1, संन्यासो० 2/13
7. दृष्टमदनाभावाच्चेति विषय वैतृष्ण्यमेत्य प्राक् पुण्यकर्म वशात्संन्यस्तः स वैराग्य संन्यासी—नारदपरिव्राजको० 5/1
8. दृष्टानुश्रविक विषय वैतृष्ण्यमेत्य प्राक् पुण्य कर्म विशेषात् संन्यस्तः स त्रैराग्य संन्यासी—संन्यासो० 2/13
9. ब्रह्मचर्येण संन्यस्य संन्यासाज्जानरुपधरो वैराग्य संन्यासी ।
   नारदपरिव्राजको०—वही
10. शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोकानुभव श्रवणात्प्रपंचोपरतः क्रोधेर्ष्यासूयाहंकाराभिमानात्मक सर्वसंसारं निवृत्यदारेषणाधनेषणालोकेषणात्मकदेहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रकृतीयं सर्वमिदं हेयं मत्वा साधन चतुष्ट्य सम्पन्नो यःसंन्यस्यति स एव ज्ञान संन्यासी ।
    नारदपरिव्राजको० 5/1, संन्यासो० 2/13
11. शौचात्स्वांगजुगुप्सापरैरसंसर्गः—योगसूत्र 2
12. नित्यस्वाध्याय त्रिधितो—विवरणप्रमेय संग्रह 1/2
13. परीक्ष्यलोकान्कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।

मुण्डको० 1/2/12

14. क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानुसंधानेन देहमात्रा वशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्य संन्यासी।
नारदपरिव्राजको० 5/1, संन्यासो० 2/13
15. तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षये अर्थ सम्पत्सि—छांदोग्यो०
16. स्वरूपानुसंधानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्य-संन्यासी। नारदपरिव्राजको० 5/1, संन्यासो० 2/13
17. ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्याभावेऽप्याश्रम क्रमानु-सारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी।
संन्यासो 2/13, नारदपरिव्राजको० 5/1
18. चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ गीता—7/16
19. तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्ति र्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं महं सच मम प्रियः॥ गीता 7/17
20. मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः॥ वही 7/3
21. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। वही 4/38
22. स संन्यासः षड्विधो भवति—कुटीचक बहूदक हंस परमहंस तुरीयातीता-वध्ताश्चेति—संन्यासो० 2/13
23. कुटीचकः शिखा, यज्ञोपवीती दण्ड-कमण्डलुधरः कौपीनशाटी कन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठर खनित्र शिक्यादिमन्त्रसाधनपरः एकत्रान्ना-दनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्ड।
संन्यासो० 2/13 नारदपरिव्राजको० 5/1
24. कुटीचका नाम गौतमभरद्वाजयाज्ञवल्क्यवसिष्ठप्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते—भिक्षुकोप०—1
25. (क) बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत् सर्वसमो मधुकर-वृत्याष्टकवलाशी। —नारदपरिव्राजको० 5/1, संन्यासो० 2/13
(ख) अर्थ बहूदका नाम त्रिदण्डकमण्डलु शिखा यज्ञोपवीत काषायवस्त्र धारिणो ब्रह्मर्षि गृहे मधुमांसं वर्जयित्वाऽष्टौग्रासान भैक्षाचरणं कृत्वा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते—भिक्षुको०।
26. हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी असक्लृप्त माधुकरान्नाशी कौपीन-खण्डतुण्डधारी—नारदपरिव्राजको० 5/1
27. हसानाम् ग्राम एकारात्रंनगरे पंचरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रं तदुपरि न वसेयुः। गोमूत्र गोमयाहारिणो नित्यं चान्द्रायण परायणा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते।

भिक्षुको०—1

28. विषया: विनिवर्तन्ते निराहारस्यदेहिन: । गीता—2/59
29. अन्नमयं हि सोम्यमन:—छा० 6/5/4
30. परमहंस शिखायज्ञोपवीतरहित: पंचगृहेषु करपात्री एक कौपीनधारी । शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपर: सर्वत्यागी ।
संन्यासो० 2/13, नारदपरिव्राजको० 5/1
31. परमहंसादि त्रयाणां न कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमण्डलुर्न दण्ड: । सार्ववर्णैक भैक्षाटनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधि: । नारदपरिव्राजको० 5/1
32. आलोकयतु तावत् कल्याणाभिनिवेशो लक्ष्मीमेव प्रथमम् । इयं हि सुभट खङ्ग मण्डलोत्पलवनविभ्रमभ्रमरी क्षीरसागरात् पारिजात पल्लवेभ्यो रागम्, इन्दु शकलादेकान्तवक्रताम् उच्चै: श्रवसश्चंचलताम्, कालकूटा न्मोहनशावितम्, मदिराया मदम्, कौस्तुभमणेर्नैष्ठुर्यम्, इत्येतानि सहवास परिचयवशाद् विरह विनोद चिह्नानि गृहीत्वोद्गता । नह्येवं विधमपरिचितमिह जगति किंचिदस्ति यथेयमनार्या ।।
कादम्बरी (शुकनासोपदेश)
33. वृक्षमूले शून्यगृहे श्मशानवासिनो वा साम्बरा वा दिगम्बरा वा । न तेषां धर्माधर्मौ लाभालाभौ शुद्धाशुद्धौ द्वैतवर्जिता समलोष्टाश्मकांचना: सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मैवेति पश्यन्ति । अथ जात रुप धरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहा: शुक्लध्यानपरायणा आत्मनिष्ठा: प्राण संधारणार्थं यथोक्तकाले भैक्षमाचरन्त: शून्यागारदेवगृहतृणकूट—वल्मीकवृक्षमूल कुलालशालाग्निहोत्रशाला नदीपुलिन गिरिकन्दरकुहरकोटर निर्झरस्थण्डिले तत्र ब्रह्ममार्गे सम्यक्सम्पन्ना: शुद्ध मानसा. परमहंसाचरणेनसंन्यासेन देहत्यागं कुर्वन्ति ते परमहंसा नाम—भिक्षुको०—1
34. गोमुखं तुरीयातीतस्य—नारदपरिव्राजको० 5/1
35. अन्नाहारी चेद्गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बर: ।
नारदपरिव्राजको० 5/1
36. कुणपवच्छरीरवृत्तिक:—वही ।
37. अवधूतस्त्वनियमोऽभिशस्तपतितवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्याहारपर: स्वरूपानुसंधानपर—नारदपरिव्राजको० 5/1
38. संन्यासो० 2/35
39. कुटीचकयोर्भूर्लोक: —नारदपरिव्राजको० 5/1
40. बहूदकस्य स्वर्गलोक:—नारदपरिव्राजको० 5/1
41. नास्यकुले अब्रह्मवित् भवति—छांदो०
42. हंसस्य तपोलोक: । नारदपरिव्राजको० 5/1

43. परमहंसस्यसत्य लोकः—संन्यासो० 2/59, नारदपरिव्राजको० 5/1
44. पातंजल योग प्रदीप
45. तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीट न्याय-वत्—नारदपरिव्राजको० 5/1 संन्यासो० 2/59
46. योगः कर्मसुः कौशलम्—गीता 2/48
47. निर्द्वन्द्वो नित्य सत्वस्थः सर्वत्र समदर्शन ।। नारदपरिव्राजको० 4/13
48. आस्येन तु यदाहारं गावन्मृगयते मुनिः ।
    तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। नारदपरिव्राजको० 5/11
49. अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् । वही—6
50. भर्तृहरि वै० श०—99
51. दृषद्विचित्रतल्पयो र्भुजंग मौक्तिक स्रजोर्गरिष्ठरत्नलोष्ठयोः सुहृद्विपक्षप-क्षयोः । तृणारविन्दचक्षुषोः प्रजामहीमहेन्द्रयोः समप्रवृत्तिकः कदा सदाशिवं भजाम्यहम्ः—शिवताण्डवस्तोत्र—12

7

उपादेयता व उपाय-विवेचन

संन्यास की उपयोगिता व फल

षड्विध संन्यास का विशिष्ट फलकथन पूर्व प्रकरण में किया जा चुका है। सम्प्रति संन्यास का सामान्य फल और उसकी मानव जीवन में उपयोगिता का प्रतिपादन किया जा रहा है। समस्त उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य यद्यपि आत्मज्ञान, मोक्ष और मोक्ष साधनों का विवेचन करना है किन्तु फिर भी उनमें लौकिक कर्तव्य और मानव जीवन के समस्त व्यवहारों का ज्ञान भी उपेक्षित नहीं किया गया है। उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों के आचरणीय तत्वों का भी भरपूर व्याख्यान है। चातुर्वर्ण्य के कर्तव्यों का भी प्रतिपादन है और मानव मात्र के लिए सेवनीय धर्म के तीनों स्कन्धों का भी प्रचुर उपदेश विद्यमान है। किन्तु जो विशिष्ट बात हम कहना चाहते हैं, वह यह है कि उपनिषदों में संसार और सांसारिकता की व्याख्या और उसके कर्तव्य कर्मों का विवेचन अवश्य किया गया है किन्तु उस पर आध्यात्मिकता, त्याग, भावना और निवृत्तिमार्ग का अंकुश सर्वत्र लगाया गया है। लौकिक कर्म आयु के तृतीय चरण तक ही सेवनीय हैं। कल्याण का अन्तिम साधन आत्मज्ञान ही है। इस बात को कभी भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता। जिसे नचिकेता ने बड़े साधिकार शब्दों में कहा था कि ये संसार के ऐश्वर्य केवल कल तक ही रहने वाले हैं। कल के पश्चात न ये भोग्य पदार्थ रहेंगे और न उनका भोक्ता रहेगा।[1] इसलिए उपनिषदों का अध्ययन करते समय इस बात को सदा ध्यान में रखना चाहिए कि उपनिषदें मोक्षपरक शास्त्र हैं, संसारपरक शास्त्र नहीं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर जब उपनिषदों का अनुशीलन किया जाएगा तभी जिज्ञासु साधक इसका फल प्राप्त कर सकेंगे।

उपनिषदों के सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्याख्याता आचार्य शंकर को कहा जाता है। मोक्ष के साधनों की व्याख्या के प्रसंग में उन्होंने बहुशः कहा है कि कर्म का मार्ग नश्वर लोकों की ओर ही गया है। प्रचुर धन, अभ्यास और उद्योग से सम्पादित किए हुए उत्कटतम कर्मों का फल भी एक दिन अवश्य ही नष्ट हो जाएगा। पुण्यों के क्षीण होने पर पुनः इसी जन्मजरा व्याधियों से संकुल धरा-धाम पर लौटना पड़ता है।[2] इसलिए श्रुतियों व स्मृतियों में बहुत बार नैष्कर्म्य, भिक्षाचार्य, पारिव्राज्य आदि को मोक्ष के परम साधन के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।[3] श्रुति कहती है कि अमृतत्व की प्राप्ति न तो कर्म से हो सकती है, न सन्तानोत्पति से और न ही धनार्जन से। अब तो केवल त्याग से अर्थात् कर्म संन्यास से ही अमृतत्व का लाभ हो सकता है।[4]

अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि मोक्षमार्ग के पथिकों के लिए तो संन्यासयोग सर्वथा उपादेय है ही किन्तु जो इस मार्ग के पथिक नहीं हैं, केवल कर्म मार्ग से अथवा भौतिक साधनों से सुख प्राप्ति की आशा रखते हैं, उनके लिए भी संन्यास भावना परम उपकारिणी है। आचार्य शंकर तो यहाँ तक कहते हैं कि यह पारिव्राज्य अविद्वान को भी अवश्य स्वीकार करना चाहिए क्योंकि यह संन्यास भावना माता के समान सबके लिए सब कालों में हितकारिणी है।[5]

संन्यास द्वारा भव बन्धन का शैथिल्य

संन्यासभावना भवबन्धन को शिथिल कर देती है। संसार में बंधनों को उत्तम, मध्यम और अधम भागों में बाँटा गया है। शास्त्राभ्यास और तपश्चर्या उत्तम बन्धन है। अग्निहोत्रादि कर्म और गार्हस्थ्य धर्म मध्यम बन्धन हैं। इनके अतिरिक्त समस्त कृष्ण कर्म अधम बन्धन माने गये हैं। ये तीनों ही बन्धन जीवात्मा को संसार से ऊपर नहीं उठने देते। मनुष्य को चाहिए कि वह संन्यासभाव से कर्म करते हुए इन तीनों ही बन्धनों को काटने का प्रयास करे। कर्म तो मनुष्य को करने ही पड़ते हैं—इच्छा या अनिच्छापूर्वक। बिना कर्म किए मनुष्य क्षण-भर भी नहीं रह सकता।[6] फिर क्यों न इस प्रकार से कर्म किए जाएँ, जिससे वह कर्म हमारे लिए बन्धनकारक न हों ?[7] इसी कामना से वेद में प्रार्थना की गई है कि हे ईश्वर ! हमारे उत्तम, मध्यम व अधम पाशों को दूर कर दो।[8]

श्रुति व स्मृतियों में अनेक स्थलों पर अग्निहोत्र को स्वर्ग का साधन माना गया है। यह सत्य है कि दर्श, पौर्णमास, अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम यज्ञों से अपेक्षाकृत अधिक सुखों की प्राप्ति होती है और उन्हें करना भी चाहिए किन्तु संन्यास-

भावना वहाँ भी उपादेय है क्योंकि अग्निहोत्र का फल शाश्वत नहीं होता। संन्यास का फल ही शाश्वत होता है। इसीलिए वहाँ भी कामना करनी चाहिए कि ये यज्ञरूप नौकाएँ बड़ी दुर्बल हैं। इनमें विभिन्न दोषों के छिद्र बने हुए हैं। काल की कृपाण इन कर्मों को उसी क्षण काटना प्रारंभ कर देती है, जब से ये सम्पादित किए जाते हैं।[9]

वर्णचतुष्टय में संन्यासयोग की उपयोगिता

हम जिस गहन संन्यासयोग की विवेचना कर रहे हैं, वह देश, काल, अवस्था, वर्ण, आश्रम और जाति की सीमा को लाँघकर व्यापक रूप में मानव जीवन में सेवनीय है। केवल ब्राह्मण ही इसका अधिकारी नहीं है, अपितु क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी संन्यासयोग के द्वारा अपने जीवन का चरम लक्ष्य अधिगत कर सकता है। केवल आयु के चतुर्थ चरण में ही इसका आचरण करणीय नहीं है अपितु ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ सभी अवस्थाओं में इसका अभ्यास करना पड़ता है। विभिन्न वर्णों में संन्यासयोग किस प्रकार सेवनीय है, इसकी विवेचना करना यहाँ अपेक्षित है :

1. ब्राह्मण और संन्यासयोग

सर्वप्रथम जब ईश्वर द्वारा वर्ण विभाजन की व्यवस्था की गई तो यह गुण व कर्मों के अनुसार ही की गई थी। ब्राह्मणों के गुण व कर्म अन्यों की अपेक्षा उत्कृष्ट थे। चूँकि ब्राह्मण ब्रह्म अथवा भूमा के अधिक निकट होता है, इसीलिए उसे ब्राह्मण नाम दिया गया है। ब्रह्म का यह एक अत्यन्त उत्कृष्ट गुण है कि उसके सब काम निष्काम, निस्संग और परार्थ होते हैं। इस सृष्टि रचना का लक्ष्य भी परार्थ साधन है, स्वार्थ साधन नहीं। ईश्वर का अपने लिए कोई प्रयोजन नहीं होता। वह निष्काम भाव से जीवों के कल्याण के लिए सृष्टि रचना में प्रवृत होता है। यही गुण जब जीव में आ जाता है तो वह भी ब्राह्मण कहलाता है। यही निष्काम कर्म संन्यासयोग का प्राणतत्व है।

आचार्य शंकर ब्राह्मण के लक्षण में इन्हीं दिव्य गुणों का उल्लेख करते हैं। वे कहते हैं कि ब्राह्मण उस उत्कृष्ट जीवात्मा को कहते हैं जो समस्त आशाओं से रहित हो, जिसके आरम्भ परार्थ होते हैं, जो नमस्कार व स्तुति की इच्छा न रखे, जिसके कर्म क्षीण तथा आत्मा अक्षीण हो। ऐसे दिव्य गुणों से अलंकृत जीव को ही विद्वान लोग ब्राह्मण कहते हैं।[10] आचार्य शंकर ब्राह्मण को अव्यक्त लिंग कहते हैं। अव्यक्त लिंग उसको कहा जाता है जिसमें ऐश्वर्य और सामर्थ्य होते हुए भी उसके सामर्थ्य और ऐश्वर्य को कोई जान नहीं पाता। वह अपने दिव्य गुणों को

प्रकट नहीं करता। उसकी श्रेष्ठता, अश्रेष्ठता, पाण्डित्य-मूर्खता, सदाचार-कदाचार आदि को कोई जान नहीं पाता। वह गूढ धर्मों का आश्रयण करता हुआ अज्ञात-चरित होकर लोक में विचरण करता है। वही सच्चा ब्राह्मण है जो लोक में रहता हुआ भी अंधे, गूंगे व जड़ के समान आचरण करता है।[11]

ब्राह्मण के जिन गुणों का वर्णन हम कर रहे हैं, वे सभी गुण संन्यासयोगी के गुण हैं। संन्यासयोग की पूर्णता ब्राह्मणत्व नहीं होती। उपनिषदों के अनुसार ब्राह्मण ही संन्यासयोग का अधिकारी है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि ब्राह्मण पांडित्य से भी निर्वेद प्राप्त करके केवल आत्मबल से स्थित रहे।[12]

इसी प्रकार 'परीक्ष्य लोकान कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्'[13] इस श्रुति में भी निर्वेद को ब्राह्मण का कर्तव्य बताया गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्य वर्णों का संन्यासयोग पर अधिकार नहीं है। उनका भी उतना ही अधिकार है किन्तु श्रुति का अभिप्राय यह है कि क्षत्रियादि वर्ण भी ज्यों-ज्यों संन्यास-योग के निकट पहुँचते जाते हैं त्यों-त्यों वे ब्रह्म के निकट होते जाते हैं और उनमें ब्राह्मणत्व प्रभावी होता जाता है।

इस प्रकार ब्राह्मण और संन्यासयोग का सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है जो सच्चा ब्राह्मण है, वही संन्यासी है और जो संन्यासयोगी है, वही सच्चा ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी है।

2. क्षत्रिय और संन्यासयोग

जब हम संन्यासयोग के स्वरूप की व्याख्या करने लगते हैं तो उस अवस्था में चारों वर्णों के कर्तव्य एक ही भूमि पर खड़े दिखाई देते हैं। क्षत्रिय भी ब्रह्म के एक विशिष्ट गुण से उत्पन्न हुआ है। बृहदारण्यकोपनिषद् में बताया गया है कि जब तक ब्रह्म ने क्षत्रिय की रचना नहीं की, तब तक वह विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। इसलिए उसने प्रशस्त रूप वाले क्षत्रिय की रचना की। देवताओं में जो इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशान आदि हैं, ये समस्त क्षत्रिय जाति के देव हैं।[14]

उपनिषदों के विशिष्ट अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्षत्रिय जाति अपने प्रशस्त गुणों के कारण ही ब्राह्मण जाति से आगे निकल गई थी। ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता क्षत्रिय के पास समित्पाणि होकर विद्याध्ययन हेतु जाते थे। जनक, अजातशत्रु, प्रवाहण, जानश्रुति आदि ब्रह्मवेत्ताओं का वर्णन उपलब्ध होता है। प्रवाहण ने तो श्वेतकेतु जैसे ब्रह्मज्ञानी को भी कह दिया था कि आज से पहले यह विद्या क्षत्रियों को छोड़कर ब्राह्मण के पास नहीं गई किन्तु आज तुम्हें दे रहा हूँ।[15] बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि क्षत्रिय से बड़ा ब्राह्मण भी नहीं है। इसलिए तो वह क्षत्रिय को ऊँचे आसन पर बिठाकर स्वयं नीचे खड़ा

होकर उसकी उपासना करता है और राजसूय यज्ञ में तो ब्राह्मण क्षत्रिय में ही अपने यश को स्थापित करता है।[16]

उपनिषदों में वर्णित क्षत्रिय जाति की यह महत्ता इसलिए उपर्युक्त प्रतीत होती है क्योंकि क्षत्रिय विद्याप्राप्ति हेतु धैर्यशाली और सामर्थ्यवान् है। यदि वह शास्त्र को छोड़कर शास्त्र ग्रहण करता है तो जब तक लक्ष्य सिद्धि नहीं हो जाती, वह वापिस नहीं लौटता। बालक ध्रुव, राजा सिद्धार्थ और राजा विश्वामित्र इसके साक्षात् उदाहरण हैं।

क्षत्रियों का जीवन भी परार्थ होता है। उनके शस्त्र निर्बलों की रक्षा करते हैं, उनका विनाश नहीं। कालीदास ने कहा है कि विनाश से रक्षा करने वाला ही क्षत्रिय होता है।[17] अतः क्षत्रियों को चाप और शाप दोनों ही क्षेत्रों में अग्रणी स्थान प्राप्त है। संन्यासयोगी जिस प्रकार कर्म करते भी उनसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार के कर्म क्षत्रिय अर्जुन को श्रीकृष्ण द्वारा बताए गए थे। कालीदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् में क्षत्रिय राजा दुष्यन्त को वीतराग संन्यासियों के तुल्य तपस्वी बताया है। वस्तुतः यदि क्षत्रिय भी पूर्ण कर्तव्यनिष्ठा के साथ अपने निर्धारित कर्तव्यों का पालन करता है तो वह अपरिग्रही संन्यासी के तुल्य ही तप का संग्रह करता है।[18] निष्काम भाव से किए गए कर्म फल प्रदान नहीं करते। अतः ऐसे कर्मों को करने वाला क्षत्रिय किसी संन्यासयोगी से कम नहीं होता।

3. वैश्य और संन्यासयोग

ब्राह्मण और क्षत्रिय की भांति ही वैश्य की उत्पति भी ब्रह्म से मानी गई है। वैश्य की उत्पति के बिना भी परमात्मा का मन अशांत था। वैश्य वित्त का उपार्जक होता है और वित्त से ही प्रजा की रक्षा होती है। अतः जब तक वित्त का उपार्जन करने वाले वैश्य की रचना न हो जाए, तब तक प्रभु की सृष्टि की पूर्णता नहीं हो सकती। वैश्य का सम्बन्ध 'विट्' अर्थात् प्रजा से माना गया है। प्रजा के लिए धन ही जीवन होता है। धन की रक्षा करने वाला वैश्य कहलाता है। इसलिए प्रजापति ने वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत देवताओं को उत्पन्न किया जो वैश्य जाति के देवता माने गए हैं।[19]

उपनिषदों में वित्त की उपेक्षा नहीं की गई। वित्त को जीवन के लिए अपरिहार्य साधन माना गया है। इसलिए जब-जब ब्राह्मण राजा की सभा में जाता है, तब-तब राजा गौ, सुवर्ण आदि देकर उसे सन्तुष्ट करता है। नचिकेता को यमराज ने धनैश्वर्य का ही प्रलोभन दिया था। राजा प्रवाहण ने भी सर्वप्रथम श्वेतकेतु को धन का ही दान किया था। राजा जानश्रुति भी गाड़ीवान रैक्व के पास, रत्न, स्वर्णमुद्राएँ, अश्व, गजादि लेकर उपस्थित हुआ था। सम्पूर्ण जीवन में वित्त अनिवार्य साधन है।

क्षत्रियों के समान वैश्य भी आदरणीय हैं। संन्यासयोग की दृष्टि से वैश्य को त्यागपूर्वक धन कमाना चाहिए। अर्थोपार्जन में भी परार्थ भाव होना चाहिए तभी वह मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ हो सकेगा। 'शतहस्त समाहर सहस्र हस्त संकिर'[20] इस उद्‌बोधन का भी यही तात्पर्य है कि सौ हाथों से कमाओ तथा हजारों हाथों से बाँट दो। दूसरे के धन को ललचाई दृष्टि से कदापि नहीं देखना चाहिए।[21]

वित्त का विनाश अवश्यम्भावी है। अतः अर्जन के समय ही निर्वेदभाव जागरित होना चाहिए जिससे वित्तनाश की पीड़ा से बचा जा सके। क्योंकि धन को सर्वस्व मानने वाले का धन नाश होने पर उसकी इन्द्रियाँ, नाम, बुद्धि और उसके वाक्य अर्थ की ऊष्मा से विरहित होकर अन्य से प्रतीत होने लगते हैं।[22] आचार्य शंकर भी यह कहते हैं कि वह पुरुष जो पहले सुवर्ण-कंकण आदि में आसक्ति रखता था, वही पुरुष जब शास्त्राध्ययन, सत्संगति आदि के द्वारा ममत्व बुद्धि का त्याग कर देता है और वैराग्य-भाव का संचय करता है तो फिर उसे उस स्वर्णादि के संग्रह से तथा उसके नाश से सुख या दुःख नहीं होते। यह वैराग्य-भाव का ही चमत्कार है कि वह वित्तादि क्षुद्र भावों से ऊपर उठाकर लोकोत्तर भावना में प्रतिष्ठित करता है।[23]

सारांश यह है कि यदि वैश्य संन्यास भाव से वित्त का अर्जन करे तो वह भी निःश्रेयस की प्राप्ति में समर्थ है। वैश्य हेतु संन्यासयोग की उपादेयता का यही रहस्य है।

4. शूद्र और संन्यासयोग

त्रैवर्णिकों के समान शूद्र को भी संन्यासयोग का अधिकार है और उसके लिए भी संन्यासयोग उसी भाँति निःश्रेयस की प्राप्ति कराने वाला है, जिस प्रकार उत्तम-वर्ण साधकों के लिए। अग्नि का स्वभाव जलाना है। अतः वह यह नहीं देखती कि किसे जलाना चाहिए अथवा किसे नहीं? संन्यासयोग भी अग्नि के सदृश है जो दुरितों का नाश करके साधक को निःश्रेयस की प्राप्ति कराता है। उसका अनुष्ठाता कोई भी हो, संन्यासयोग तो उसे पवित्र करेगा ही। इसलिए शूद्र भी संन्यासयोग से निःश्रेयस की प्राप्ति कर सकता है।

हमारे समाज में शूद्र को चतुर्थ स्थान पर रखा गया है।[24] प्रायः दासीपुत्रों को शूद्र कहा जाता था। चन्द्रगुप्त को मुरा नाम की दासी से उत्पन्न होने के कारण वृषल नाम से अभिहित किया गया। वाल्मीकि को चाण्डाल और लुटेरा कहा जाता है। विदुर को भी दासीपुत्र के रूप में ही जाना जाता है। शूद्रों को निर्वर्णक और अन्त्यज नाम से अभिहित करके सवर्णों से पृथक् रखा गया है। इसी कारण मनु महाराज ने इन्हें चतुर्थ स्थान पर वर्णक्रम में रखा है और समाज में त्रैवर्णिकों के पश्चात् निम्न स्थान प्रदान किया है। सामाजिक दृष्टि से भी आज

तक इन्हें वही स्थान प्राप्त है। इनकी इसी सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए तथा उच्च वर्णों के समकक्ष प्रतिष्ठापित करने के लिए शासन प्रयास कर रहा है। किन्तु संस्कार एवं सामाजिक दैन्य की स्थिति इन्हें उनके समकक्ष प्रतिष्ठित होने में बाधक है।

प्राचीन भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करने पर दृष्टिगत होता है कि शूद्र भी बल, बुद्धि, विद्या, सामर्थ्यादि में किसी से कम नहीं थे। ऋषि जावाल, नारद, विदुर, वाल्मीकि, एकलव्य, शबरी, निषादराज गुह् व चन्द्रगुप्त आदि गुणों के क्षेत्र में किसी से भी तुलना योग्य नहीं हैं।

नारद जी पूर्वजन्म में दासी के पुत्र थे जो बाद में तपश्चर्या से देवर्षित्व को प्राप्त हुए।[25]

महाराज चन्द्रगुप्त का नाम इतिहास प्रसिद्ध है। यद्यपि वह तेजस्वी सम्राट नन्द के पुत्र थे किन्तु मुरा नाम की शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण उन्हें राज्याधिकार से वंचित होना पड़ा। बाद में अपने लोकोत्तर प्रभाव व शौर्य के कारण वे मगध के सम्राट बने।

रामायणकार महर्षि वाल्मीकि को ज्ञान होने से पूर्व लुटेरा और चाण्डाल बताया जाता है। एकलव्य भील जाति का शूद्र था जिसने अपनी अतुलित मेधा व साधना के बल पर अर्जुन की धनुर्विद्या को तिरस्कृत कर दिया था।

शबरी व निषादराज गुह की भक्ति से प्रसन्न होकर राम ने उनको स्वयं सम्मान प्रदान किया।

विदुर जैसा नीतिज्ञ और धर्मात्मा पुरुष महाभारतकाल में अन्य दिखाई नहीं पड़ता। ऐसे शूद्रों ने भारतीय संस्कृति को सम्मान के योग्य बनाया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शूद्रों का अधिकार जीवन के सभी क्षेत्रों में अप्रतिहत था। गुण अथवा बुद्धि में ये किसी से हीन नहीं थे। इतनी प्रखर मेधा वाले को संन्यासयोग जैसी उत्तम साधना से कैसे वंचित किया जा सकता है? संन्यासयोग इनके लिए क्यों न कल्याणकारी सिद्ध होगा?

'शुचं द्रावयति इति शूद्रः' अर्थात् जो समाज के शोक को दूर करता है तथा अपनी सेवा से आनन्द देता है, वही शूद्र है। ब्राह्मणादि तीन वर्णों की रचना करनें के उपरान्त भी जब परमात्मा विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ, तब उसने शूद्र वर्ण की रचना की। पूषा शूद्रवर्ण है। यह पृथ्वी ही पूषा है। यही सब का पोषण करती है।[26]

उपनिषदों में कहीं भी शूद्र को निर्वर्णक या निम्न स्तरीय नहीं कहा गया है। सत्य की प्रतिष्ठा होने पर गौतम ने जाबाल को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया।[27]

उपनिषदों में शूद्रों को विद्याध्ययन का अधिकार प्रदान कर दिया गया है।

यद्यपि आचार्य शंकर मानते हैं कि संन्यासयोग अथवा ब्रह्मविद्या में शूद्र का साक्षात् अधिकार नहीं है। उनका मत है कि शूद्र इस जन्म में पुराण, स्मृति आदि का अध्ययन तो कर सकता है, ब्रह्मविद्या का नहीं। पुराणादि के अध्ययन तथा त्रैवर्णिक सेवा के फलस्वरूप उसे आगामी जन्मों में ब्राह्मण जाति में जन्म मिलेगा, तब उसे वेद विद्या के अध्ययन का अधिकार प्राप्त होगा। किन्तु स्वामी दयानन्द जन्मना वर्णव्यवस्था नहीं मानते। उनका मत है कि ब्रह्मविद्या और समस्त योगों में चातुर्वर्ण्य का समानाधिकार है।[28] यही हमारा भी मंतव्य है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि किसी ब्राह्मण से ब्रह्मज्ञान को सुनकर स्त्री और शूद्र भी कृतार्थ हो सकते हैं।[29] श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था तो प्रच्छन्न होकर पिशाच द्वारा सुनने पर वह भी मुक्त हो गया।[30] यही बात नैष्कर्म्य० में स्वीकार की गई है।[31] सांख्यसूत्र प्रणेता की मान्यता भी यही है।[32]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संन्यासयोग किसी विशेष जाति, आयु अथवा अवस्था के लिए नहीं बनाया गया। यह तो मनुष्यमात्र के लिए कल्याण-कारी उत्तम योग है, जिसका पालन प्रत्येक व्यक्ति वैराग्य-भाव दृढ़ होने पर कर सकता है।

आश्रम चतुष्टय में संन्यासयोगी की उपयोगिता

वर्ण चतुष्ट्य के समान ही आश्रम चतुष्ट्य के लिए भी संन्यासयोग का कोई प्रति-बन्ध नहीं है। विशेष रूप से इस शोध-प्रबन्ध में हमारा प्रतिपाद्य यही रहा है कि संन्यासयोग के लिए काल का कोई बन्धन नहीं है। इसमें अनिवार्यता केवल वैराग्य की है। जिस क्षण वैराग्य हो जाए, वही संन्यासयोग का समय है। इसी-लिए उपनिषदों में बार-बार कहा गया है कि प्रव्रज्या ब्रह्मचर्य से ही स्वीकार करनी चाहिए अथवा गृहस्थ से अथवा वानप्रस्थ से भी संन्यास लिया जा सकता है।[33] आश्रमत्रय चतुर्थाश्रम में सहायक है, बाधक नहीं। इसीलिए जब वैराग्य दृढ़ हो जाए तभी प्रव्रज्या ग्रहण करने का आदेश दिया गया है।[34] महर्षि कपिल ने भी काल का निर्धारण स्वीकार नहीं किया।[35] उनका अभिप्राय यह है कि योगाभ्यास अथवा विवेकज्ञान हेतु किसी काल विशेष की आवश्यकता नहीं होती। महर्षि वामदेव ने तो पूर्वजन्म में किए हुए साधनों के परिणामस्वरूप गर्भ में ही ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसी बात को बृहदारण्यक में स्वीकार किया गया है।[36]

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का ज्ञान गृहस्थाश्रम में ही दिया था। उसने तत्वज्ञान समझ लिया। इसीलिए कृष्ण ने अर्जुन को कहा कि तुमने समस्त ज्ञान

प्राप्त कर लिया और तुम सर्व हो गए हो।[37]

यहाँ विचारणीय है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम में संन्यासयोग किस प्रकार से उपयोगी है। उक्त आश्रम संन्यासयोग में सहायक हैं, बाधक नहीं। यहाँ संक्षिप्त रूपेण विचार प्रस्तुत किए जा रहे हैं :

1. ब्रह्मचर्याश्रम और संन्यासयोग

संन्यासयोग का सर्वोत्तम समय ब्रह्मचर्य ही होता है क्योंकि इस समय चित्त विषयों से अस्पष्ट रहता है। इन्द्रियाँ वश में रहने से विषय-वासनाएँ प्रभाव नहीं डालती। किन्तु ब्रह्मचर्यकाल में संन्यासयोग का प्रारम्भ निर्विघ्न हो जाने पर भी उसकी चरम परिणति सहसा नहीं होती। जिस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत असिधार व्रत के समान कठिन है, उसी प्रकार इस काल में संन्यासयोग की पूर्णता को प्राप्त कर लेना भी साधारण व्यक्तियों के लिए सरल नहीं है। आयु की वृद्धि होने पर युवावस्था शारीरिक व मानसिक विकास करती है। देह, इन्द्रियाँ और चित्त संसार की ओर उन्मुख होने लगते हैं। इसी कारण ब्रह्मचर्य से लोग गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं तथा भोग द्वारा इन्द्रियों को निर्बल करके संन्यासाश्रम में प्रवेश करते हैं। कुछ लोग ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, फिर वानप्रस्थ और तत्पश्चात् संन्यास का ग्रहण करते हैं। इनमें ब्रह्मचर्य से संन्यासयोग की साधना को अपनाने वाले उत्तम, गृहस्थ से संन्यासयोग धारण करने वाले मध्यम तथा अंतिम निकृष्ट कोटि के कहे जाते हैं। अतः ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण करना अधिक उपयोगी है।

महाभारत में ब्रह्मचारी को संन्यासयोगी ही बताया गया है क्योंकि वह उस समय किसी व्रत और कर्मों का अनुष्ठान न करके संसार से विमुख होकर वीर्य रक्षा में ही तत्पर रहता है।[38]

ब्रह्मचर्यकाल शास्त्राभ्यास का समय है किन्तु अधिक शास्त्राभ्यास से संशय-ग्रस्त हो सकता है। अतः अधिक शास्त्राभ्यास न करें क्योंकि यह तो केवल वाणी का श्रम है।[39] कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि ब्रह्मचर्यकाल में श्रवण आवश्यक तो है किन्तु केवल श्रवण से ब्रह्म ज्ञेय नहीं है।[40] वह केवल संन्यासयोग से ही प्राप्त होता है।

ब्रह्मचारी चार प्रकार के होते हैं—गायत्र, ब्राह्मण, प्राजापत्य और बृहत्।[41]

गायत्र : जो ब्रह्मचारी उपनयन के पश्चात् तीन रात्रि तक क्षार और लवण का सेवन न करते हुए गायत्री मंत्र का जप करता है, वह गायत्र ब्रह्मचारी है। इस प्रकार कुछ-कुछ अन्तराल के पश्चात् उसका यह गायत्री जप निरन्तर चलता रहता है। ऐसा ब्रह्मचारी 25 वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करता है।[42] इसी को स्वामी दयानन्द ने कनिष्ठ ब्रह्मचर्य कहा है।[43]

ब्राह्मण : जो ब्रह्मचारी अड़तालीस वर्ष पर्यन्त वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह ब्राह्मण कहलाता है। इसमें एक वेद के लिए बारह वर्ष का समय रखा गया है। यदि अध्ययन पूर्ण न हो तो वेदाध्ययनपूर्ण होने तक ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ब्रह्मचारी ब्राह्मण है।[44] इसी को स्वामी दयानन्द ब्रह्मचर्य कहते हैं।[45]

प्राजापत्य : जो गृहस्थ अपनी पत्नी के साथ ऋतुकाल में ही अभिगमन करते हैं, पर-नारी से सर्वथा दूर रहते हैं, वे प्राजापत्य ब्रह्मचारी कहलाते हैं।[46] अथवा जो ब्रह्मचारी चौबीस वर्ष पर्यन्त गुरुकुल में रहता है, वह भी प्राजापत्य ब्रह्मचारी कहलाता है।[47]

बृहत् : जो मृत्यु पर्यन्त निष्ठापूर्वक गुरु के समीप रहता है तथा वेद व वीर्य की रक्षा करता है, वह बृहत् ब्रह्मचारी है।[48] हनुमान, भीष्म तथा स्वामी दयानन्द ऐसे ही ब्रह्मचारी थे। इन्हीं को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता है।

2. गृहस्थ और संन्यासयोग

इन्द्रियों के वशीभूत रहने वाले मध्यम कोटि के अधिकारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना बुरा नहीं है। वह भी संन्यासयोग की दिशा में एक कदम है। क्योंकि लक्ष्य केवल इन्द्रियों का वशीकरण है। किसी की इन्द्रियाँ तत्वोपदेश तथा शास्त्राभ्यास से वश में होकर संसार से विरक्त हो जाती हैं किन्तु किसी की इन्द्रियाँ विषयों के भोग से विनिवृत. होती हैं। लक्ष्य एक ही है, उपाय दो हैं। इसीलिए तो उपनिषदों में कहा गया है कि ब्राह्मण ब्रह्म को अनेक उपायों से जानने का प्रयास करते हैं। कोई वेदाध्ययन से, कोई यज्ञ से, कुछ दान से और कुछ साधक तप से उसे जानकर मुनि बनते हैं।[49] इस प्रकार साधक के द्वारा उठाया गया प्रत्येक चरण अन्त में विषय निवृति की ओर ही ले जाता है। इसीलिए गार्हस्थ्य भी संन्यासयोग का एक उपाय है।

गृहस्थाश्रम केवल विषय भोगों के लिए ही एक प्रमाणित आदेशपत्र नहीं होता। अपितु उसमें भी अपनी भोगेच्छाओं पर नियन्त्रण रखने का निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिए। निरन्तर यह भावना करनी चाहिए कि मृत्युपर्यन्त मनोरथों का अन्त नहीं होगा। मनोरथों में आसक्त चित्त कभी भी परमार्थ की दिशा में जा ही नहीं सकता।[50] कामनाएँ कभी भी उपभोग से शान्त नहीं हुआ करतीं। वह हो घृत से अग्नि के समान निरन्तर बढ़ा करती हैं।[51] जब निरन्तर यह भावना की जाएगी तो गृहस्थाश्रम बन्धन का कारण नहीं बनेगा। उपनिषदों और पुराण में याज्ञवल्क्य, जनकादि अनेक ऋषियों का वर्णन आता है, जिन्होंने गार्हस्थ्य का सुख भोग करते हुए भी संन्यासयोग का पालन किया था।

छान्दोग्योपनिषद् में धर्म के तीन स्कन्ध बताए हैं। यहाँ यज्ञ को ब्राह्मण

का धर्म कहा गया है और उसे तप की संज्ञा दी गई है।[52] इससे सिद्ध होता है कि गृहस्थाश्रम कोई पुष्प शय्या नहीं है अपितु वह तो एक तपःस्थली है, जिसमें शनैः-शनैः विषयों के जाल को काटकर आगे बढ़ने की लालसा प्रतिक्षण बनी रहनी चाहिए।

आश्रमोपनिषद् में गृहस्थों के चार भेद बताए गए हैं—वार्ताक वृत्ति, शालीनवृत्ति, यायावर और घोर संन्यासिक।[53] इन चारों में उत्तरोत्तर गृहस्थ पूर्व-पूर्व की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और आध्यात्मिकता की ओर झुका होता है।

वार्ताक वृत्ति : कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य का उपयोग करने वाले गृहस्थी वार्ताक वृत्ति होते हैं।[54]

शालीन वृत्ति : शालीन वृत्ति गृहस्थ स्वयं तो यज्ञ करते हैं किन्तु दूसरे के घरों में यज्ञ नहीं कराते। स्वयं अध्ययन करते हैं, अध्यापन नहीं करते। दान करते हैं, दान ग्रहण नहीं करते।[55]

यायावर : यायावर गृहस्थी स्वयं भी यज्ञ करते हैं और दूसरों के घर भी यज्ञ कराने के लिए जाते हैं। स्वयं भी अध्ययन करते हैं, अध्यापन भी कराते हैं। दान देते भी हैं, लेते भी हैं। शत वर्ष पर्यन्त यज्ञ में लीन रहते हैं।[56]

घोर संन्यासी : घोर संन्यासी गृहस्थी पवित्र जलों से निरन्तर घर की शुद्धि करते हुए प्रतिदिन लाए हुए उञ्छ (सिला) से आजीविका चलाते हैं।[57]

इस प्रकार इन चारों ही गृहस्थों में तप की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इनका प्रत्येक कदम संन्यासयोग की दिशा में ही अग्रसर होता है।

3. वानप्रस्थ और संन्यासयोग

वानप्रस्थ तपस्वी संन्यासयोग के अधिक निकट होते हैं। गार्हस्थ सुख-दुःख का अनुभव करते हुए इनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो चुकी होती हैं और मन्मथ का व्यापार अधिक सीमा तक विरत हो चुका होता है। इसी को लक्ष्य करे कालिदास ने वानप्रस्थ को कामदेव के व्यापार का अवरोधक कहा है।[58] इसका कारण यही है कि काम चेष्टाएँ इस अवस्था में मृतप्रायः हो चुकी होती हैं। जो शेष रह भी जाती हैं, उन्हें इस आश्रम की कठिन तपश्चर्या नष्ट कर देती है। ज्यों-ज्यों तपश्चर्या कठोर होती जाती है, त्यों-त्यों वानप्रस्थ पुरुष का शरीर इन्द्रियाँ और चित्त जरठ होता जाता है तथा संन्यासयोग के लिए उपयुक्त माना जाता है।

प्रायः पचास वर्ष की आयु ही गृहस्थ की जिम्मेदारी का समय समझा जाता है। उसके पुत्र पुत्री का विवाह हो जाता है, पौत्र दोहित्र का जन्म हो जाता है। उस समय गृहस्थ का भार पुत्र संभाल लेता है। अतः उसकी आवश्यकता न होने के कारण उपेक्षा होने लगती है। तिरस्कार व अपमान से उद्विग्न होकर पुरुष अरण्य की शरण लेते हैं। आज नौकरी से अवकाश प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति

स्वयं को उपेक्षित अनुभव करता है।

यह आवश्यक नहीं है कि गृहत्याग करके अरण्य में वास किया जाए, तभी वानप्रस्थ होगा। घर में रह कर भी अरण्यवास के कष्टों को अनुभव किया जा सकता है। वानप्रस्थ भी एक भावना ही है। भवभूति ने कहा है कि प्रियजनों से वियुक्त होकर सम्पूर्ण जगत ही अरण्य प्रतीत होता है।[59] अतः गृहस्थ की सुख-सुविधाओं का त्याग करके जब पुरुष तपस्या के जीवन का आरम्भ करता है, वही उसका वानप्रस्थ काल समझना चाहिए। यदि अरण्य में रह कर भी समस्त सुख-साधन एकत्र कर लिये जाएँ तो वह अरण्यवास अधिक विनाशकारी होगा।

वानप्रस्थ भी चार प्रकार का होता है—वैखानस, उदुम्बर, बालखिल्य और फेनप।[60]

वैखानस : बिना जुते हुए खेतों से औषधि और वनस्पतियों से अग्निहोत्रादि पंचमहायज्ञों का सम्पादन करने वाले वानप्रस्थ वैखानस कहलाते हैं।[61]

उदुम्बर : उदुम्बर वानप्रस्थ प्रातःकाल उठकर जिस दिशा की ओर देखते हैं, उसी दिशा में जाकर उदुम्बर (गूलर), बेर, नीवार, श्यामाक अदि का संग्रह करते हैं और उनसे अग्नि की परिचर्या करते हैं।[62]

बालखिल्य : बालखिल्य वानप्रस्थ जटाओं को धारण करते हैं। काषायवस्त्र, चर्म अथवा वल्कल से शरीर को ढकते हैं। कार्तिक-पूर्णिमा से चार माह पर्यन्त केवल फल-फूल खाकर गुजारा करते हैं। शेष आठ मास में ही वृत्ति का उपार्जन करते हैं।[63]

फेनप : फेनप वानप्रस्थ उन्मत्त की भाँति घूमते रहते हैं। सूखे पत्ते व सूखे फल खाते हैं। जहाँ-जहाँ जाते हैं, वहीं सुविधानुसार अग्नि होत्र करते हैं।[64]

इस प्रकार चारों वानप्रस्थ उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कहे गए हैं। चतुर्थ प्रकार के वानप्रस्थ तो संन्यास में प्रविष्ट ही हो चुके होते हैं। अतः वानप्रस्थ और संन्यास-योग दोनों अत्यन्त समीप की स्थिति वाले हैं।

संन्यासयोग से अशरीरत्व की प्राप्ति

संन्यासयोग की पूर्णता पर साधक को अशरीरत्व की प्राप्ति होती है। यह अशरी-रता साधक का सर्वस्व है। छान्दोग्य में कहा गया है कि सुख और दुःख सशरीर प्राणी को ही होते हैं। अशरीर प्राणी को सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। उस समय पुरुष अमृत हो जाता है तथा साधक कृतकृत्य हो उठता है।[65]

यहाँ सशरीरता व अशरीरता की व्याख्या की अपेक्षा है। सामान्यतः देह-धारण को सशरीरता व देहपात के अनन्तर जीवात्मा का स्थूल से वियुक्त होना अशरीरता समझा जाता है। किन्तु आचार्य शंकर कहते हैं कि देहधारण का नाम

सशरीरता और देह के वियोग का नाम अशरीरता नहीं है अपितु सशरीरता व अशरीरता एक भावना विशेष है। स्वभाव से आत्मा सुख-दुःख से नितान्त रहित है। वह अशरीर है। अशरीर स्वभाव आत्मा का अविवेक कि 'मैं ही शरीर हूँ तथा शरीर ही मैं हूँ' यही सशरीरता है।[66] संन्यासयोग के द्वारा जिसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है, वह साधक स्थूल देह से रहते हुए भी अशरीर कहलाता है। उस समय उसे न प्रियवस्तु के संयोग से सुख होता है और न ही अप्रिय की प्राप्ति से दुःख होता है।[67]

सुख-दुःख में साम्यावस्था की स्थिति प्राप्त संन्यासयोगी ही जीवन्मुक्त अवस्था में रहकर निष्काम भाव से नित्यकर्मों का सम्पादन करता है। उसके शरीर को यदि कोई कष्ट प्राप्त होता है तो वह अशरीरी उसका अनुभव नहीं करता। ऐसे अशरीरी संन्यासयोगियों को ही परमधाम की प्राप्ति होती है।

संन्यास से हिरण्यगर्भ लोक की प्राप्ति

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जो विद्वान् तप व श्रद्धा का आचरण करते हुए अरण्यवास करते हैं तथा भिक्षावृत्ति से जीवनयापन करते हैं, वे रजोगुण से रहित होकर सूर्यद्वार से उस लोक में जाते हैं जहाँ अव्यय स्वभाव परम पुरुष रहता है।[68]

आचार्य शंकर ने इसका अर्थ करते हुए कहा है कि जो ज्ञानी वानप्रस्थ व संन्यासी स्वाश्रमविहित कर्म करते हुए तथा हिरण्यगर्भादि विषयक विद्या का अध्ययन करते हुए भिक्षावृति अपनाकर अरण्यवास करते हैं, वे पापपुण्यों को क्षीण करके सूर्यद्वार से सत्यलोक में जाते हैं, जहाँ अव्यय हिरण्यगर्भ पुरुष रहता है। वहाँ वे तब तक रहते हैं, जब तक संसार है।[69]

मुण्डकोपनिषद् में ही आगे कहा है कि वेदादि सच्छास्त्रों के अध्ययन द्वारा जिन्होंने तत्वज्ञान प्राप्त कर लिया है, संन्यासयोग द्वारा जिनका अन्तःकरण निर्मल हो चुका है, ऐसे संन्यासी देहपात के अनन्तर बन्धन से छूटकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।[70]

आचार्य शंकर इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वेदान्त जनित विज्ञान द्वारा जिन्होंने आत्मारूप अर्थ का निश्चय कर लिया है तथा संन्यासयोग द्वारा जिनका अन्तःकरण निर्मल हो चुका है, ऐसे संन्यासी ब्रह्मभूत होकर देहपात के अनन्तर ब्रह्मलोक में जाकर मुक्त हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्म ही हो जाते हैं।[71]

सामान्य रूप से इन दोनों ही मन्त्रों का अर्थ देखने पर ज्ञात होता है कि संन्यास का फल हिरण्यगर्भ लोक तथा ब्रह्मलोक की प्राप्ति है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि क्या ये दोनों भौतिक लोक हैं? यदि भौतिक लोक हैं तो नाशवान

होंगे। क्या संन्यासयोग का यही नश्वर फल है ?

सर्वप्रथम तो यहाँ स्पष्ट करना उचित होगा कि संन्यासयोग तथा संन्यासाश्रम दोनों भिन्न हैं और इनका फल भी भिन्न है। 'तपः श्रद्धे' इत्यादि मन्त्र में जिस हिरण्यगर्भ लोक की चर्चा की है, वह निश्चित ही एक भौतिक लोक है, जिसकी रचना सृष्टिकाल में होती है तथा प्रलय के समय इसका नाश हो जाता है। इस लोक में वे संन्यासी जाते हैं जो संन्यासधर्म का पालन करते हैं। इसमें तप और श्रद्धा का आचरण अनिवार्य है। इसी में यज्ञोपवीतादि का धारण किया जा सकता है, यद्यपि यह अपेक्षित नहीं है। इसमें श्रद्धापूर्वक कठोर तपश्चर्या से श्रद्धा का अर्जन किया जाता है। आचार्य शंकर तप का अर्थ स्वाश्रमविहित कर्म तथा श्रद्धा का अर्थ हिरण्यगर्भादि विषयक विद्या करते हैं।[72] इन दोनों का अनुष्ठान संन्यासाश्रम में किया जाता है संन्यासयोग में नहीं। जिसे हमने संन्यासयोग कहा है, वह तो त्रिविध एषणाओं के त्यागपूर्वक निर्वेद की प्राप्ति का नाम है।

'वेदान्त विज्ञान' इत्यादि मन्त्र में जिस ब्रह्मलोक का उल्लेख है, वह संन्यासयोग का फल है। उस संन्यासयोग का अर्थ आचार्य शंकर ने सर्वकर्म परित्याग किया है तथा ब्रह्मनिष्ठा ही उस संन्यास का स्वरूप है।[73] वह ब्रह्मलोक कोई भौतिक लोक नहीं है अपितु ब्रह्म ही ब्रह्मलोक है। 'ब्रह्मलोकेषु' में जो बहुवचन दिखाई दे रहा है, इसमें ब्रह्मलोकों का बहुत्व नहीं जानना चाहिए। ब्रह्म अथवा ब्रह्मलोक एक ही है। किन्तु भूमा होने के कारण लोगों के द्वारा अनेकतवत् देखा और प्राप्त किया जाता है।[74]

अभिप्रायः यही हुआ कि संन्यासयोग से ब्रह्मज्ञानी किसी ब्रह्मलोक में नहीं जाता अपितु बह्म ही हो जाता है। उस ब्रह्म को जो प्राप्त होता है, वह मुक्त हो जाता है। जैसे पक्षी आकाश में उड़ते हुए अपने चरणों का चिह्न तथा जलचर जल में अपनी गति का चिह्न नहीं छोड़ते, वैसे ही जब ज्ञानवान संन्यासी ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है तो वह अपने पीछे किसी प्रकार का चिह्न नहीं छोड़ता अर्थात् उसके शुभाशुभ कर्म व संस्कार नहीं बचते।[75]

स्वामी दयानन्द का मत है कि वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होकर ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोग के पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति सुख को छोड़ के संसार में आते हैं। इसकी संख्या यह है कि तेंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शतवर्षों का एक परान्तकाल होता है। इतना समय मुक्ति में सुख भोगने का है।[76]

स्वामी जी के इसी मत की पुष्टि आचार्य शंकर ने 'तपः श्रद्धे' की व्याख्या करते हुए की है कि हिरण्यगर्भ लोक में वे संन्यासी तब तक रहते हैं, जब तक

संसार है।[77] इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्वामी जी ने जिसे मुक्ति का स्थान कहा है, वह हिरण्यगर्भ लोक ही है। एक परान्तकाल के पश्चात् प्रलय होकर संसार का नाश हो जाता है। फिर पुनर्जन्म प्राप्त होता है तथा वह मुक्तात्मा पुनः शरीर धारण करता है। आचार्य शंकर ने उक्त हिरण्यगर्भ लोक को संन्यासाश्रम की गति का स्थान तथा एषणा-त्याग रूप संन्यासयोग को आत्मज्ञान का अंग माना है। आश्रम रूप संन्यास ब्रह्मलोक अथवा हिरण्यगर्भादि लोक फल की प्राप्ति का साधनभूत है, जिसमें यज्ञोपवीतादि लिंग धारण किए जा सकते हैं।[78] इस लोक से निवर्तन आवश्यक है। आचार्य शंकर जिस ब्रह्मलोक की बात करते हैं, वह संन्यासयोग का फल है। संन्यासयोग ही मोक्ष का सर्वोत्तम साधन है।

संन्यास सहित आत्मज्ञान से मुक्ति

मुक्ति के साधन के रूप में कोई ज्ञान को स्वीकार करता है तो कोई कर्म को। कोई ज्ञान-कर्म समुच्चय को मुक्ति का मुख्य साधन मानता है। हमारा विचार है कि आत्मज्ञान ही मुक्ति का साधन है किन्तु वह संन्यासयोग से युक्त होना चाहिए। कर्म सहित आत्मज्ञान से मुक्ति नहीं होती।[79] ज्ञान तो ब्रह्मचर्य तथा गार्हस्थ्य में भी होता है। गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान भी गम्भीर होता है किन्तु जब तक उसमें संन्यास का पूर्ण वैराग्य-भाव नहीं आता, तब तक कर्माशयों का नाश नहीं हो पाता। संन्यासयोग द्वारा संस्कार दग्धबीजावस्था को प्राप्त होते हैं। इसीलिए मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा को आत्मनिष्ठा से जनित बल के बिना नहीं जाना जा सकता। न ही गार्हस्थ्य रूप प्रमाद से और न ही संन्यासरहित ज्ञान से उसका ज्ञान सम्भव है।[80] अपितु जो साधक बल, अप्रमाद और संन्यास सहित ज्ञान से यत्न करता है, उसी विद्वान् का आत्म-ब्रह्म-रूप धाम में प्रवेश करता है।[81]

बृहदारण्यकोपनिषद में कहा गया है कि जब तक बल और पाण्डित्य के साथ निर्वेद नहीं होगा, तब तक आत्मज्ञान सम्भव नहीं है।[82] आचार्य शंकर ने इस तथ्य को अनेक स्थानों पर बार-बार दोहराया है कि संन्यास सहित आत्मा के विशेष ज्ञान से ही मुक्ति होती है।[83]

संन्यासयोग सिद्धि के उपाय

संन्यासयोग समस्त योगों में उत्तम योग कहा गया है। इसकी सिद्धि एक जीवन में असम्भव-सी ही होती है। गीता में कहा गया है कि अनेक जन्मों में सिद्ध होकर

मनुष्य परम गति को प्राप्त करता है।[84] अतः संन्यासयोग की दुष्कर साधना हेतु सहायक तत्वों पर विचार करना समीचीन होगा।

शोध-ग्रन्थ में यत्र-तत्र संन्यासयोग की सिद्धि में सहायक तत्वों पर विचार किया गया है। किन्तु यहाँ पर उन साधकों के लिए उपायों की ओर इंगित किया जा रहा है, जिनकी चित्तवृत्ति अभी उस ओर प्रवृत्त नहीं हुई है। यदि एक बार कोई साधक योगारुढ़ हो जाता है तो कभी मन्थर गति से और अभी द्रुत गति से निरन्तर चलता ही रहता है। इन्द्रिय-चांचल्यवश यदि कभी उसका पतन भी हो जाता है तो वह प्रयास करके पुनः संभल जाता है। किन्तु जो साधक अभी योगारुढ़ नहीं हुआ है, उसे संन्यासयोग के पथ पर अग्रसर होने के लिए निम्नलिखित उपायों का आश्रय ग्रहण करना चाहिए, जिससे नितान्त व्युत्थित चित्त पुरुष भी लाभान्वित हो सकते हैं।

1. तत्वोपदेश

प्रायः साधारण पुरुष अपने स्वरूप से अनभिज्ञ होते हैं। आत्मा का स्वरूप जानना अत्यन्स दुष्कर होता है। अतः साधकों को चाहिए कि वे तत्ववेत्ताओं के सान्निध्य में बैठकर तत्वचर्चा सुनें। तत्वोपदेश सुनकर शनैः-शनैः साधारण पुरुष भी अपने स्वरूप को जानकर निःश्रेयस मार्ग पर चल पड़ते है। इस विषय में राजपुत्र का दृष्टान्त दिया जाता है।[85] जैसे अमात्य के उपदेश से स्वयं को भील समझने वाला राजपुत्र अपने राजपुत्र होने का ज्ञान प्राप्त करके सुखोपभोग करने लगा,[86] उसी प्रकार साधारण पुरुष भी ब्रह्मयज्ञ और तत्ववेत्ता पुरुषों का उपदेश सुनकर अपने स्वरूप व लक्ष्य को पहचान कर निवृत्तिमार्ग की ओर अग्रसर हो सकता है।

2. निरंतर अभ्यास

तत्वोपदेश को सुनकर उनकी असकृत् आवृति और बार-बार उनका आचरण करना संन्यासयोग का द्वितीय महत्वपूर्ण साधन है। जैसे मिट्टी के घट के बार-बार आघात से पत्थर घिस जाता है,[87] उसी प्रकार उपदेशों का बार-बार श्रवण करने से तथा आचरण से चित्त का मल धीरे-धीरे छूटने लगता है।[88] इसीलिए छान्दोग्य में गौतम ने श्वेतकेतु को बार-बार 'तत्वमसि' का उपदेश दिया है। तभी वह यह समझ सका कि समस्त ब्रह्माण्ड में एक ही तत्व ओतप्रोत है।[89] महर्षि व्यास ब्रह्मसूत्र में अभ्यास की महिमा बताते हैं :[90]

3. वैराग्य

संन्यासयोग में प्रतिष्ट होने के अभिलाषी पुरुष को प्रारम्भ से ही विरक्ति का

अभ्यास करना चाहिए। यद्यपि वैराग्य सहसा नहीं होता किन्तु यमलोक को निरन्तर जाते हुए प्राणियों को देखकर वैराग्य-भाव जागरित किया जा सकता है। अपने पिता व पुत्रादि की मृत्यु को देखकर संसार के जन्म व उसकी क्षण-भंगुरता का अनुमान कर लेना चाहिए।[91] जब संसार को छोड़कर जाना अवश्यंभावी है तो फिर इन ऐश्वर्यों से मोह कैसा ?

4. अपरिग्रह

संन्यासाभिलाषी व्यक्ति को चाहिए कि वह जीवन में कम-से-कम परिग्रह करे। अत्यधिक द्रव्यों का संग्रह बन्धन का कारण बनता है। हम देखते हैं कि लोक में पुरुष द्रव्यों के त्याग से सुखी होता है तथा संग्रह से दुःखी होता है। यदि बाज के मुख का मांस कोई बलात् छीन लेता है तो बाज को कष्ट होता है किन्तु जब वह स्वेच्छा से उसे छोड़ देता है तो कोई कष्ट नहीं होता अपितु सुखी होता है। इसीलिए परिग्रहीत धन जब बलात् छोड़ना पड़ता है तो मनुष्य को कष्ट होता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि पहले से ही परिग्रह से बचे। जैसे कुरर पक्षी मांस के टुकड़े को त्यागकर सुखी हो गया।[92] मनु ने कहा है कि जब वृक्ष नदी तट को छोड़ देता है तो पक्षी उस वृक्ष को छोड़ देते हैं, उन्हें कष्ट नहीं होता। उसी प्रकार जब जीवात्मा इस नश्वर देहाभिमान से स्वयं को स्वेच्छया मुक्त कर लेता है तो फिर उसे कष्ट का अनुभव नहीं होता।[93]

बृहदारण्यक में कहा गया है कि जैसे सर्प केंचुली से मोह नहीं करता, वैसे ही आत्मा शरीर से मोह नहीं करती।[94] आत्मोपनिषद् में भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया गया है।[95] वाराहोपनिषद् में भी कहा है कि सर्प का निर्मोक केंचुली के गिरने पर सर्प उसका अभिनन्दन नहीं करता।[96] उसी प्रकार जीव को परिग्रह से बचना चाहिए।

5. विवेक के बहिरंग साधनों का चिन्तन न करना

संन्यासयोग का अन्तरंग साधन वैराग्य है। केवल उसी की भावना दैनंदिन व्यवहार में करनी चाहिए। विवेक के बहिरंग साधन भले ही धर्मयुक्त भी क्यों न हों, उनका चिन्तन कदापि न करें। जैसे जीवों पर दया करना एक उत्तम गुण और धर्मकृत्य है किन्तु संन्यासयोग का यह अन्तरंग साधन नहीं है, प्रत्युत् विघ्न ही है। जीवदया से मोह होने के कारण चित्त विवेकभ्रष्ट हो जाता है। जैसे जड़ भरत को हरिण शावक के मोह में बंधकर आगामी जन्म में हरिण योनि में जन्म लेना पड़ा।[97]

6. जनसंग परित्याग

योगसाधनाभिलाषी पुरुष को केवल सत्पुरुषों का संग करना चाहिए। जन सम्मर्द (भीड़) के सम्पर्क से दूर रहने का ही प्रयास करना चाहिए। बहुत पुरुषों के साथ सम्पर्क करने से राग द्वेषादि की अभिव्यक्ति होती है, जिससे कलह होता है तथा पुरुष सतत् उसके विनाश का ही चिन्तन करता रहता है। कलहप्रिय और कलहासक्त व्यक्ति योग की दिशा में अग्रसर हो ही नहीं सकता। आजीवन वैरभाव में ही समय बीतता है। इसीलिए संन्यासयोग में प्रविष्ट होने के इच्छुक पुरुष को एकान्तसेवी होना चाहिए।[98] यतियों को दो, तीन, पाँच के समूह में भी नहीं रहना चाहिए क्योंकि उनमें भी वरिष्ठ व कनिष्ठ भेद से एक उन सबका अधिष्ठाता होगा। उसमें भी स्नेह, पैशुन्य, मात्सर्यादि अवश्य उत्पन्न होंगे।[99] महाभारत में भी कहा गया है कि जैसे कुमारी के हाथ में पड़ा हुआ एक शंख शब्द नहीं करता वैसे ही एकाकी रहने वाला व्यक्ति कलह से दूर रहता है।[100] इसी को भागवत पुराण में भी स्वीकार किया गया है।[101]

7. नैराश्य

योगवासिष्ठ में कहा गया है कि आशा समस्त दुःखों का मूल है। निराशा ही योगी के लिए परम कल्याणी है। आशा को छोड़ कर ही पुरुष सन्तोषसुख का लाभ करता है। महाभारत में पिंगला वेश्या का आख्यान यही स्पष्ट करता है।[102] इसलिए जिज्ञासु पुरुष को जीवन में सुखों की आशा नहीं करनी चाहिए। भागवत् में भी कहा गया है कि जैसे पिंगला पति की आशा छोड़कर सुखपूर्वक सोई, उसी प्रकार आशा को छोड़कर ही दुःख की निवृत्ति हो सकती है।[103] आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि चित्त का स्वाभाविक गुण सुख ही है। आशा के द्वारा वह सुख दबा दिया जाता है। आशा समाप्त होने पर वह सुख पुनः उसी प्रकार प्रकट हो जाता है, जैसे जल से ऊष्णता समाप्त होने पर उसका स्वाभाविक शैत्य प्रकट हो जाता है।[104] यही आत्मा का सुख है।

8. आरम्भ त्याग

गृह, व्यवसाय, उद्योग आदि का प्रारम्भ करना संसार की दिशा में ही मनुष्य को अग्रसर करता है। इसलिए श्रेयोमार्ग की ओर जाने वाले साधक को बड़े-बड़े आरम्भों और समारोहों से अपने आपको बचाना चाहिए। आजीविका तो वृक्षों के नीचे अथवा पर्णकुटी बनाकर भी चल सकती है किन्तु व्यक्ति यशोलिप्सा और सुखभोग के मनोरथों से प्रेरित होकर गृह का निर्माण करता है। पुत्रेषणा उसे गृहस्थ में प्रवेश कराती है। फिर पुत्र के लालन-पालन में मोह का बंधन अधिक दृढ़ होता जाता है। फिर पौत्रादि की इच्छा में वह जीर्ण से जीर्णतर

होता जाता है। इस गृहस्थ के जाल से छूटने की कोशिश में वह और उलझता जाता है।[105] महाभारत में कहा गया है कि गृहारम्भ दुःखदाई है।[106] भागवत में भी यही कहा है।[107] अतः आरम्भ का त्याग अनिवार्य है।

9. सारग्रहण की प्रवृति

श्रेयस्कामी की प्रवृति प्रारम्भ से ही सारग्रहण की होनी चाहिए। विभिन्न शास्त्रों में जो उपयोगी है, वह हंस की रीति से ग्रहण कर लेना चाहिए। कबीर ने प्रेम, मीरा ने भक्ति, शंकराचार्य ने ज्ञान का ग्रहण अपनी रुचि के अनुकूल उपयोगिता समझ कर किया। जैसे भ्रमर सारभूत पराग का ग्रहण करता है, उसी प्रकार साधक को शास्त्रों से सारग्रहण करना चाहिए।[108] संशयालु पुरुष साधना में नहीं बढ़ सकता। मार्कण्डेय पुराण में कहा है कि जो पुरुष यह सोचता है कि 'मैं यह भी जान लूँ' 'वह भी जान लूँ', इस प्रकार तृषित करके जो अनेक ज्ञानों की लालसा उसे शास्त्रों में भटकाए रखती है तो सहस्रों कल्पों में भी ज्ञान की सम्पूर्णता नहीं हो सकती। अतः उसे अपने उपयोग का ज्ञान ग्रहण करके सन्तुष्ट हो जाना चाहिए।[109]

10. एकाग्रता

संन्यासयोग की साधना में तो एकाग्रता अनिवार्य है ही किन्तु प्रवेश करने से पहले भी पूर्ण सावधानी के रूप में चित्त की एकाग्रता अत्यन्त अनिवार्य है। जैसे इषुकार बाण बनाने में एकाग्रचित्त होता है तो पास से गुजरते राजा को भी नहीं देखता।[110] उसी प्रकार साधक को एकाग्रचित्त होकर संन्यासयोग की साधना में रत होना चाहिए। तभी वह स्वलक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा। क्योंकि विषयविमुख चित्त वाले साधक का कभी भी समाधि की अवस्था से पतन नहीं होता।[111]

11. शास्त्रकृत नियमों का अनुल्लंघन

शास्त्रकारों द्वारा विभिन्न नियमों की स्थिति और समयानुकूल पालन करने का आदेश किया गया है। उनका उल्लंघन करने पर कार्य सिद्ध नहीं हो सकते। संन्यासयोग में जटी या मुण्डी होना, दण्ड कमण्डलु का धारण करना आदि बाह्य-लिंग इतने आवश्यक नहीं हैं, जितने उसके अन्तरंग साधन अभ्यास वैराग्यादि। किन्तु इन बाह्यलिंगों का भी चित्त पर प्रभाव पड़ता है! संसार में आसक्ति नहीं होती। शास्त्रोक्त मर्यादाओं का विस्मरण नहीं होने देना चाहिए क्योंकि थोड़ी-सी भूल भी लक्ष्यच्युत कर सकती है। जैसे राजा की भूल से उसकी पत्नी भेकी बनकर जल में प्रविष्ट हो गई।[112]

12. श्रवण-परामर्श

केवल शास्त्र श्रवण से लाभ नहीं होता जब तक उसका एकान्त में परामर्श न किया जाए। गुरु वाक्य के तात्पर्य का निर्णय करने वाला विचार-परामर्श कहलाता है। उस परामर्श के बिना सहस्रों वर्षों तक शास्त्राध्ययन तथा उपदेश श्रवण का कोई लाभ नहीं होता। छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्र व विरोचन की कथा है। प्रजापति से आध्यात्मोपदेश का श्रवण कर विरोचन परामर्श न करने के कारण शांत होकर चले गए किन्तु इन्द्र ने मनन किया तो शंका उत्पन्न हुई। वे फिर प्रजापति के पास गए। फिर मनन किया। इस प्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान सका।[113] इसीलिए उपनिषदों में कहा गया है कि पहले गुरुमुख से शास्त्रों का अन्वेषण करें और फिर उसका मनन करें।[114]

यदि केवल श्रवण पर्याप्त होता तो 'अन्वेष्टव्य' के पश्चात् 'विजिज्ञासितव्य' कहने की आवश्यकता न होती। आचार्य शंकर ने 'अन्वेष्टव्य' का अर्थ किया है कि आत्मा को शास्त्र व आचार्यों के उपदेशों से जानना चाहिए तथा 'विजिज्ञासितव्य' का अर्थ किया है कि उस संवेद्य बनाना चाहिए। सुसंवेद्यता का यह आपादन ही परामर्श अथवा मनन कहलाता है।[115]

13. वीतराग पुरुषों की संगति

वीतराग पुरुषों की संगति कभी-कभी जीवन की दिशा को बदल देती है। अत्यन्त दुराचारी पुरुष भी वीतराग पुरुषों के सान्निध्य से तथा उनके वचनों को सुनकर सदाचारी होते देखे गये हैं। तस्कर और लुटेरा रत्नाकर ऋषि के रूप में परिवर्तित हो गया। अलर्क नाम का एक चाण्डाल महर्षि दत्तात्रेय के संग से योगी और तत्वज्ञानी हो गया।[116] अतः जिज्ञासु साधक को वीतराग पुरुषों का संग करना चाहिए। क्योंकि उनके चित्त की निर्मलता साधक के चित्त को भी निष्कलुष कर देती है।

14. कामचारित्व का त्याग

मन व्यक्ति को अपने दास के समान इधर-उधर भटकाता रहता है। उसको वश में करने के लिए कामचारित्व का त्याग आवश्यक है। अपनी कामनाओं पर नियन्त्रण रखे बिना राग द्वेषादि की निवृत्ति नहीं हो सकती। भर्तृहरि ने कहा है कि हे तृष्णे! तेरे कहने पर धन की इच्छा से पर्वतों को खोद डाला, समुद्रों की गहराई नाप डाली, अनेक दुष्ट राजाओं की भी सेवा की, किन्तु अब तक कुछ भी न मिला। अब तो पिण्ड छोड़ दे।[117]

कामचारित्व के कारण मनुष्य अनभीष्ट कृत्यों में प्रवृत होता है। बन्धन के भय से शुक पक्षी कामचार नहीं करता, उसी प्रकार साधक को बन्धन भय से

कामचारित्व का त्याग कर देना चाहिए।[118] महर्षि सौभरि एक मत्स्य के कारण अपना संचित तप नष्ट करके परिग्रही होकर घर बनाकर रहे।[119] अतः कामचारित्व का त्याग अनिवार्य है।

15. भोगवाञ्छा का त्याग

श्रेयस्कामी मनुष्य की आवश्यकताएँ अत्यल्प होनी चाहिएँ। अग्नि का एक स्फुल्लिंग जैसे बढ़कर समस्त अरण्य को भस्मसात् कर देता है, उसी प्रकार इच्छा के लेश को भी त्रैलोक्य की सम्पदा कम पड़ जाती है। यदि इस भोगवाञ्छा को प्रारम्भ में ही दुर्बल कर दिया जाए तो इसे बढ़ने का अवसर नहीं मिलेगा। जैसे घृत से अग्नि बढ़ती है, उसी प्रकार भोगेच्छाएँ उपभोग से वृद्धि को प्राप्त होती हैं।[120] आचार्य शंकर ने कहा है कि अंग गल जाएँ, केश पक जाएँ व दाँत गिर जाएँ फिर भी आशा पीछा नहीं छोड़ती।[121] अतः भोगवाञ्छा का त्याग करके साधना पथ पर अग्रसर होना चाहिए।

16. दोष दर्शन

साधक की प्रकृति दोष दर्शन की होनी चाहिए। यह शरीर मूत्र-पुरीष-अस्थि-मज्जादि अपवित्र वस्तुओं का संघात है। कामी पुरुष इनको सुख का हेतु समझते हैं। लालाक्लिन्न मुख, मांसपिण्ड रूप स्तन, मलपूरित नेत्र, मूत्र-पुरीष से जुगुप्सित गुप्तांग को कामी पुरुष चन्द्र और अमृत की उपमा देते हैं। इन अपवित्र वस्तुओं को अपवित्र समझकर ही इनसे विरस हुआ जा सकता है। राजा सौभरि पुत्र जन्म के कष्ट से विरत होकर अरण्य में चला गया।[122] भर्तृहरि जैसा कामी राजा पिंगला रानी के सौन्दर्यपाश से मुक्त होकर पूर्ण वैराग्यवान् हो गया।[123]

मलिन चित्त में तत्वोपदेश प्रभावहीन होता है।[124] अतः चित्त को निर्मल बनाने के लिए इस संसार को परिणाम, ताप और संस्कार दोष से दूषित समझना चाहिए।[125] तभी निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर होने में सफलता प्राप्त होगी।

17. कृतकृत्यता का त्याग

साधक को लक्ष्यसिद्धि से पूर्व अनेकानेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यदि साधक उनसे ही सन्तुष्ट हो जाता है तो वह कभी भी लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकेगा। अतः इन सिद्धियों को विघ्न समझकर इनसे बचना चाहिए। कुछ लोग इन सिद्धियों को प्राप्त करके ही कृतकृत्य अनुभव करते हैं किन्तु वे लक्ष्यच्युत होकर पतन की ओर उन्मुख होते हैं। अतः साधक को चाहिए कि लक्ष्य के प्राप्ति से पूर्व वह जिज्ञासु और मुमुक्षु बना रहे।[126]

18. गुरु सेवा

इस संसार सागर को पार करने के लिए गुरुचरण ही नौका के सदृश हैं।[127] गुरु के बिना परमेश्वर तक नहीं पहुँचा जा सकता। स्वयं इन्द्र देवराज होने पर भी प्रजापति के पास 32 वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर गुरु सेवा करने के पश्चात ही ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर सके थे।[128] अतः निःश्रेयस्कामी पुरुष का यह प्रथम कर्तव्य है कि गुरु की सेवा में प्रमाद न करे। गुरु प्रसन्न होकर अपनी समस्त विद्या को क्षण-भर में शिष्य में संक्रमित करने की योग्यता रखता है। अप्रसन्न गुरु के शाप के कारण कर्ण जैसा वीर योद्धा युद्धभूमि में अपनी समस्त विद्या को भूल गया। गुरु की महिमा को कबीर ने प्रभु से अधिक स्थान दिया है।[129] गुरु को साक्षात् ईश्वर कहा जाता है।[130] इसीलिए श्वेताश्वतरो० में कहा गया है कि जितनी श्रद्धा परमेश्वर में हो, उससे अधिक गुरु में होनी चाहिए क्योंकि गुरु सेवी के हृदय में ही अध्यात्म विद्या के तत्व प्रकाशित होते रहते हैं।[131]

19. प्रभु कृपा

प्रभु पर अटल श्रद्धा और विश्वास साधक को कभी भी हताश और निराश नहीं होने देती। जिसकी प्राप्ति के लिए प्रयास किया जा रहा है, जब तक उसकी कृपा नहीं होगी तब तक भला उस अगम, अगोचर को कौन पा सकता है ? अपने सात्विक कृत्यों से उस परमदेव को सदा प्रसन्न रखने का प्रयास करते रहना चाहिए। सम्पूर्ण समर्पणरूपी ईश्वर, प्राणिधान तथा प्रणव जप इसके साधन रूप में अपनाने चाहिएँ। परमात्मा की कृपा के बिना तो साधक का चित्त इस ओर उन्मुख हो ही नहीं सकता। उसकी कृपा से मूक वाचाल हो सकता है, पंगु गिरि को लांघ सकता है।[132] अतः प्रभु कृपा को अर्जित करने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि सिद्धि दाता तो वह परमेश्वर स्वयं ही है।

उपर्युक्त प्रकरण में संन्यासयोग के जिन उपायों का वर्णन किया गया है, उनकी सहायता से कोई भी साधक अपने उपादेय रूप संन्यासयोग के लक्ष्य को अवश्य ही प्राप्त कर लेगा। उत्तम साधकों के लिए तो अभ्यास और वैराग्य ही सर्वोत्तम उपाय है किन्तु उक्त उपायों की सम्मिलित साधना से नितान्त चंचल, असंयत और दूषित चित्त वाले पुरुष भी संन्यासयोग जैसे दुर्लभ योग को प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि संन्यासयोग भी साधक का लक्ष्य नहीं है अपितु वह भी एक उपाय ही है किन्तु संन्यासयोग स्वयं में इतना कठिन और कष्टसाध्य है कि वह स्वयं एक उपादेय बनकर रह गया है। उपर्युक्त उपायों में ही वह लभ्य हो सकता है।

भिक्षावृत्ति से संन्यासयोग की सिद्धि

उपनिषदों के अनुशीलन से यह बात स्पष्टतया देखने में आती है कि जहाँ-जहाँ संन्यासयोग की चर्चा की गई है, वहाँ-वहाँ भिक्षाचर्या का आचरण अनिवार्य रूप से कर्तव्य बताया गया है। उससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे भिक्षाचर्या संन्यासयोग का प्रधान अंग हो—भिक्षाचर्या चरन्ति[133] भैक्ष्यचर्या चरन्त[134] आदि।

यहाँ शंका होती है कि माँगना इच्छा है। संन्यासयोग में एषणा त्याग विहित है। अतः भिक्षाचर्या का भी निषेध होना चाहिए। यदि कर्तव्यों में भिक्षाचर्या को सम्मिलित किया जाए तो यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु, शिखा आदि को भी त्याज्य क्यों कहा गया ? यज्ञोपवीती को ही अध्ययन, यजन और याजन का अधिकार है।[135] वेद का त्याग करने से शूद्र हो जाते हैं, अतः संन्यासी के लिए भी वेदाध्ययन अनिवार्य है।[136]

समाधान—उपनिषदों में 'भिक्षाचर्या चरन्ति' केवल इतना नहीं कहा है, अपितु 'व्युत्थाम भिक्षाचर्या चरन्ति' कहा है। अर्थात् त्रिविध एषणाओं में सर्वथा रहित होकर भिक्षाचर्या करनी चाहिए। आश्रम संन्यास में भिक्षाचर्या एषणा सहित होती है किन्तु संन्यासयोग में जिस भिक्षावृत्ति का विधान है, वह एषणा-रहित होकर की जाती है। आचार्य शंकर ने कहा है कि एषणा व्युत्थान रूप संन्यास ही संन्यासयोग है, यही आत्मज्ञान का अंग है। क्योंकि यह आत्मज्ञान की विरोधिनी एषणाओं का परित्याग रूप है। इसका कारण यह है कि एषणाएँ अविद्यावानों का विषय है। इस संन्यासयोग से भिन्न आश्रमसंन्यास लौकिक फल की प्राप्ति का साधनभूत है। उसी के लिए स्वाध्याय, यज्ञोपवीतादि लिंग बताए हैं।[137]

लोकपरीक्षा से संन्यासयोग की सिद्धि

उपनिषदों में दो विधाएँ बताई गई हैं—अपरा और परा। अपरा विद्या का विषय ऋग्वेदादि शास्त्र तथा शास्त्रविहीत कर्म है। ये समस्त शास्त्र अविद्वानों के विषय हैं। ये विद्वान पुरुष कभी भी काम का अतिक्रमण नहीं कर सकते। इसलिए शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान से प्राणी दक्षिणमार्ग और उत्तरमार्ग से जाते हुए स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति करते हैं जो कि पुण्य क्षीण होने पर फिर मर्त्यलोक में लौटते हैं—क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति।[138] जा पुरुष शास्त्र प्रतिषिद्ध गर्हित कर्म करते हैं, वे नरक तिर्यक प्रेतादि योनियों को प्राप्त करते हैं। ऐसे अविद्यावान सकाम पुरुषों का अधिकार पराविद्या में नहीं होता। इसमें तो निर्वेदयुक्त ब्राह्मण का ही अधिकार होता है। पराविद्या ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पुरुष को

यह अवधारणा प्रदान करती है कि बुद्धि से लेकर स्थावर पर्यन्त जितने भी लोक हैं, वे सभी बीजांकुर के समान इतरेतर उत्पत्ति के निमित्त हैं अर्थात् कर्मों के लोक से और लोक से कर्म—-यही चक्र आकल्पान्त चलता रहता है। ये सभी लोकचक्र सहस्रों अनर्थों से संकुल हैं। कदली गर्भ के समान असार है। इसीलिए मुण्डकोपनिषद में कहा गया है कि विद्वान पुरुष इन सब लोकों की परीक्षा करके देख लें कि इस ब्रह्माण्ड में सभी लौकिक सुख कृत कर्मों से ही प्राप्त होते हैं।[139] और जो सुख कृतकर्मों से प्राप्त होते हैं वे नश्वर होते हैं, चाहे वे सत्यलोक, हिरण्यगर्भ लोक अथवा ब्रह्मलोक ही क्यों न हों।

कर्म चार प्रकार के बताए गए हैं—उत्पाद्य, प्राप्य, संस्कार्य और विकार्य। मोक्ष न उत्पाद्य है, क्योंकि वह नित्य है। न प्राप्य है, क्योंकि वह नित्य प्राप्त है। न संस्कार्य है, क्योंकि वह नित्य शुद्ध बुद्ध है और न ही विकार्य है क्योंकि वह अपरिणामी है। इसीलिए मोक्ष किसी लोक की कोटि में नहीं आता। वह लोक में रहकर प्राप्त तो किया जा सकता है किन्तु वह स्वयं अलोक है। मोक्ष की प्राप्ति भी औपचारिक ही समझनी चाहिए। क्योंकि कभी-कभी प्राप्त की प्राप्ति भी देखी जाती है। इसी को दशम न्याय कहते हैं।

संसार मे दो प्रकार के पुरुष होते हैं—लौकिक व परीक्षक। लौकिक पुरुष लोक को ही सब कुछ समझता है। वह लोक का परीक्षण नहीं करता। वह बालक की तरह ईष्टापूर्त को ही वरिष्ठ साधन समझता है।[140] किन्तु परीक्षक प्रत्येक वस्तु की परीक्षा करके ही स्वीकार करता है। लोकपरीक्षा उन्हीं का विषय है। ऐसे परीक्षकों को श्रुति में ब्राह्मण कहा गया है। लौकिक या अविद्यावान् पुरुष का सामर्थ्य लोकपरीक्षा में नहीं होता।

समीक्षा

शास्त्रीय परम्परा में दो प्रकार के संन्यास की चर्चा आती है—विद्वत् और विविदिषा। विद्वत् संन्यास उन प्रबुद्ध विद्वानों के लिए होता है, जो संन्यासयोग के रहस्य को और मोक्ष में उसकी उपादेयता को अच्छी प्रकार से जानकर इसमें प्रवृत होते हैं। इसे उत्कृष्ट संन्यास माना गया है। इससे अवर कोटि का विविदिषा संन्यास माना गया है। इसमें प्रवेश से पूर्व पुरुष को इसके महत्व एवं कर्तव्यों और फलों का ज्ञान नहीं होता। पहले-पहल पुरुष इसमें औत्सुक्य-निवृत्ति के लिए प्रवृत होता है। वह यह सोच कर इसे स्वीकार करता है कि देखें इसमें किस प्रकार का जीवन होता है? इसके पालन में क्या कठोरताएँ हैं? इसमें किन-किन कर्तव्यों का किस-किस उद्देश्य से पालन किया जाता है? एक बार प्रवृत होने के पश्चात पुरुष की रुचि ज्यों-ज्यों बढ़ती रहती है, त्यों त्यों वह

इसमें और अधिक अभिनिविष्ट होता जाता है अथवा वह इसके कठोर नियमों से उद्विग्न होकर इसे छोड़ देता है ।

उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के संन्यास का फल कुछ-न-कुछ कल्याण के रूप में ही उपलब्ध होता है । संसार के विषयों का आस्वाद ग्रहण करते हुए पुरुष की इन्द्रियाँ एक समय अवश्य ही अरुचिका अनुभव करती हैं । इन विषयों में इतना आकर्षण नहीं है कि ये आत्मा के निर्मल स्वरूप को सदा-सदा के लिए अभिभूत करके रख सकें किन्तु यह रहस्य भोगों को भोगने के पश्चात ही ज्ञात होता है । इसलिए संन्यासयोग में भोगों का पर्याप्त महत्व है । जैसा कि सांख्य का मत है कि प्रकृति सर्वप्रथम पुरुष को पर्याप्त मात्रा में विषयों का भोग कराती है और वही उनसे चित्त को उपरत करके मोक्ष प्रदान करती है। निष्कर्ष यह है कि चित्तवृत्ति भोगों से गुजरते हुए वैराग्य की सहायता से मोक्ष तक पहुँचती है । इसी कारण उपनिषदों में 'नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय' कहा गया है कि वैराग्य के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

संन्यास की उपादेयता को लौकिक या परीक्षक कोई भी पुरुष नकार नहीं सकता। साधारण-से-साधारण पुरुष भी यह जानता है कि छाया और माया का स्वभाव एक जैसा ही होता है । ज्यों-ज्यों पुरुष इनके पीछे भागता है, ये दूर होती जाती हैं किन्तु जब इनसे विमुख हो जाता है तो ये उसके पीछे दौड़ती हैं । संन्यास का दूसरा नाम वैराग्य भी है । वैराग्य का उदय होते ही समस्त क्लेश उसी प्रकार दूर भागते है जैसे सूर्य के उदय होते ही तम दूर भाग जाता है । भवबन्धन जैसा दृढ बन्धन भी इससे कट जाता है। इसके समक्ष अभिनिवेश (मृत्यु का भय) भी नहीं टिकता । परीक्षित का दृष्टान्त हमारे सम्मुख है । मुनि बालक के शाप से प्रेरित तक्षक के द्वारा अपनी मृत्यु को सुनकर पहले तो उसके प्राण सूखने लगे किन्तु शुकदेव जी के द्वारा तत्वज्ञान प्रदान करने पर उनका मृत्यु भय नष्ट हो गया और स्वयं तक्षक के सम्मुख हाथ कर दिया । अत: ऐसे भवबन्धन को शिथिल करने वाले तथा मृत्यु भय से मुक्त करने वाले संन्यास की उपादेयता में संशय का अवकाश कहाँ रह जाता है ?

यदि इस उपादेयता पर हम चारों वर्षों और चारों आश्रमों के परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो वर्णाश्रम व्यवस्था में भी इसकी उपयोगिता से इंकार नहीं किया जा सकता । चारों वर्ण यदि अपने दैनंदिन दायित्वों का पालन करें तो वह दायित्व त्याग में ही जाकर विश्राम लेता है । ब्राह्मण का मूल कर्तव्य पठन-पाठन, यजन-याजन और दान-आदान बताया गया है ।[141] इनमें से कोई कर्तव्य प्रवृति की ओर नहीं ले जाता । क्षत्रिय का जीवन दूसरों की रक्षा के लिए है । राजा दिलीप ने नन्दिनी की रक्षा हेतु स्वयं को सिंह के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया था । विक्रमादित्य सिंह से गौ की रक्षा हेतु सारी रात जागते रहे । महाराज शिवि ने

कपोत की रक्षा के लिए अपने शरीर का मांस बाज को प्रस्तुत कर दिया। अतः हम देखते हैं कि क्षत्रियों के कर्तव्यों का पर्यवसान भी वैराग्य में ही होता है। वैश्य का कर्तव्य पशुपालन तथा कृषि आदि द्वारा प्रजा का पालन करना है। शूद्र का कार्य त्रैवर्णिकों की निस्वार्थ सेवा है। यदि इन चार वर्णों के कर्तव्यों में से त्याग की भावना को निकाल दिया जाए तो स्वार्थान्धता और धनलोलुपता के अतिरिक्त इन वर्णों के आचरण का कोई अस्तित्व नहीं रह जाएगा।

आश्रम चतुष्ट्य के परिप्रेक्ष्य में संन्यासयोग की उपादेयता पर विचार करने पर हम देखते हैं कि ब्रह्मचारी और वानप्रस्थ तो संन्यास के निकट ही होते हैं। गृहस्थ के विषय में संशय होता है कि यह भोग का मार्ग कैसे निःश्रेयस तक पहुँचाता है? हम गार्हस्थ्य में रहते हुए इस तथ्य का अनुभव करते हैं कि सम्भोग के पश्चात भी विषयोपरति होती है। उस समय दिव्यांगनाओं का सौन्दर्य भी आकर्षणहीन लगने लगता है तथा सम्भोग सुख भी नितान्त तुच्छ प्रतीत होने लगता है। 'घोड़े बेचकर सोना' कहावत का रहस्य भी तभी समझ में आता है कि राग से विराग, प्रवृति से निवृति और भोग से विषयोपरति अधिक सुखदायिनी होती है। यही समय उस गृहस्थ के निजस्वरूप पहचानने का है। यदि गार्हस्थ्य सुखों के बीच-बीच में उठने वाले इस वैराग्य के स्पंदन की सत्यता को जानकर मोह के बन्धन को काटने का प्रयास किया जाएगा तो अन्त में एक दिन पूर्ण वैराग्य हो जाएगा। 'चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान्' इस कहावत का भी यही रहस्य है कि गृहस्थाश्रम में यदि एक चरण सांसारिक दायित्वों को निभाने का है तो दूसरा चरण गृहस्थ से छूटने का भी होना चाहिए। यदि दोनों चरण गृहस्थ में ही स्थिर करके जड़ीभूत कर दिए जाएँगे तो सर्वस्व का त्याग करते समय उन चरणों को गतिशील करने में बड़ी कठिनाई होगी।

संन्यासयोग से हिरण्यगर्भ लोक की प्राप्ति की जो चर्चा इस प्रकरण में की गई है, वह निरुद्देश्य नहीं है। संन्यासयोग यदि पूर्णता को प्राप्त न हो सके तो उसके अवान्तर फल के रूप में साधक को हिरण्यगभादि लोकों की प्राप्ति होती ही है। नितान्त अवरकोटि के संन्यासयोग से भी स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होना स्वाभाविक ही है। संन्यासयोग की पूर्णता का फल तो अशरीरत्व या निःश्रेयस की ही अधिगति है किन्तु अपूर्ण संन्यासयोग भी अनुपयोगी या निष्फल नहीं है। इसलिए वर्णचतुष्ट्य या आश्रम चतुष्ट्य में संन्यासयोग का अभ्यास करने वाले साधारण साधकों को भी भीत या निराश होने की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए हमने इस प्रसंग को यहाँ उठाया है। संन्यासयोग से अशरीरता की दिशा में अग्रसर होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हम लोक में भी प्रतिदिन इस सत्य को स्वीकार करते हैं। किसी समय धन की चोरी हो जाने पर साधारण गृहस्थों को बहुत कष्ट होता है किन्तु जब उसको यह समझा दिया जाता है कि

"धन तो हाथ का मैल है, इसका नाश अवश्यम्भावी है, न कुछ लेकर आए थे, न कुछ लेकर जाएँगे।" आदि तो यह सब समझने के बाद हम देखते हैं कि उसके धनापहरण का दुःख बहुत सीमा तक कम हो जाता है। इसी प्रकार प्रियजन की मृत्यु पर घर में बहुत शोक होता है किन्तु जब कोई वृद्ध पुरुष आत्मा की अमरता और देह की नश्वरता तथा भवितव्यता की अपरिहार्यता की भावना घर के सदस्यों के हृदय में बिठा देता है तो मृत्यु का दुःख अल्प हो जाता है। शरीर का अभिमान क्षीण होने लगता है। यह अशरीरता की प्रारम्भिकमवस्था है। निरन्तर अभ्यास और वैराग्य-भाव से जब देहाभिमान समूल नष्ट हो जाता है तो मनुष्य इसी देह में विदेहता की अनुभूति करने लगता है। इसमें कोई संशय या आश्चर्य की बात नहीं है।

उपर्युक्त अशरीरता की प्राप्ति सहसा नहीं हो जाती। यह अवस्था शनैः-शनैः आती है। यदि मनुष्य बुद्धिमत्ता के साथ-साथ उपायों का भी अभ्यास करे तो छुरे की धार पर भी क्षतरहित होकर चल सकता है तथा मत-मातंगों का भी दर्प दलित कर सकता है। कामक्रोधादि दोषों तथा विषयों को जीतना तो छुरे की तीक्ष्ण धार पर चलने से भी अधिक कठिन है। इस बात को भर्तृहरि भी स्वीकार करते हैं।[142] इसलिए हमने इस प्रकरण में संन्यासयोग की प्राप्ति के जिन उपायों का उल्लेख किया है, वे निश्चित ही साधक को संन्यासयोग की उत्कृष्ट भूमिकाओं पर पहुँचा सकते हैं। यह बात केवल तर्क या वाक्प्रपंच से सिद्ध करने की नहीं है अपितु इसे तो साधना के द्वारा ही साधक प्राप्त कर सकता है।

संदर्भ

1. श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
   अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ कठो० 1/26
2. क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति—गीता—9/21
3. शां० भा०, पृ० 15
4. न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः—कैवल्यो० 1/3
5. अविदुषापि मुमुक्षुणापारिव्राज्यं कर्तव्यमेव—
   ऐतरयो० (शां० भा० भूमिका)
6. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
   कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वं प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ गीता—3/5
7. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोको यं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंग: समाचार ।। गीता—3/9

8. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय ।
   अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ।। ऋ० 1/24/15
9. प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
   एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ।।
   मुण्डको० 1/2/7
10. निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
   अक्षीणं क्षीण कर्माणं तं देवा ब्राह्मण विदुः ।। छा०, पृ० 731
11. यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
   न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ।।
   तस्मादलिंगो धर्मज्ञो ब्रह्मवृत्तमनुव्रतम ।
   गूढ़ धर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ।।
   संदिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रमविवर्जितः ।
   अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ।। नारदपरिव्राजको० 4/34-36
12. तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याऽथ ब्राह्मणः । बृहदा० 3/5/1
13. मुण्डको० 1/2/12
14. तच्छ्रेयोरुपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति । बृहदा० 1/4/11
15. यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्माद् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच ।
   छा० 5/3/7
16. तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादु पासते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति । बृहदा० 1/4/11
17. क्षतात् किल त्रायत इत्युग्रह क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषुरुद्रः । रघुवंश सर्ग-2
18. अध्याकान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये
   रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति ।।
   अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
   पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ।। अभिज्ञान शाकु० द्वितीयोऽङ्कः
19. स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि···वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति । बृहदा०—1/4/12
20. अथर्ववेद--3/24/5
21. मा गृधः कस्यस्विदधनम् । ईशो०—1

22. तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ।।
प्रसन्नराघवम्—1
23. नहि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहारनिमित्तं दुखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहार निमित्तं दुःखं भवति ।—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 1/1/4
24. चतुर्थं एक जातिस्तु शूद्रः नास्ति तु पंचमः । मनु 10/4
25. अहं पुरातीत भवे भवं मुने दास्यास्तु कस्याश्चित् वेदवादिनाम् ।
निरुपितो बालक एव योगिनां शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ।।
श्रीमदभागवतपुराण 1/5/23
26. स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं ।
वै पूषेयं हीदं सर्व पुष्यति यदिदं किंच ।। बृहदा० 1/4/13
27. नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोपत्वानैष्ये । छा० 4/4/5
28. सत्यार्थप्रकाश—पंचम समुल्लास ।
29. स्त्रीशूद्रादयोऽपि ब्राह्मणेन ब्राह्मणस्योपदेशं श्रुत्वा कृतार्थाः स्युः ।
सां० प्र० भा०—4/2
30. अर्जुनार्थं श्रीकृष्णनेन तत्वोपदेशे क्रियमाणेऽपि समीपस्थस्य पिशाचस्य विवेक ज्ञानं जातम् । वही
31. वाक्यश्रवण मात्राच्च पिशाचकवदाप्नुयात् । नै० सिद्धि—2/3
32. पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि । सांख्यसूत्र—4/2
33. ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत गृहाद्वा वनाद् वा !
जाबालो० 4, परमहंसपरिव्राजको०
34. यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्—वही
35. न कालनियमो वामदेववत्—सां० सू० 4/20
36. तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहमनुरभवं सूर्यश्चेति ।
तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति ।
बृ० 1/4/10
37. सर्व समाप्नोषि ततोऽसि सर्वं—गीता 11/40
38. अपेत व्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः ।
ब्रह्मभूतश्चरन्तोके ब्रह्मचारी इति कथ्यते ।।
महा० (अश्वमेघ०) 26/16
39. तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यानात् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हितत् ।।
बृहदा० 4/4/21

40. श्रवणायापि बहुभिर्यो न लब्धः—कठो 2/7

41. तत्र ब्रह्मचारिणश्चतुर्विद्या भवन्ति—गायत्रो
ब्राह्मणः प्राजापात्यो बृहन्निति—आश्रमोपनिषद्

42. य उपनयनादूर्ध्वं त्रिरात्रमक्षारलवणाशी गायत्रीमन्त्रे स गायत्रः।
—आश्रमोपनिषद्

43. सत्यार्थ प्रकाश—तृत्रीय समु०

44. यो अष्टाचत्वारिशत् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत् प्रतिवेदं द्वादश वा यावद् ग्रहणान्तं वा वेदस्य स ब्राह्मणः—आश्रमोपनिषद्

45. सत्यार्थ प्रकाश—तृत्रीय समु०

46. स्वदारनिरत ऋतुकालाभिगामी सदा परदारवर्जी प्राजापत्यः—आश्रमो०

47. अथवा चतुर्विंशतिवर्षाणि गुरुकुलवासी ब्राह्मणोऽष्टा चत्वारिंशद् वर्षवासी च प्राजापत्यः। वही

48. आ प्रायणाद् गुरोरपरित्यागी नैष्ठिको वृहन्निति। आश्रमो०

49. तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन
दानेन तपसाऽनाशकेन, एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति।
वृहदा०—4/4/22

50. आनृत्युतो नैव मनोरक्षा नामन्तोऽस्ति विज्ञातनिदं मयाद्य।
मनोरथासक्ति परस्य चित्तं न जायते वै परमार्थ संगि।
विष्णुपुराण 4/2/47

51. न जातु: कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।। मनु०—2/94

52. त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।
प्रथमस्तप एव—छान्दो० 2/23/1

53. गृहस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति—वार्ताक वृतयः शालीनवृतयो यायावरा घोरसंन्यासिकक्षचेति—आश्रमो०

54. तत्र वार्ताकवृत्तय. कृषिगोरक्षवाणिज्यमगर्हितमुपयुंजानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते—वही

55. शालीनवृत्तयो यजन्तो न याजयन्तोऽधीयाना नाध्यापयन्तो ददतो न प्रति-गृह्णन्तः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते—वही।

56. यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽधीयाना अध्यापयन्तो ददतः प्रतिगृह्णन्तः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। आश्रमो०

57. घोरसंन्यासिका उद्धृतपरिपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्वन्तः प्रतिदिवसमाहृतो-छ्वृतिमुपयुजांनाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। वही

58. वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानात् व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।

अभिज्ञान शाकुन्तलम—2

59. प्रिया शून्यं सर्वं जगदिदमरण्यं हि भवति—उत्तर रामचरितम्

60. वानप्रस्थापि चतुर्विधा भवन्ति—वैखानसा उदुम्बरा बालखिल्याः फेनपाश्चेति—आश्रमो०

61. तत्र वैखानसा अकृष्टपच्योषधिवनस्पतिभिर्ग्राम बहिष्कृताभिरग्नि परिचरणं कृत्वा पंच महायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते।—वही

62. उदुम्बराः प्रातरुत्थाय यां दिशमभिप्रक्षन्ते तदाहृतोदुम्बरबदर नीवारश्यामाकैरग्निपरिचरणं कृत्वा पंचमहायज्ञ क्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते।
—वही

63. बालखिल्या जटाधराश्चीरचर्म वल्कल परिवृत्ताः कार्तिक्यां पौर्णमास्यां पुष्पफल मुत्सृजन्तः शेषानष्टौ मासान् वृत्युपार्जनं कृत्वाऽग्निपरिचरणं कृत्वा पंचमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते।—आश्रमो०

64. फेनपा उन्मत्तकाः शीर्णपर्णफल भोजिनो यत्र-यत वसन्तोऽग्निपरिचरणं कृत्वा पंचमहायज्ञ क्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। वही

65. न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। छान्दो० 8/12/1

66. अशरीरस्वभावस्थात्मनः तदेवाहं शरीरं शरीरमेव चाहमित्यविवेकात्म भावः सशरीरत्वम्—वही (शांकर भाष्य)

67. तं पुनर्देहाभिमानात् अशरीरस्वरूपविज्ञानेन निर्वर्तिताविवेकः ज्ञानमशरीरं सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः—वही (शांकर भाष्य)

68. तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्या चरन्तः।
सूर्यं द्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥
मुण्डको० 1/2/11

69. वही (शां० भा०)

70. वेदान्तविज्ञान सुनिश्चतार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥
वही 3/2/6

71. मुण्डको० (शांकर भाष्य)—वही

72. तपः स्वाश्रमविहितं कर्म श्रद्धा हिरण्यगर्भादि विषयाविद्या।
मुण्डको० 1/2/11 (शां० भा०)

73. ते च संन्यासयोगात्सर्वकर्म परित्यागलक्षणयोगात् केवल ब्रह्मनिष्ठास्वरूपाद्योगात्—मु० 3/2/6 (शां० भा०)

74. ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक एकोऽप्यनेकवत् दृश्यते प्राप्यते च—वही

75. शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य च।

पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानवतां गति ।।

मु० 3/2/6 (शां० भा०)

76. सत्यार्थप्रकाश—नवम् समु०
77. यावत्संसारस्थायी—मु० 1/2/11 (शां० भा०)
78. तदेषणाभ्यो व्युत्थानलक्षणं पारिव्राज्यं तदात्मज्ञानांगम् । आत्मज्ञान विरोध्येषणापरित्यागरूपत्वात् । अविद्या विषयत्वाच्चैषणायाः । तद् व्यतिरेकेण चास्त्याश्रमरूपं पारिव्राज्यं ब्रह्मलोकादिफल प्राप्तिसाधनं, यद्विषयं यज्ञोपवीतादिसाधनविधानं लिंग विधान चं ।

बृहदा० 3/5/1 (शां० भा०)

79. परीक्ष्यलोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।

मु० 1/2/12

80. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसोवाप्यलिंगात् ।

मु० 3/2/4

81. तपोऽत्र ज्ञानम् । लिंग संन्यासः । संन्यासरहिताज्ज्ञानान्न लभ्यत इत्यर्थः । एतैरुपायैर्बलाप्रमाद संन्यास ज्ञानैः यतते तत्परः सन्प्रयतते यस्तु विद्वान्विवेक्यात्मवित् तस्य विदुष एष आत्मा विशते संप्रविशति ब्रह्मधाम ।।

मु० 3/2/4 (शां० भा०)

82. बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य । बृहदा० 3/5/1
83. यद् विशेष परिज्ञानात् संन्याससहितात् पूर्वोक्तात् बन्धनाद् विमुच्यते ।

वही (शां० भा०)

84. अनेक जन्म संसिद्ध ततो याति परां गतिम् । गीता—6/45
85. चरक संहिता (शरीर स्थान) 4/4
    तैत्तिरीय आरण्यक—1/6/3
86. न त्वं शबरः राजपुत्रोऽसि ।—वही
87. करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान ।
    रसरी आवत जात से सिल पर परत निशान ।। रहीम
88. यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधि गच्छति ।
    तथा तथा वर्धते धीर्विज्ञानं चास्य रोचते ।। स्फुट
89. छांदोग्य—6/1
90. आवृतिरसकृदुपदेशात् । ब्रह्मसूत्र—4/1/1
91. आत्मनः पितृ पुत्राभ्यामनुमेयौ भवात्यौ । सां० प्र० भा०—4/4
92. सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनोऽन्ये निरामिषाः ।
    तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ।। भागवत 11/9/2
93. मनु० 6/78

94. तद्यथा अहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत एवमेवेदं शरीरं शेते। बृहदा० 4/4/7

95. अहिनिर्ल्वयनी वायं मुक्त देहस्तु तिष्ठति—आत्मो० 17

96. अहिनिर्ल्वयनी सर्पनिर्मोको जीववर्जितः।
वल्मीके पतितस्तिष्ठते तं सर्पो नाभिमन्यते ॥ वाराहो० 2/67

97. (क) असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत्। सांख्यसूत्र 4/8
(ख) चपलं चपले तस्मिन्दूरगं दूरगामिनी।
आसीच्चेतः समासक्तं तस्मिन्हरिण पोतके ॥ विष्णुपुराण 2/13/30
(ग) भागवतपुराण—5/9-10

98. एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयो अधिगच्छति ॥ भागवत्

99. यतिभिस्त्रिभिरेकत्र द्वाभ्यां पञ्चभिरेव वा।
न स्थातव्यं कदाचित्स्यात् तिष्ठन्तो नाशमाप्नुयुः ॥
बहुत्वं यत्र भिक्षुणां वार्तास्तत्र विचित्रकाः।
स्नेह पैशुन्य मात्सर्यं भिक्षुणां नृपतेरपि ॥ बृहद्पराशरस्मृति—12/135

100. बहूनां कलहे नित्यं द्वयोः संकथनं ध्रुवम्।
एकाकी विचरिष्यामि कुमारी शंखको यथा ॥ महा० शांति० 178/13

101. वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि।
एक एव चरेत् तस्मात्कुमार्या इव कंकणः ॥ भागवत् 11/9/10

102. आशा बलवती राजन् नैराश्यं परमं सुखम्।
आशां निराशाकृत्वा तु सुखं स्वपिति पिंगला ॥ महा० शा० प० 178/8

103. आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुस्वाप पिंगला ॥ भागवत् 11/8/44

104. चित्तस्य सत्वप्राधान्येन स्वाभाविकं यत्सुखमाशयापिहितं तिष्ठति तदेवाशा-विगमे लब्धवृत्तिकं भवति तेजः प्रतिबद्ध जलशैत्यवदिति, न तत्र साधनापेक्षा। सांख्यप्रवचन भाष्य—4/11

105. को छूट्यो इहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहै, त्यों-त्यों उरझत जात ॥ बिहारी

106. गृहारम्भो हि दुःखाय न सुखाय कथंचन।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥ महा० शां० पर्व० 178/10

107. गृहारम्भोऽति दुःखाय विफलश्च ध्रुवात्मनः।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥ भागवत—11/9/15

108. अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुण्येभ्यः इव षट्पदः ॥ भागवत् 11/8/10

109. सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत्स्वार्थसाधकम् ।
ज्ञानानां बहुता यैषा योग विघ्नकरी हि सा ।।
इदं ज्ञेयं इदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत् ।
असौ कल्प सहस्रेषु नैव ज्ञानमवाप्नुयात् ।। मार्क० पु० 41/18-19

110. तदैवमात्मन्यवरुद्ध चित्तो न वेद किंचिद् बहिरन्तरं वा ।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तमिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ।।
भागवत्—11/9/13

111. इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानि । सांख्यसूत्र—4/14

112. तद्विस्मरणेऽपि भेकी । सांख्यसूत्र—4/16

113. छान्दोग्योपनिषद्—8/8

114. सोऽन्वेष्टव्य: स विजिज्ञासितव्य: । वही—8/7/1

115. सोऽन्वेष्टव्य: शास्त्राचार्योपदेशैर्ज्ञातव्य: स विशेषेण ज्ञातुमेष्टव्यो विजि-ज्ञासितव्य: स्वसंवेद्यतामापादयितव्य: ।
छान्दो० 8/7/1 (शां० भा०)

116. मार्कण्डेय पुराण—38/43

117. उत्खातंनिधिशंकया···तृष्णेऽधुनामुञ्च माम्—वै० शतक-4

118. यथाशुकपक्षी प्रकृष्टरूप इति कृत्वा कामचारं न करोति रूप लोलुबैर्बन्धन-भयात् तद्वत्—सां० प्रव० भार०—4/25

119. स मे समाधिर्जलवासमित्र मत्स्यस्य संगात् सहसैव नष्टा: ।
परिग्रह: संगकृतो ममायं परिग्रहोत्थाश्च महाविधित्सा: ।।
विष्णुपुराण—4/2/48

120. न जातु: काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।। ममु०—2/94

121. अंग गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातंतुण्डम् वृद्धो
याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुन्चत्याशा पिण्डम् ।।
शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी

122. विष्णु पुराण—4/2/49

123. धिक तां च तं च मदनं च इमां च मां च—वैरा० श०

124. मलिनो हि यथादर्शोरूपालोकस्य न क्षम: ।
तथा विकलकरण आत्मा ज्ञानस्य न क्षम: ।। याज्ञ० स्मृति 3/141

125. परिणामतापसंस्कारदु:खैर्गुणवृतिविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिन: ।
योगसूत्र 2/15

126. न भूति योगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवत्—सां० सूत्र 4/32

127. अपारसंसारसमुद्रमध्ये सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति ।

गुरोः कृपालो कृपया वदैतत् विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका ।।

शंकर प्रश्नोत्तरी

128. तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि—छा० 8/7/3

129. गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पायं ।
बलिहारी गुरु आपकी जिन्ह गोविन्द दिए बताए । कबीर

130. गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् पारब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः । स्फुट

131. यस्यदेवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।। श्वे० 6/23

132. मूकं करोति वाचालं पंगु लंघयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ।। भागवत्

133. बृहदा 3/5/1, 4/4/22

134. मुण्डक—1/2/11

135. यज्ञोपवीत्येवाधीयीत याजयेद्यजेत वा—बृहदा० 3/5/1 (शां० भा०)

136. वेद संन्यसनाच्छूद्रस्तस्माद् वेदं न संन्यसेत् ।। वही

137. विज्ञानसमान कर्तृकात्पारिव्राज्यादेषणा व्युत्थानलक्षणात् पारिव्राज्यान्त-रोपपत्तेः । यद्धि तदेषणाभ्यो व्युत्थानलक्षणं पारिव्राज्यं तदात्मज्ञानांगम् । आत्मज्ञानविरोध्येषणापरित्याग रूपत्वात । अविद्यारूपत्वाच्चैषणायाः । तद्व्यतिरेकेण चास्त्याश्रमरूपं पारिव्राज्यं ब्रह्मलोकादिफल प्राप्ति साधनं यविषयं यज्ञोपवीतादि साधनविधान लिंगविधान च ।

—बृहदा० 3/5/1 (शां० भा०)

138. गीता—9/21

139. परीक्ष्यलोकोन्कर्मचितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।। मु० 1/2/12

140. इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।

मुण्डको० 1/2/10

141. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।। मनु०—1/88

142. मत्तेभ कुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचंड मृगराज वधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ।। श्रृंगारशतक

8
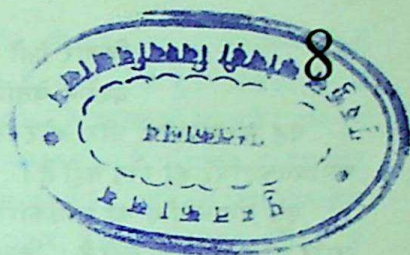
उपसंहार एवं निष्कर्ष

भारतीय दर्शनशास्त्रों में जहाँ योग की विभिन्न पद्धतियों पर प्रचुरता से विवेचन एवं पर्यालोचन प्रस्तुत किया गया है, वहाँ संन्यासयोग को उपेक्षित-सा ही छोड़ दिया गया है। यद्यपि यत्र-तत्र प्रसंगवश निःश्रेयस् के साधन के रूप में संन्यासयोग को वरीयता प्रदान की गई है किन्तु संन्यास को संन्यासयोग समझकर उसका सर्वांगीण युक्तियुक्त प्रतिष्ठापन नहीं हो पाया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिसे लोग संन्यास कहते हैं, वह वस्तुतः कर्मसंन्यास नहीं अपितु एक विशिष्ट योग है।[1] जब हम संन्यास को योग समझकर विचार करते हैं तभी गीता के इस वचन का रहस्य समझ में आता है कि कर्म संन्यास और कर्मयोग में से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है।[2] अस्तु, संन्यास एक योग है। इसमें कोई संशय या बुद्धि विपर्यय योग जिज्ञासुओं को नहीं होना चाहिए।

संन्यासयोग क्या है? इस विषय में हमारा सर्वतोविलक्षण किन्तु शास्त्र-सम्मत मत यह है कि कर्म करते हुए, भोग भोगते हुए और जीवन को भरपूर जीते हुए किसी प्रकार की एषणाओं से आबद्ध न होना ही संन्यासयोग है। यद्यपि यह दुष्कर-सा लगता है किन्तु कोई भी योग सुकर है कहाँ? संन्यास तो योग शिरोमणि है। उसकी दुष्करता तो होनी ही चाहिए। यह वह योग है जिसका पालन भरत ने किया था और जिसका अभ्यास जनक ने राजपद पर अभिषिक्त रहकर किया था। हम उस संन्यास की बात नहीं कह रहे हैं, जिसका अभ्यास वशिष्ठ और विश्वामित्र ने अरण्य में रहकर किया था। हम उस संन्यास की बात भी नहीं कर रहे हैं जो गृह-पुत्र-कलत्रादि को छोड़कर अरण्य में जाकर कठोर तपश्चर्या से शरीर को सुखाकर किया जाता है। हम उस संन्यास की बात कर रहे हैं, जिसके लिए कालीदास कहते हैं :

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते ।
येषां न चेतांसि त एव धीराः ।।[3]

यह संन्यासयोग धीर और वीर पुरुषों का आचरण है। यह भीरु और पलायनकर्ताओं का योग नहीं है।

इस संन्यासयोग का अधिकारी चारों वर्णों में से कोई भी हो सकता है। जाति का बन्धन यहाँ नहीं है। किन्तु योग्यता का बन्धन अवश्य है। निष्कर्ष रूप में योग्यता यही है कि उसमें त्रिविध एषणाओं को त्यागने की कठोर भावना जागरित हो जाए। विषयों को भोगते हुए भी जब वैराग्य बुद्धि मन में स्थान जमाने लगे, तभी से इसका अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिए। ब्राह्मण हो या शूद्र, ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ, व्रात्य हो या सदाचारी—इसमें किसी भी अवस्था विशेष का बन्धन नहीं है।

संन्यास में दीक्षा लेने का विधान भी शास्त्रों में किया है। सामान्य वैराग्य में दीक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं है किन्तु इस मार्ग पर पूर्णरूप से आरुढ़ होने के लिए दीक्षा की आवश्यकता अवश्य होती है। दीक्षागुरु अपने अन्तःचक्षु से और अपनी अन्तर्भावना से संन्यासयोग के पथ को किसी मात्रा तक निरापद कर देता है किन्तु संन्यास की दीक्षा देने व लेने की योग्यता सभी में नहीं होती। योग-भूमियों पर आरुढ़ पूर्ण वीतराग संन्यासी ही दीक्षा देने के अधिकारी हो सकते हैं और दृढ़व्रती शिष्य ही उस दीक्षा को ग्रहण करने के अधिकारी होते हैं।

संन्यासी के कर्तव्य भी अन्य योगियों से नितान्त विलक्षण होने चाहिएं। कर्तव्यों की विलक्षणता ही संन्यासयोग की विलक्षणता है। ये कठोर भी हैं और कोमल भी। भोगवाञ्छा का बीज अंकुरित हो-होकर यदि साधक को बीच-बीच में विचलित करने लगे तो इस योग के आचार कठोर प्रतीत होते हैं किन्तु यदि विषय-वैतृष्ण्य रूप वैराग्य की छत्र साधक के ऊपर मण्डित होता है तो फिर संन्यासयोग का आचार सरल प्रतीत होता है।

दीक्षा और कर्तव्य का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः दीक्षा से पहले और दीक्षा के पश्चात कुछ अवश्य करणीय कर्तव्य हैं, जिनके बिना न तो दीक्षा का उद्देश्य पूर्ण होता है और न ही उन कर्तव्यों का कोई महत्व रह जाता है। दीक्षा से पहले व्रत की आवश्यकता है और दीक्षा के पश्चात श्रद्धा की आवश्यकता होती है। वेद में कहा है कि दीक्षा के लिए शिष्य के हृदय में दृढ़ संकल्प का होना अति अनिवार्य है। इसी को व्रत कहा जाता है। दीक्षा के पश्चात शिष्य के हृदय में ही दक्षिणा अर्थात् औदार्य एवं श्रद्धातिरेक का उदय होता है। यह श्रद्धा अपने दीक्षा गुरु के द्वारा बताए हुए कर्तव्यों में अटूट विश्वास के रूप में उत्पन्न होती है।[4] वही श्रद्धा संन्यासयोग के कठोरतम कर्तव्यों को भी सरल बना देती है।

किन्तु यह तभी सम्भव है, जब दीक्षागुरुऔर दीक्षित होने वाला शिष्य दोनों उसके योग्य अधिकारी हों। तन्त्र चूड़ामणि में कहा गया है कि उत्तम कुल में उत्पन्न समस्त विद्याओं का अधिकारी और मन्त्रों के रहस्य को समझने वाला गुरु ही दीक्षा देने में समर्थ होता है।[5] योग्य शिष्य वह होता है जिसका मानस शुद्ध हो, जो दृढ़व्रत, सदाचारी, श्रद्धा-भक्ति समन्वित, कृतज्ञ, आस्तिक और दानशील हो।[6] जो पाखण्डी धूर्त, पण्डिताभिमानी हीनांग या अधिकांग मनुष्य होते हैं, वे कुशिष्य कहलाते हैं। जो सदैव मार्जारवृति से गुरु के छिद्रान्वेषण में लगे रहते हैं, ऐसे दुष्ट शिष्य दीक्षा प्राप्त करने के अधिकारी नहीं होते।[7]

दीक्षा और कर्तव्य के पश्चात् भावना भी संन्यासयोगी के लिए परम उपकारिणी है। नितान्त मलिन और व्युत्थित चित्त भी भावना के रस से सिंचित होकर निर्दुष्ट और योग के योग्य हो जाता है। जिस प्रकार कौंच के बीज अत्यन्त विषैले होते हैं किन्तु आयुर्वेदीय विधि से दुग्ध, घृत अथवा किसी अम्ल रस में भावित होकर अत्यन्त पौष्टिक हो जाते हैं। इसीलिए वैराग्य-भाव को पुष्ट करने वाले तत्वों की भावना करने से निष्कलुष हुआ चित्त संन्यासयोग के मार्ग पर निर्बाध गति से चलता रहता है।

शास्त्राभ्यास में अरति, अध्यात्म में रति, देह में अनास्था, बाह्याचार में अश्रद्धा, सम्मान से उद्विग्नता, औदासीन्य तथा जगत में आत्म-भावना करने से संन्यासयोग की बाधाएँ और विभिन्न योगान्तराय शनैः-शनैः हटते जाते हैं। यह भावना संन्यासयोगी को माता के समान सदैव रक्षित करती है। भावना से हमारा अभिप्राय यह है कि संन्यासयोगी केवल एकतानचित्त से उन्हीं योगोपयोगी तत्वों का सोते-जागते, चलते-फिरते, उठते-बैठते, प्रत्येक क्षण मन में चिन्तन करे, जो वैराग्य-भाव को दृढ़ करें क्योंकि संन्यासयोग कोई ऐसी शारीरिक क्रिया नहीं है, जिसके निरन्तर अभ्यास से एक दिन पूर्ण योगी हो जाए। यह तो विशुद्ध चित्त का एक धर्म है, जिसकी साधना केवल चित्त ही कर सकता है। बाह्य साधना इस योग के किंचिन्मात्र सहायक तो हो सकते हैं, किन्तु पूर्णरूप से उन्हीं पर आश्रित नहीं रहा जा सकता। चित्त को तो भावना का अंकुश ही रोक सकता है। प्रायः देखा गया है कि देहक्लेशकारक अत्यन्त उग्र तप करते हुए, पत्र-पुष्प-फल-जल-वायु का भक्षण करते हुए आसन-प्राणायाम तथा शोधन क्रियाएँ (धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक व कपालभाति) करते हुए भी चित्त बाह्य विषयों की आँधी से एक दिन विक्लव होकर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है। इसलिए दैहिक क्रियाएँ और आहार शुद्धि का ध्यान रखते हुए भी संन्यासयोगी भावना को ही अपना अवलम्ब बनाएँ।

संन्यासयोग के उपर्युक्त तत्वों का आचारण करते हुए पर्याप्त सावधानियाँ रखते हुए भी यह सहसा सिद्ध नहीं होता। इसके लिए कभी-कभी अनेक जन्म और

अनेक कल्प तक लग जाते हैं। कृष्ण कहते हैं कि अनेक जन्मों में निरन्तर साधना करते हुए योग सिद्ध होता है। किन्तु यहाँ यह विश्वास अवश्य रखना चाहिए कि योग की दिशा में बढ़ाया हुआ एक कदम भी व्यर्थ नहीं जाता। योगभ्रष्ट की गति भी उत्तम लोकों में बताई गई है। इसीलिए साधना की मन्दता, तीव्रता व अधिमात्रता के भेद से योगियों के विभिन्न भेद हो जाते हैं। उन भेदों को जान लेना भी आवश्यक है।

संन्यासधारण की मूल भावना को दृष्टि में रखकर सन्यासयोगी चार प्रकार के माने गए हैं—वैराग्य संन्यासी, ज्ञान संन्यासी, ज्ञानवैराग्य संन्यासी और कर्म संन्यासी। संन्यास की उत्कृष्टता और मन्दता के भेद से संन्यासी के छह भेद माने गए हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत। संन्यासयोगियों के इस वर्गीकरण से किसी की हीनता या उत्तमता को जानकर उनमें श्रद्धा या अश्रद्धा का भाव नहीं रखना चाहिए। यह तो साधना का एक क्रम बताया गया है, जिसका लक्ष्य यही है कि साधक योग के उत्तरोत्तर सोपानों को पार करता रहे और अन्त में पूर्ण संन्यासयोग के शिखर पर आरुढ़ हो जाए।

यदि संन्यासयोग की उपयोगिता और उसके फलाफल पर विचार न किया जाए तो उक्त विवेचन व्यर्थ हो जाएगा। यह मानव सुलभ स्वभाव है कि किसी प्रयोजन अथवा लक्ष्य निर्धारण के बिना मन्दबुद्धि भी किसी कार्य में प्रवृत नहीं होता। इसलिए संन्यासयोग का प्रयोजन संन्यासयोग के आचरण से पहले अवश्य ही जान लेना चाहिए। पूर्ण संन्यासयोग का एक ही गंतव्य है—निःश्रेयस्। किन्तु जब तक योग पूर्ण नहीं होता अथवा साधक का पूर्णता की स्थिति से पूर्व ही देहपात हो जाता है, उतनी अवस्था की भी उच्च स्थिति मानी गई है। उस अपूर्ण योग से उत्तम कुल में अथवा किसी योगी के घर में पुत्र बनकर जन्म लेना अथवा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति आदि फल की उपलब्धि होती है। वस्तुतः योगी ही इस पृथ्वी के वास्तविक शृंगार होते हैं। भोगवाद से जहाँ समाज, राष्ट्र और विश्व में कलह, असंतोष, दारिद्रय और व्याधियों का उदय होता है, वहाँ संन्यास-योगी इस लोक को अपने आचरण से पवित्र, निर्वैर और समरस बनाता है। अतः संन्यासयोग लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

इस संन्यासयोग की सिद्धि यद्यपि अत्यन्त कठिन है फिर भी तत्वोपदेश, निरन्तर अभ्यास, वैराग्य, अपरिग्रह, सर्वैषणा त्याग, वीतराग पुरुषों का संग तथा सामान्य लोगों से असम्पृक्त होना, गुरु सेवा, प्रभु कृपा आदि तत्वों के आचरण से इसमें सफलता प्राप्त की जा सकती है। यह निर्विवाद रूप से सर्वोत्तम योग है जो निःश्रेयस् के लक्ष्य को प्राप्त कराने में समर्थ है। किन्तु लौकिक जीवन में भी इसकी उपादेयता आवश्यक रूप से स्वीकारणीय है।

यदि विचार कर देखा जाए तो प्रत्येक विचारशील पुरुष इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि त्याग भावना केवल निःश्रेयस् के लिए नहीं अपितु जीवन के प्रत्येक उद्देश्य के लिए अवश्य ही कल्याणकारी है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि सभी मनुष्य सुख चाहते हैं और अभिनिवेश सब प्राणियों में व्याप्त है किन्तु अपने सुख के लिए जब हम दूसरों के सुख को छीनेंगे तो यह सुख की ओर न जाकर दुःख की ओर ले जाएगा क्योंकि बिना किसी की हिंसा किए कभी किसी को सुख प्राप्त नहीं होता। भौतिक साधनों की अपनी सीमा होती है। जब अनेक भोक्ता उन साधनों का उपभोग करेंगे तो निश्चित ही वे अल्प पड़ जाएँगे। जब हम अधिक सुख चाहते हैं तो हम निश्चित ही दूसरों का अधिकार छीनते हैं। यह एक प्रकार की हिंसा ही है। इसलिए वेद को यह आदेश देना पड़ा कि किसी अन्य के धन का ग्रहण मत करो।

मनुष्य की आयु शतवर्ष परिमित है। इस आयु में सशक्त इन्द्रियों से ही लौकिक सुखों का उपभोग किया जा सकता है। जब तक इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं, जब तक वार्द्धक्य दूर है, जब तक व्याधियाँ इन्द्रियों का तेज हरण नहीं करतीं, तभी तक सांसारिक सुख अच्छे लगते हैं किन्तु यह भी एक कठोर सत्य है कि इन्द्रियाँ और शरीर सदैव किसी का साथ नहीं देते। मृत्यु सबका अन्त करती है। वार्द्धक्य सबको अपने साथ लेकर जाता है। अनिच्छा से भी हमें सब भोगसाधन छोड़ने पड़ते हैं। इतने कठोर सत्य के जागरूक होते हुए भी जो मनुष्य इस देह, इन्द्रियों, भोग और भोग साधनों में आसक्त रहता है, वह निश्चित ही अविवेकी है। अतः त्याग-भावना को अपने हृदय में स्थान देकर जब मनुष्य सुखों का भोग करेगा तो अन्त समय में उनको छोड़ते हुए शोक का अनुभव नहीं करेगा। अतः वासनासक्त भोगी गृहस्थों के लिए भी संन्यासभावना अत्यन्त कल्याणकारिणी है। इसीलिए भर्तृहरि कहते हैं कि जब तक यह शरीर स्वस्थ है, वार्द्धक्य दूर है, इन्द्रियों की शक्ति अप्रतिहत है और आयु का क्षय नहीं होता, तभी तक मनुष्य को आत्मज्ञान के लिए प्रयास करना चाहिए। अन्यथा जब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाएँगी और मृत्यु का निमन्त्रण आएगा. उस समय आत्मश्रेय का कोई भी प्रयास उसी प्रकार विफल होगा जिस प्रकार घर में आग लग जाने पर कूप खनन का प्रयास करना व्यर्थ होता है।[8]

यह संसार निश्चित रूप से एक कर्मक्षेत्र है और इसमें कर्मकुशल व्यक्ति ही सुख प्राप्त कर सकता है। अकुशल खिलाड़ी जैसे प्रतियोगिता में पराजित होकर लज्जित होता है, वैसे ही अकुशलकर्मी भी इस संसार से हाथ मलता हुआ रिक्त-हस्त ही लौटेगा। श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के लिए यहाँ पृथक-पृथक कर्म नियत हैं। सबके लिए सब कुछ करणीय नहीं है। इनमें से अपने लिए उचित कर्मों का चयन करना प्रत्येक बुद्धिमान का कर्तव्य है।[9] तथा उस कर्म का

चयन करके उसमें कुशलता प्राप्त करना भी उसका दायित्व है।

'योग: कर्मसु कौशलम्'[10] का अर्थ भी यही है—आसक्ति छोड़कर कर्मों का करना। 'कुशल' शब्द का अर्थ भी यही है कि हाथों को घायल किए बिना कुशाओं को लाने वाला। अकुशल व्यक्ति अपने हाथों को कुशा की तीखी नोक से घायल कर लेता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति कर्म करता हुआ कर्म के वश में हो जाए और अपने स्वतन्त्र भाव को भुला दे और कर्मों में आसक्त होकर उनके वश में हो जाए, वह अकुशल कर्ता है।

संसार यात्रा में इस आत्मा के वस्त्र पर दाग लगाए बिना जो इस यात्रा को पूरी कर ले, वही कुशल यात्री है। इसीलिए कबीरदास ने कहा है कि मैंने इस चादर को बहुत ही यत्नपूर्वक ओढ़ा है, जिससे यह मैली नहीं हो सकी।[11] इस प्रकार जीवन यात्रा के प्रत्येक क्षण में संन्यासभावना पथिक को बेदाग, निर्मल और निष्कलुष रखती है।

संदर्भ

1. यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
   न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन। गीता 6/2
2. संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
   तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ गीता 5/2
3. कुमारसम्भवम्—पंचम सर्ग
4. व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
   दीक्षया श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ यजु० 19/30
5. कुलीनः सर्वविद्यानामधिकारीति गीयते।
   दीक्षाप्रभु स एवात्र सर्वमन्त्रस्य नापरः ॥ ताराभक्तिसुधार्णव, पृ० 7
6. दृढ़व्रतं सदाचार श्रद्धाभक्तिसमन्वितम्।
   कृतज्ञं पापभीतञ्च साधुसज्जन सम्मतम्। वही, पृ० 12
7. हीनाधिकविकारांगं विकलावयवान्वितम्।
   पंगुमन्धं च बधिरं मलिनं व्याधिपीडितम् ॥ वही, पृ० 13
8. यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा।
   यावच्च इन्द्रिय शक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयोनायुषः।
   आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्।
   संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥ वैराग्यशतक—79
9. नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
   शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेद कर्मणः ॥ गीता 3/8
10. गीता—2/50
11. दास कबीर जतन सौं ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया। कबीर

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. ऋग्वेद संहिता
2. यजुर्वेद संहिता
3. अथर्ववेद संहिता
4. ईशोपनिषद्
5. कठोपनिषद्
6. केनोपनिषद्
7. प्रश्नोपनिषद्
8. मुण्डकोपनिषद्
9. माण्डूक्योपनिषद्
10. ऐतरेयोपनिषद्
11. तैत्तिरीयोपनिषद्
12. बृहदारण्यकोपनिषद्
13. छान्दोग्योपनिषद्
14. श्वेताश्वतरोपनिषद्
15. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
16. कैवल्योपनिषद्
17. जाबालोपनिषद्
18. हंसोपनिषद्
19. आरुणिकोपनिषद्
20. परमहंसोपनिषद्
21. ब्रह्मोपनिषद्
22. अमृतनादोपनिषद्
23. मैत्रायण्युपनिषद्
24. कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्
25. बृहज्जाबालोपनिषद्
26. मैत्रेय्युपनिषद्

27. तेजोबिन्दूपनिषद्
28. नादबिन्दूपनिषद्
29. ध्यानबिन्दूपनिषद्
30. योगतत्वोपनिषद्
31. नारद परिव्राजकोपनिषद्
32. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्
33. योगचूड़ामण्युपनिषद्
34. भिक्षुकोपनिषद्
35. योगशिखोपनिषद्
36. तुरीयातीतोपनिषद्
37. संन्यासोपनिषद्—प्रथम
38. संन्यासोपनिषद्—द्वितीय
39. परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्
40. कुण्डिकोपनिषद्
41. आत्मोपनिषद्
42. अवधूतोपनिषद्
43. कठरुद्रोपनिषद्
44. भावनोपनिषद्
45. भस्मजाबालोपनिषद्
46. रुद्राक्षजाबालोपनिषद्
47. जाबालदर्शनोपनिषद्
48. याज्ञवल्क्योपनिषद्
49. वराहोपनिषद्
50. शाटयायनीयोपनिषद्
51. जाबाल्युपनिषद्
52. आश्रमोपनिषद्
53. योगशिखोपनिषद्
54. मुक्तिकोपनिषद्
55. आरुणिकोपनिषद्
56. महानारायणोपनिषद्
57. उपनिषद संग्रह—सं० जगदीश शास्त्री, प्र० मोतीलाल बनारसीदास
58. एकादशोपनिषद्—डा० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार
59. ईशादिदशोपनिषद् (शांकर भाष्य) प्र० मोतीलाल बनारसी दास
60. ईशादि नौ उपनिषद्—प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर

61. उपनिषदों का तत्वज्ञान—डा० जयदेव वेदालंकार
62. मनुस्मृति—सं० सुरेन्द्र कुमार, आर्ष सा० प्र० ट्रस्ट
63. याज्ञवल्क्यस्मृति
64. वृहत् पाराशरस्मृति
65. कल्याण (उपनिषद् अंक)
66. सर्वदर्शन संग्रह—माधवाचार्य
67. न्यायसूत्र—गौतम
68. वैशेषिक सूत्र—कणाद
69. सांख्य सूत्र—कपिल
70. योगसूत्र-—पतंजलि
71. मीमांसा सूत्र—जैमिनी
72. ब्रह्म सूत्र—व्यास
73. न्यायसूत्र—वात्स्यायन भाष्य
74. वैशेषिक सूत्र—प्रशस्तपाद भाष्य
75. सांख्यकारिका—ईश्वर कृष्ण
76. सांख्य प्रवचन भाष्य—विज्ञानभिक्षु
77. पूर्वमीमांसा—शाबरभाष्य
78. योगसूत्र—व्यास भाष्य
79. ब्रह्मसूत्र—शांकर भाष्य
80. तत्ववैशारदी—वाचस्पति मिश्र
81. योगवार्तिक—विज्ञानभिक्षु
82. अर्थ संग्रह—लौगाक्षि भास्कर
83. नैष्कर्म्यसिद्ध—सुरेश्वराचार्य
84. विज्ञानदीपिका—पद्मपादाचार्य
85. आलवन्दार स्तोत्र—यामुनाचार्य
86. मीमांसा न्याय प्रकाश—आपदेव
87. न्यायवार्तिक—उद्योतकर
88. न्यायसार—भासर्वज्ञ
89. न्याय कन्दली—श्रीधराचार्य
90. पातंजल योग प्रदीप—स्वामी ओमानन्द तीर्थ
91. पदार्थ धर्म संग्रह—प्रशस्तपाद
92. योग सूत्र—स्वामी ब्रह्ममुनि
93. कल्याण (योगांक)
94. निरुक्त—यास्क

95. विवेक चूड़ामणि—शंकराचार्य
96. शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी
97. वैखानस धर्मसूत्र
98. बोधायन धर्मसूत्र
99. आपस्तम्ब धर्मसूत्र
100. शांखायन श्रौतसूत्र
101. अष्टाध्यायी—पाणिनी
102. नारद भक्तिसूत्र
103. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र
104. महाभाष्य—पतंजलि
105. महाभारत—व्यास
106. श्रीमद्भगवद्गीता—व्यास
107. श्रीमद्भागवतपुराण
108. मार्कण्डेय पुराण
109. अग्निपुराण
110. कूर्मपुराण
111. लिंगपुराण
112. स्कन्दपुराण
113. शिवपुराण
114. ब्रह्माण्डपुराण
115. मत्स्यपुराण
116. ऐतरेय ब्राह्मण
117. शतपथ ब्राह्मण
118. मालिनी विजयवार्तिक—अभिनव गुप्त
119. तन्त्रालोक—अभिनव गुप्त
120. तन्त्रसार—अभिनव गुप्त
121. आगमसार—अभिनव गुप्त
122. परमार्थ सार—अभिनव गुप्त
123. योगवसिष्ठ
124. कुलार्णवतन्त्र
125. गौतमीय तन्त्र
126. शारदातिलक—लक्ष्मणदेशिकेन्द्र
127. तन्त्रवार्तिक—कुमारिल भट्ट
128. तन्त्रालोक विवेक—जयरथ

129. बोधसार—नरहरि स्वामी
130. द्वात्रिंशिका—उपाध्याय यशोविजय
131. तत्वार्थ सूत्र—उमास्वामी
132. योगशास्त्र—हेमचन्द्र सूरि
133. ताराभक्ति सुधार्णव—पंचानन चट्टाचार्य
134. भोज प्रबन्ध—बल्लाल
135. शिव संहिता
136. हठयोग प्रदीपिका—स्वात्माराम योगीन्द्र
137. भावना विवेक—मण्डन मिश्र
138. अमरकोश—अमरसिंह
139. चरक संहिता—चरक
140. रघुवंशम्—कालिदास
141. कुमार संभवम्—कालिदास
142. अभिज्ञान शाकुन्तलम्—कालिदास
143. शिवराज विजयम्—अम्बिकादत्त व्यास
144. प्रसन्न राघवम्—जयदेव
145. कादम्बरी—वाणभट्ट
146. उत्तररामचरितम्—भवभूति
147. नैषधीय चरितम्—श्रीहर्ष
148. विदुर नीति— विदुर
149. शृंगार शतकम्—भर्तृहरि
150. वैराग्य शतकम्—भर्तृहरि
151. नीति शतकम्—भर्तृहरि
152. प्राचीन चरित्र कोश—सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव
153. योगी कथामृत—परमहंस योगानन्द
154. भक्तिसार—स्वामीचरण दास
155. साकेत—मैथिलीशरण गुप्त
156. रामचरित मानस—तुलसीदास
157. योगसूत्र—आचार्य रजनीश
158. संभोग से समाधि—आचार्य रजनीश
169. सिद्धान्त लेश संग्रह—अप्पय दीक्षित
160. भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय
161. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास—भीखनलाल आत्रेय
162. भारतीय दर्शन की समस्याएँ—डा० जयदेव वेदालंकार

163. वैदिक दर्शन—डा० जयदेव वेदालंकार
164. गोरखनाथ और उनका युग—डा० रांगेय राघव
165. धर्मशास्त्र का इतिहास—पी० पी० काणे
166. दयानन्द ग्रन्थमाला—भाग प्रथम व द्वितीय
167. सत्यार्थ प्रकाश—स्वामी दयानन्द
168. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका—स्वामी दयानन्द
169. संस्कारविधि—स्वामी दयानन्द
170. राजयोग—स्वामी विवेकानन्द
171. विवेकानन्द चरित—सत्येन्द्रनाथ मजूमदार
172. विवेकानन्द साहित्य (खण्ड तृतीय, चतुर्थ व पंचम)
173. श्री अरविन्द : अपने विषय में—प्र० अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी
174. वेदान्त सिद्धान्त सूक्ति मंजरी
175. विवरण प्रमेय संग्रह—विद्यारण्य मुनि
176. रस-तरंगिणी—सदानन्द शर्मा
177. Mysterious Kundalini—Dr. Rele.
178. Indian philosophy—Dr. S. RadhaKrishnan.

□□

लेखक परिचय

ग्रन्थकार डॉ० ईश्वर भारद्वाज का जन्म दिल्ली प्रान्त के नजफगढ़ क्षेत्र के ग्राम शिकारपुर (ओमनगर) में 4 जुलाई, 1955 को हुआ। इनके पिता पं० हीरालाल भारद्वाज प्रसिद्ध समाजसेवी, मिलनसार एवं दयालु स्वभाव के परोपकारी वृत्ति के व्यक्ति है। पितृव्य पं० अतरसिंह ने बाल्यकाल से गीता, रामायण, श्रीमद्भागवत पुराण आदि धर्म-ग्रंथों के प्रति रुचि जागृत की तथा परायण कराया। प्रपितामह पं० दलेराम द्वारा हस्तलिखित गीता के श्लोकों का ब्रजभाषा के दोहों में अनुवाद पढ़कर गीता के प्रति जो भाव 10 वर्ष की आयु में प्रकट हुआ था, वह उक्त धार्मिक एवं आध्यात्मिक परिवेश पाकर निरंतर वृद्धि प्राप्त करता गया और दार्शनिक पृष्ठभूमि दृढ़ होती गई। फलस्वरूप उक्त ग्रन्थ का प्रणयन हुआ।

रा० उ० मा० विद्यालय दौलतपुर से उच्चतर माध्यमिक अध्ययनोपरान्त दिल्ली विश्वविद्यालय से बी० ए० आनर्स व एम० ए० (हिन्दी) उपाधि प्राप्त की। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान दिल्ली से शास्त्री, सम्पूर्णानन्द वि० वि० वाराणसी से आचार्य (साहित्य) तथा गुरुकुल कांगड़ी वि० वि० से एम० ए० (दर्शन) करने के पश्चात् दर्शन शास्त्र में ही गुरुकुल कांगड़ी वि० वि० से उपनिषदों में संन्यासयोग विषय पर पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त की।

1982 में अपर्णा आश्रम मानतलाई से योगाभ्यास का प्रारम्भ हुआ। व्यक्तिगत साधना एवं अध्ययन-मनन के फलस्वरूप योग में गहन रुचि हुई। 1984 से गुरुकुल कांगड़ी वि० वि० में योग विभाग की स्थापना हुई। तभी से विभाग की उन्नति के लिए प्रयासरत हैं। डिप्लोमा, स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं का अध्यापन कार्य कर रहे हैं। योग के क्षेत्र में प्रामाणिक विद्वान के रूप में उत्तर भारत में जाने जाते हैं।

प्रकाशित पुस्तक—औपनिषदिक अध्यात्म विज्ञान।

LATEST PUBLICATIONS

Author	Title	Price
Arora, G.S.	Indian Emigration	300.00
Balan, K.	Gandhiji An Immortal Institution	80.00
Basak, K.	Rabindranath Tagore : A Humanist	300.00
Bhattacharyya, M.	Disabilities Developed by Students in Algebraic Equations : An Investigation	185.00
Goyal, S.K.	Agricultural Prices & its Impact on The Indian Economy	110.00
George, M.	Fertilizer Consumption & Agrieultural Development in a Developing Economy	180.00
Hasnat, M.A.	Role of Nationalised Banks in The Development of Small Scale Industries	200.00
Hansra, B.S.	Video in Rural Development	150.00
Hansra, B.S.	Social, Economic and Political Implications of Green Revolution in India	180.00
Ibrahim. P.	Fisheries Development in India	200.00
Jain, J.L.	Shraman aur Shraman Sanskiti Bharat Ke Baahar (Hindi)	155.00
Kaur, Harjit	Taxation and Development Finance in India	200.00
Kawal, D.R.	Herbert Marcuse aur Unke Kranti Ka Siddhanta (Hindi)	230.00
Mishra, K.	American Leftist Playwrights of the 1930's	170.00
Mangat, G.S.	Indian National Army	250.00
Mullens, J.	The Religious Aspects of Hindu Philosophy	300.00
Ojha, H.	The Origin of Achievement Motivation	180.00
Pandey, N.N.	Perspective in Physics Education : A Piagetian Approach	175.00
Prasad, L.G.	Religion, Morality and Politics According to Mahatma Gandhi	180.00
Prabhavathi, V.	Perceptions Motivations and Performance of Women Legislators	265.00
Sinha, U.P.	Socio-Economic Dimensions of Integrated Development in India	220.00
Sharma. S.C.	Pandit Ravishankar Shukla : Life and Times	250.00
Tyagi, M.S.	Aadhunik Europe : Ek Jhalak (Hindi)	250.00
Sharma, G.C.	Bharat Ka Aarthik Vikas Evem Suraksha Utpadan (Hindi)	210.00
Simhadri, Y.C.	Denotified Tribes : A Sociological Analysis	165.00
Singh, N.K.	Jim Corbett : Portrait of An Artist	170.00
Sharma, M.V.R.	Harmony Restored : Studies in Shakespeare	200.00
Shstri, V.P.	Patanjal Yog Vimersh (Hindi)	250.00
Sahay, B.K.	State Supervision Over Municipal Administration	200.00
Sharma. K.R.	Educational Life Style of Tribal Students	210.00
Shambhunath	Bhartiya Krantikari Andolan 1914-1931	165.00

CLASSICAL PUBLISHING COMPANY

28, Shopping Centre, Karampura,
New Delhi-110015.